शास्त्र विज्ञान ग्रंथमाला—२

व्यंजना और नवीन कविता

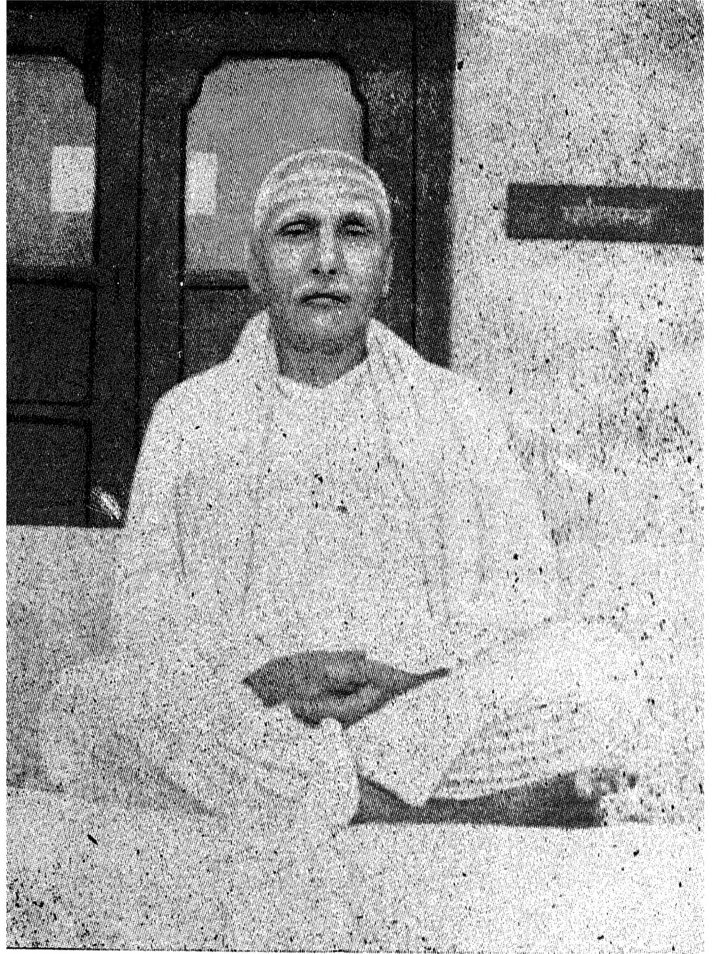
लेखक

साहित्याचार्य पं० राममूर्ति त्रिपाठी, एम० ए० साहित्यरत्न



नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

प्रकाशक—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मुद्रक—महताब राय, नागरी मुद्रण, काशी
प्रथम संस्करण १६००, सं० २०१४
मूल्य ५)



कवितार्किक चक्रवर्ती पं० महादेव शास्त्री साहित्य व्याकरणाचार्य
जिनको प्रस्तुत तुच्छ कृति समर्पित है।

कवि

तार्किक चक्रवर्ती

पं० श्री महादेव शास्त्री

जी को सादर

समर्पित

दो शब्द

पं० राममूर्ति त्रिपाठी साहित्याचार्य एम० ए० संस्कृत के बहुत योग्य और होनहार विद्वान हैं। इन्होंने प्राचीन परिपाटी से संस्कृत के प्रसिद्ध शास्त्रीय ग्रंथों का भी अध्ययन किया है और आधुनिक पद्धति से साहित्य शास्त्र का अध्ययन और मनन भी किया है। सन् १९५६ ई० में इन्होंने हिंदी एम० ए० की परीक्षा दी थी और इनका स्थान प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण परीक्षार्थियों में प्रथम था। उसी परीक्षा के लिये इन्होंने प्रस्तुत प्रबंध लिखा था। परीक्षकों ने इसे बहुत पसंद किया था मुझे प्रसन्नता है कि अब वह प्रबन्ध पुस्तक रूप में प्रकाशित होकर बृहत्तर सहृदय-समाज के सामने उपस्थित हो रहा है। इसका विषय बहुत पुराना है पर उसकी विवेचना का उनका ढंग नया है। नवीन कविता के अध्ययन में प्राचीन आचार्यों की विवेचन पद्धति का किस प्रकार उपयोग हो सकता है, इस बात को त्रिपाठीजी ने बहुत साफ और सुलझे ढंग से समझाया है।

इस पुस्तक के प्रथम खंड में व्यञ्जना वृत्ति के स्वरूप और उसके व्यापक प्रसार को स्पष्ट किया गया है और दूसरे खण्ड में उसके व्यवहार पक्ष को समझाने का प्रयत्न है। त्रिपाठीजी के इस ग्रंथ में उनके गाढ़ अध्ययन का प्रमाण उपलब्ध होगा। यद्यपि यह उनकी प्रथम रचना है फिर भी इसमें प्रौढ़ता है। मेरा विश्वास है कि सहृदय पाठक इसका हार्दिक स्वागत करेंगे। परमात्मा त्रिपाठीजी को दीर्घायु और उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करें, जिससे वे साहित्य की नित्य अभिवृद्धि करते रहें।

काशी
?७-६-५७

हजारी प्रसाद द्विवेदी
अध्यक्ष—हिंदी विभाग
का० हिं० वि० वि०

प्रस्तावना

मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज की आधारशिला या मूल-भित्ति है मर्यादा एवं व्यवस्था। यही कारण है कि मानव, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यवस्था लाना और देखना चाहता है। जीवन का सर्वतः प्रमुख क्षेत्र है—"अध्ययन", क्योंकि यही सारे जीवन की नींव है, अतः यहाँ व्यवस्था अपनी चरम सीमा में अपेक्षित है। जहाँ तक हिंदी साहित्य के नवीन मोड़ से जीवन के तथाकथित क्षेत्र का संबंध है—उसके लिए स्थिर व्यवस्था अभी "साध्य" की कोटि में है। बात यह है कि इसकी भावयित्री एवं कारयित्री प्रतिभाएँ परंपरा प्राप्त "शब्द-प्रमाण" की व्यवस्थित भारतीय पद्धति की अवहेलना तो कर रही हैं, उपजीव्य साहित्य की प्रकृति को भी पूर्णतः आत्मसात् करने में दत्तावधान नहीं है और विभिन्न संस्कृतियों की क्वचित् जीर्ण-शीर्ण एवं क्वचित् अपरिपक्व विचारों को अनपची एवं कृत्रिम पद्धति से साहित्य को अंधाधुंध राशीभूत करती हुई चली जा रही हैं। साहित्य के आलोचनात्मक पक्ष की बात छोड़ें, जहाँ तक उसके रचनात्मक पक्ष की बात है, अध्येताओं को जितनी कठिनाइयाँ प्रतीत होती हैं, उसका एक मात्र मूल कारण है—निश्चित दशा और स्थिर व्यवस्था का अभाव। इसी अभाव के निराकरण में जो कुछ सूक्ष्म भारतीय साहित्य के सूत्र हैं, प्रस्तुत निबंध उन्हीं को पकड़ने का प्रयास है।

संप्रति, हिंदी साहित्य की धारा पूर्णतः पश्चिमाभिमुख हो चुकी है। और पश्चिमाभिमुख होने के कारण उपजीव्य की स्वभावगत लाक्षणिक चपलता का प्रतिफलन हिंदी की नवीन कविता में होना अनिवार्य है। "चपलता" का मर्यादा या व्यवस्था से सहज विरोध है। यह चपलता भी जब बेढंगे अनुकृत हो, तो कहना ही क्या! इससे दुर्निवार्य विरूपता उत्पन्न होती है। इस चपलता एवं विरूपता की निवृत्ति के लिए यह आवश्यक है, कि उसे साहित्य शास्त्र की सुविचारित मर्यादा एवं व्यवस्था दी जाय, जिसके फलस्वरूप नवीन कविता की प्रगति एवं अवगति दोनों व्यवस्थित हो जायँ। सैकड़ों वर्ष पूर्व भारतीय साहित्य शास्त्रकारों ने

भी काव्य में "लाक्षणिकता" को उपास्य घोषित कर दिया था, शुद्ध शास्त्रकार उसे जघन्य वृत्ति कहते ही रह गए। भोजराज ने "शृंगार प्रकाश" में शब्द-शक्तियों की चर्चा करते हुए लिखा है—

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणामता ।
सैषाविदग्धवक्रोक्तिजीवितं वृत्तिरुच्यते ।

अर्थात् काव्य की आत्मा यद्यपि विदग्धों की वक्रोक्ति है, तथापि लक्षणा इस आत्मा की भी आत्मा है। तात्पर्य यह कि लक्षणा को यहाँ भी काव्य की दृष्टि से अत्यधिक उपादेय माना गया है, पर उसमें तथा-कथित चपलता नहीं है। "इस लक्षणा" शक्ति के अतिरिक्त काव्य के क्षेत्र में कहीं इससे बढ़ चढ़कर भाषा की जो शक्ति है, वह है—"व्यंजना"। आज की "वाद" ग्रस्त नवीन कविता जिस "अतिरिक्त" अर्थ को काव्य में अत्यावश्यक मानती है, आत्मस्थानीय मानती है, उसकी प्राप्ति में यही शक्ति कार्य करती है। "वाद" प्रवण साहित्य उत्तरोत्तर शब्दों से प्राप्त होने वाले सूक्ष्म संकेतों की ओर बढ़ता ही जा रहा है। आज के मान्य आलोचक रिचार्ड्स एवं उनके पट्टशिष्य एम्पसन "न्यूएंस" तथा "एम्बिग्विटी" की जो महत्ता प्रतिष्ठित करते जा रहे हैं, वह किसी से तिरोहित नहीं है। ख्यातनामा इलियट के संकेतों को कितने लोग ग्रहण कर पाते हैं ? इन इंगित अर्थों के समानांतर अपने यहाँ "ध्वनि" की प्रतिष्ठा है पर उसकी "गूढ़ता" यहाँ हेय-कोटि में परिगणित है। उक्त दोनों शक्तियों की अमर्यादित एवं अतिरेकी प्रवृत्ति ही आधुनिक कविता में सारी परेशानियों का मूल है, भारतीय साहित्य शास्त्र उसे मर्यादित करता है। सारांश यह कि नवीन कविता की भाषा जिस अतिरिक्त अर्थोपयोगी शक्तियों-लक्षणा एवं व्यंजना-से समृद्ध है, यदि हमें नवीन कविता की आत्मा पकड़ती है, तो उसका परिज्ञान, नितांत आवश्यक है। अर्थ की प्राप्ति में शब्द-शक्तियों की जो व्यवस्थित प्रक्रिया भारतीय साहित्यशास्त्र एवं अन्य शास्त्रों में मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। भावोत्तेजक भाषा (इमोटिव लैंग्वेज) के कार्य पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रिचार्ड्स भी विचार कर रहे हैं, पर उक्त सौविध्य एवं सौंदर्य सर्व सामान्य को इनसे प्राप्त होना दुष्कर है। प्रस्तुत प्रबंध में शब्द-शक्तियों की इसी व्यवस्थित प्रक्रिया की चर्चा है।

उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस निबंध के दो भाग किए गए हैं—

पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में व्यंजना के सिद्धांत पक्ष तथा उत्तरार्द्ध में प्रयोग पक्ष की यथाशक्ति चर्चा है हिंदी में 'व्यंजना' के उक्त उभय-विध पक्षों पर साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल, पं० रामदहिन मिश्र, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० नगेन्द्र एवं कन्हैयालाल पोद्दार आदि ने तथा भाषाविज्ञान के क्षेत्र में श्री कपिल देव द्विवेदी आदि ने कार्य अवश्य किया है, तथापि भारतीय शास्त्रों में 'व्यंजना' का जो विशाल कार्य निरूपण है, उसक एक कोना भी अभी प्रकट नहीं हो पाया है। शास्त्रों के कोने-कोने में व्यंजना से संबद्ध जो विचारप्रस्तुत किए गए हैं (१) लेखक ने उन्हें यथाशक्ति संक्षेप में संकलित करने का प्रयत्न किया है। इस संकलन में जहां तक मौलिकता की बात है विभिन्न मतों के संग्रह के बाद (२) उनकी तारतमिक समीक्षा (३) तथा अन्यतम की संग्राह्यता पर भी क्षोद-क्षेम पूर्वक विचार किया गया है। शाब्दी' व्यंजना पर काल-क्रम से जो धारा-प्रवाह विचार आजतक होता आया है, उसका उपस्थापन, समीक्षण एवं मौलिक समर्थन भी जोड़ा गया है। साहित्यशास्त्रमें व्यंजना का विचार जिस अभिनिवेश के साथ 'निषेध मुखेन' किया गया, उतना विधिमुखेन नहीं। शायद इसका कारण उसकी अनिर्वचनीयता रही हो। अनिर्वचनीय का निरूपण नेति-नेति के ही द्वारा हो सकता है। लेखन ने निषेध मुखी विचार के साथ विधि-मुखी विचारों को भी इधर-उधर टटोला है और जो कुछ प्राप्त हुआ उसके आधार पर कुछ नवीन विचार भी प्रस्तुत किए।

सिद्धांत पक्ष में पौरस्त्य साहित्य शास्त्र के अतिरिक्त पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में भी जो व्यंजना के समानांतर या संबद्ध विचार मिल सके 'हैं' या हो सकते हैं, उन्हें भी पूर्वतः नवीन ढंग पर समीक्षणपूर्वक निबद्ध किया गया है। डा० नगेन्द्र ने यद्यपि इस पक्ष पर कुछ विचार प्रस्तुत किए हैं, पर प्रस्तुत प्रयास उनसे भिन्न पद्धति पर अधिक व्यापकता, विस्तार एवं गहराई को ध्यान में रखकर किया गया है। यत्र-यत्र प्रसंग वश बिम्बार्थ विचार, भावना-कल्पना-प्रतिभा तथा व्यंजना की एकता और अनेकता पर भी कुछ मौलिक चिंतन उपस्थित किए गए हैं।

निबंध का उत्तरार्द्ध है—प्रयोग पक्ष। इस प्रकरण में नवीन कविता के कुछ प्रतिष्ठित कवियों की गिनी-चुनी रचनाओं में उक्त सैद्धांतिक

प्रक्रिया का संगमन किया गया है। 'व्यंजना' अपनी प्राचीन पद्धति तथा नवीन पद्धति से किस प्रकार बढ़ती जा रही है—इसका दिग्दर्शन कराया गया है। उदाहरणों के प्रसंग में कहीं-कहीं अन्यदीय उदाहरणों का खंडन भी किया गया है। जोर इस बात पर दिया गया है कि 'व्यंजना' आज किस प्रकार अपने पुराने ढांचे को न छोड़ती हुई नवीन व्यंजना प्रयोगों तथा 'वादों' के माध्यम से उत्तरोत्तर अपनी कुक्षि विस्तृत करती चली जा रही है। यद्यपि इस पक्ष का और भी विस्तारपूर्वक विवरण उपस्थित करना अभीप्सित था, तथापि प्रबंध-कलेवर के वृद्धि-भय ने वैसा करने से हमें रोक दिया।

प्रस्तुत प्रबंध गुरुवर्य आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में संपन्न हो पाया है। दुरंत कांतार जैसे संस्कृत वाङ्मय की जटिल भाषा में निबद्ध जटिल विचार कभी भी इतना सुलझ कर न आ पाते, यदि आचार्य जी ने प्रस्तुत प्रबंध को पुनः पुनः सुनकर, स्वयं देखकर एवं संशोधन तथा समीक्षण कर मुझे बार बार भाषा और विचार को समुचित संतुलन तथा सहज गति देने की ओर प्रेरित न किया होता। प्रस्तुत शोधकार्य में सफल होना स्वप्न की ही बात होती, यदि प्राचीन ज्ञान को नई पद्धति से उतारने का ज्ञानालोक आपने विकीर्ण न किया होता। मान्यवर्य के इस असामान्य निर्देशन का चिरकृतज्ञ हूं

अथ, श्रद्धेयवर्य कवितार्किक चक्रवर्ती पं० महादेव शास्त्री जी का मैं सादर स्मरण करता हूं, जिन्होंने मेरे लिए संस्कृत वाङ्मय के द्वार का अनावरण किया, जिनके विचार-शाण पर सतत संघृष्ट होकर हमारी बुद्धि में वह अलोक उत्पन्न हो सका, जिसके फलस्वरूप मैं संस्कृत-रत्नाकर के बहुमूल्य रत्नों का साक्षात्कारपूर्वक उपयोग कर सका।

पश्चिमी साहित्य शास्त्र के मर्मज्ञ डा० रामअवध द्विवेदी की अतुलनीय सहायता स्मृति में चिरकाल तक संरक्षित रहने वाली वस्तु है। 'पश्चिमी साहित्य शास्त्र एवं व्यंजना' शीर्षक प्रबंध गत वह अध्याय, जिसका सूत्रपात करना मेरे लिए कठिन था, आपकी ही सहायता से परिपूर्ण हो पाया। इस प्रकार की निःस्पृह सहायता और कृपा आज के युग में आदर्श की वस्तु है।

श्रद्धेय पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्रजी की प्रस्तुत कृति में अत्यंत अपेक्षित पुस्तक, तर्कपूर्ण परामर्श एवं सुझाव संबंधी सहायता सदैव स्मरणीय

रहेंगी। मान्यवर्य डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा का आवश्यक परामर्श प्रोत्साहन तथा पुस्तक संबंधी उपकार चेतन मस्तिष्क पर इस प्रकार सदैव छाए रहने की वस्तु है कि जीवन की विभिन्न चिंताओं के उमड़ जाने पर भी अचेतन मस्तिष्क में वह नहीं फेंकी जा सकती। माननीय डा० श्रीकृष्णलाल जी ने ग्रीष्म कालीन विभिन्न व्यस्तताओं के बावजूद भी जो पाण्डु लिपि के सुनने एवं सुधारने में हस्तावलंब प्रदान किया है, वह एक श्लाघ्य वस्तु है। अंत में भाई रामनरेश वर्मा जी के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने पाण्डुलिपि को प्रायः आद्योपांत देखकर कुछ ग्राह्य सत्परामर्श दिये हैं।

विषय-सूची

(क) पौरस्त्य साहित्यशास्त्र एवं व्यंजना—

प्रथम परिच्छेद

पूर्वार्द्ध-सिद्धान्त पक्ष—

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

चातुर्थ परिच्छेद

पंचम परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद

लक्षणामूल व्यञ्जना—

सप्तम परिच्छेद

(ख) पाश्चात्य साहित्य शास्त्र एवं व्यञ्जना—

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

व्यंजना और नवीन कविता

प्रथम परिच्छेद

शक्ति के संबंध में भारतीय दार्शनिकों की दो प्रकार की धारणायें हैं। एक दल[1] (वैशेषिक) ऐसा है जो यह मानता है कि सृष्टि के लिये जिन मूल पदार्थों की कल्पना की गई है, शक्ति उनसे पृथक् कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है, जब कि दूसरा दल (मीमांसक प्रभृति) सृष्टि के मूल तत्वों के बीच एक शक्ति[2] नामक पदार्थ की पृथक् सत्ता स्वीकार करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि नैयायिक विद्वान् कार्यमात्र के लिये कारण से पृथक्, कारण में रहनेवाली किसी अतिरिक्त शक्ति नामक तत्व की सत्ता स्वीकार नहीं करते, जबकि मीमांसक इत्यादि कार्य के उत्पादक कारण में उससे पृथक् तत्व की सत्ता स्वीकार कर उसे 'शक्ति' संज्ञा प्रदान करते हैं। दोनों अपने-अपने पक्ष की पुष्टि में तर्क उपस्थित करते हैं। मीमांसकों का कहना यह है कि दाहात्मक कार्य में केवल अग्नि कारण नहीं है, उसके अतिरिक्त उसकी एक दाहानुकूल शक्ति भी है। वस्तुतः उसी के साथ दाह का अन्वय-व्यतिरेक है। यह स्पष्टतः अनुभव सिद्ध भी है। भारतीय विश्वास है कि जब अग्नि के साथ मंत्र या मणि का योग रहता है, तो उसकी दाहिका शक्ति मारी जाती है। और पुनः जब हम उसकी उत्तेजक सामग्री लाते हैं, तो वह प्रतिबद्ध शक्ति जग उठती है, इस प्रकार दाह कार्य संपन्न होता है। इससे स्पष्ट है कि शक्ति-रहित अग्नि दाह कार्य नहीं कर सकती। दाह के लिये अग्नि के साथ उसमें शक्ति की सत्ता स्वकीर करनी ही होगी।

इसके विपरीत नैयायिक मनीषियों का विचार है कि कार्य के लिये कारण से अतिरिक्त किसी तत्व की अपेक्षा नहीं है, किंतु किसी भी कार्य के कारण-कलाप में कार्य के प्रतिबंधक तत्व का अभाव भी एक स्मरणीय सामग्री है।

१—सृष्टि के मूल सात पदार्थ हैं—द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, अभाव, विशेष, शक्ति इनसे पृथक् कुछ नहीं है। [कारिका०]

२—"एतेन बीजादिष्वङ्कुरजनन शक्ति कल्पना व्याख्याता"

—१।७।५ शास्त्रदीपिका

इसी तत्व पर ध्यान न देने का परिणाम है कि अन्य लोगों को प्रमेय तत्वों में एक अतिरिक्त पदार्थ (शक्ति) भी जोड़ना पड़ता है । जिस स्थल को लक्ष्य बनाकर मीमांसक शक्ति की कल्पना में तत्पर होते हैं, उसी स्थल की व्याख्या ये दूसरे ढंग से करते हैं इनका कहना यह है कि दाह के लिये अग्नि मात्र ही नहीं कारण है, बल्कि अग्नि के कार्य (दाह) में जो प्रतिबंधक-मंत्र या मणि इत्यादि हैं, उनका अभाव भी । अग्नि अपना कार्य करे, इसके पूर्व यह अपेक्षित है कि उसके पथ के रोड़े उठाये जायँ । अतः जहाँ इनका योग है, वहाँ शक्ति का नाश कार्य के न होने में कारण बताना उचित नहीं किंतु कारण-कलाप की अपूर्णता (प्रतिबंधकाभावरूप कारण का न होना) ही कारण है । इस प्रकार एक नवीन पदार्थ की अनावश्यक कल्पना के बिना भी जब सांसारिक व्यवहारों की साधार प्रतिष्ठा हो जाती है तो निरर्थक ही एक अतिरिक्त पदार्थ की कल्पना कर शास्त्र को बृहद् आकार क्यों दिया जाय ? न्याय कुसुमांजलि में इस विषय की पर्याप्त चर्चा मिलती है ।

संप्रति इस संबंध में आलंकारिकों का भी विचार देखना उचित है । यद्यपि इस विषय में इन लोगों ने स्पष्टतः तो कहीं विचार नहीं किया है परंतु रसगंगाधर[1] में एक स्थान पर पंडितराज की धारणा का इंगित मिलता है । पंतिराज आलंकारिकों के एकमान्य प्रतिनिधि हैं उस इंगित से यह स्पष्ट होता है कि इन्हें शक्ति की कल्पना स्वीकृत है

(क) व्यवहार एवं शास्त्र में शक्ति शब्द का प्रयोग नाना अर्थों में देखा जाता है । विश्वकोषकार[2] ने लिखा है कि "यह एक संस्कृत का शब्द

१—रसगंगाधर में एक स्थान पर लिखा है—"एवमपीश्वरज्ञानादिना-विनिगमनाविरहः स्यात् , अतः प्रथममतमेव ज्यायः "इत्यपि वदन्ति" । यहाँ प्रथम मत को "ज्यायः" अर्थात् श्रेष्ठ कहा गया है । प्रथम मत है—"सा च पदार्थान्तरामिति केचित्" —

शक्ति भी एक अतिरिक्त पदार्थ है । पंडितराज ने इसे अपना मत तो नहीं कहा है, पर 'वदन्ति' इस बहुवचन क्रिया से मत के प्रति समादर का भाव स्पष्ट व्यक्त किया गया है । नागेश ने "कैचित्" से वैयाकरणों को पकड़ा है, पर यह ठीक नहीं ।

२—विश्वकोश

है, जो (शक + क्तिन्) "शक" धातु एवं क्तिन् प्रत्यय के योग से बना है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर इसका अर्थ किया गया है—सामर्थ्य, बल और ताकत।

(ख) जटाधर ने इसका दूसरा अर्थ किया है। कार्य जनन सामर्थ्य।

(ग) नागो जी भट्ट ने 'शक्तिरूपेण संस्थिता' की व्याख्या करते हुए कहा है—'शक्यते जेतुमनया सा शक्तिः' अर्थात् शक्ति वह धर्मविशेष है जिसके द्वारा शत्रु को पराजित किया जा सके। इस प्रकार स्त्री देवता (दुर्गा) के अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग है। इस दैवी शक्ति की विभिन्न स्थलों में बड़ी चर्चा है।

(घ) शक्ति शब्द का प्रयोग राजशक्तियों—प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति तथा उत्साह शक्ति—के लिए भी किया गया है।

(ङ) प्रधान या प्रकृति के अर्थ में भी शक्ति शब्द का प्रयोग है। 'भावप्रकाश' में कहा गया है कि यह त्रिगुणात्मिका शक्ति पुरुष का आश्रय लेकर जगत् का कारण बनती है।

(च) कुछ लोगों ने द्रव्य, गुण एवं क्रिया में रहने वाले धर्म विशेष को 'शक्ति' कहा है। प्रस्तुत प्रसंग में अपेक्षित एवं उपयुक्त अर्थ है—शब्दशक्ति। इसका स्वरूप है—'अर्थबोधानुकूल-पदपदार्थ[1]-संबंध-रूप वृत्ति विशेष।'

प्रयोग की प्राचीनता की दृष्टि से ऋड्-मंत्रों में ही शक्ति शब्द का उल्लेख मिलता है—'स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनच्छक्तिभि रोदसि प्राग्' इस प्रकार उपर्युक्त अंतिम अर्थ में प्रयुक्त 'शक्ति' से ही मेरा सबंध है। उक्त स्वरूप का विश्लेषण करें, तो यह कह सकते हैं कि शक्ति शब्द का एक व्यापार है जिसका फल है अर्थबोध। विचार करने पर इस व्यापार का स्वरूप पद से पदार्थ का संबंध रूप ही है। ध्यान रखना चाहिये कि यह स्वरूप किसी विशेष मत के ही अनुकूल पड़ता है।

यदि शक्ति एक प्रकार का संबंध है, तो उसकी स्थिति के लिए दो संबंधियों की अपेक्षा है, क्योंकि संबंध बिना दो के नहीं बन सकता। यहाँ संबंध रूप शक्ति के दो आश्रय हैं—शब्द एवं अर्थ। शब्द के स्वरूप एवं आश्रय के संबंध में दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद है। जहाँ तक स्वरूप की

१—"तस्मात्पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः" —लघुमञ्जूषा

बात है, मुख्यतः तीन प्रकार के मत प्रतिष्ठित है (क) नैयायिक विद्वान् उसका स्वरूप अनित्य ध्वनि एवं वर्ण बताते हैं। (ख) मीमांसक उसे नित्य वर्ण रूप मानते हैं और (ग) वैयाकरण उसका स्वरूप स्फोट बतलाते है।

नैयायिक एवं शब्द—

नैयायिकों की दृष्टि से शब्द एक गुण है और वह अनित्य है—वह उत्पाद-विनाश-शील है। ये लोग उसके दो रूप बताते हैं— ध्वनि एवं वर्ण। मृदग आदि से निकले हुए शब्द को ध्वनि तथा कण्ठ एवं मुखगत विभिन्न स्थानों की टकराहट से वायु जो शब्द प्रकट करता है, उसे वर्ण कहते हैं। इस शब्द का आश्रय आकाश है। इन शब्दों के ग्रहण की प्रक्रिया के विषय में ये लोग दो न्यायों की चर्चा करते हैं—(क) बीची तरंग न्याय एवं (ख) कदम्ब गोलक न्याय (शब्द इसी न्याय से स्वयं श्रोत्र देश में आते हैं और तब उनका साक्षात्कार होता है। 'बीची[1] तरंग न्याय' का अभिप्राय यह है कि शब्द जिस देश में उत्पन्न होते हैं, वहाँ से उनकी वह वायुलहरी क्षुब्ध बीचि की भांति स्वयं नष्ट होती हुई दूसरी को जन्म देती क्रमशः श्रोत्र देश को पहुँचती है और तब श्रोत्रेन्द्रिय उसका साक्षात्कार करती है पर कुछ लोगों की इस न्याय में आस्था नहीं है। उनका कहना यह है कि एक बीचि सुंक्षुब्ध होकर दूसरी तरंग को उत्पन्न करती है, पर समतल पर ही उत्पन्न करती है, ऊपर अथवा नीचे की ओर नहीं, जबकि उच्चरित शब्द चारों ओर फैलता है। यही कारण है कि उसका श्रवण ऊपर, नीचे, अगल, बगल चारों ओर होता है। अतः 'बीची-तरंगन्याय' का दृष्टान्त ठीक नहीं है। शब्दग्रहण प्रक्रिया के लिये कदंब गोलक न्याय' का दृष्टांत ही उपयुक्त है। जिस प्रकार कदंब पुष्प में पराग का प्रस्फुटन चतुर्दिक् होता है उसी प्रकार उच्चारित शब्द चतुर्दिक् ध्वनिलहरियों का प्रसव करता है।

जहाँ तक शब्द की अनित्यता का प्रश्न है ये लोग अनुभव को ही प्रमाण मानते हैं। इन लोगों का कहना है कि यह स्पष्ट ही अनुभवपथ में आता है

१—वीची तरंग न्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता।
कदम्बगोलक न्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते ॥ १६६ ॥

मुक्तावली, शब्दखंड

कि अमुक[1] वर्ण उत्पन्न हुआ या अमुक वर्ण नष्ट हुआ। यह उत्पाद एवं विनाश अनित्य वस्तुओं का ही धर्म है, अतः वर्ण अनित्य है। यद्यपि वर्णों की प्रत्यभिज्ञा उनकी एकता का ही समर्थन करती है और एकता नित्यता की, तथापि यह कोई नियम नहीं है कि प्रत्यभिज्ञा पहले से अनुभूत उसी एक ही वस्तु की होती है, वह सजातीय की भी होती है और यह सजातीयता एकता के बदले भिन्नता को भी आश्रय देती है, साथ ही नित्यता-साधक एकता का विनाश हो जाने से अनित्यता ज्यों की त्यों स्थिर रह जाती है। यह सूत्र अपनी स्पष्टता के लिये उदाहरण चाहता है। 'प्रत्यभिज्ञा' हिंदी में 'पहचान' के अर्थ में ख्याल है। यह इस प्रकार का ज्ञान है जिसमें दो प्रकार के ज्ञानों का मिश्रण रहता है और वे दो हैं:—प्रत्यक्ष एवं स्मृति। प्रत्यभिज्ञा उसी वस्तु की होती है जो पहले से अनुभूत होती है। जब इस अनुभूत अर्थ का पुनः साक्षात्कार होता है, तब इस ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। इस प्रकार वर्णों की प्रत्यभिज्ञा का अर्थ यह हुआ कि किसी व्यक्ति ने जिस वर्ण को पहले से सुना है—श्रावण प्रत्यक्ष किया है, उसी व्यक्ति को उस वर्ण का संस्कार अंतः-करण में बना रहता है और जब उसी व्यक्ति को उसी वर्ण का पुनः श्रवण प्रत्यक्ष होता है, तो उसका पुराना संस्कार जगकर स्मृति तो करता ही है, उस स्मृति के साथ तात्कालिक प्रत्यक्ष भी मिल जाता है, और वह वर्ण तब इन दो प्रकार के ज्ञानों अर्थात् प्रत्यभिज्ञा का विषय कहा जाता है। इस स्थल में शब्द-नित्यतावादी का यह कहना है कि यदि पूर्वानुभूत कोई शब्द या वर्ण अनित्य हो तो वह तो पूर्वानुभवकाल में ही दो क्षण के बाद विनष्ट हो जायगा, फिर दो दिन या चार दिन के बाद जिस वर्ण का श्रवण होगा, वह वर्ण विनष्ट वर्ण से आकार और उच्चारण में एक होने पर भी निश्चयहो वह भिन्न है और ऐसी स्थिति में जबकि प्रत्यक्ष का विषय भिन्न हो और स्मृति का भिन्न तो ऐसे अवसर का जो ज्ञान है, वह निश्चय ही प्रत्यभिज्ञानात्मक नहीं है, प्रत्यभिज्ञान के लिये यह आवश्यक है कि स्मृति एवं प्रत्यक्ष का विषय एक ही हो। अतः यदि वर्ण की प्रत्यभिज्ञा बनानी है, तो यह वर्णों को नित्य मानने पर ही सिद्ध हो सकता है। तभी कहा जा सकेगा कि जिस वर्ण को मैंने पहले सुना था, उसे ही आज भी सुन रहा हूँ। इस प्रश्न

१—उत्पन्नः को विनष्टः क इति बुद्धेरनित्यता।
सोऽयं क इति बुद्धिस्तु साजात्यमवलम्बते॥
मुक्तावली, १६७ वीं कारिका।

के समाधान में नैयायिकों का यह तर्क है कि जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञा का विषय एक ही अर्थ होता है, उसी प्रकार सजातीय या सदृश भिन्न भिन्न अर्थ भी। उदाहरणार्थ हम प्रायः रोगियों के मुँह से सुनते हैं कि यह[1] वही दवा है जिसे वैद्य जी ने मुझे तब दी थी। इस कथन में 'यह' दवा का प्रत्यक्ष ज्ञान सिद्ध करता है और 'वही' स्मृति रूप ज्ञान। दोनों के मिलित रूप से 'दवा' की प्रत्यभिज्ञा सिद्ध होती है। यहाँ निश्चय ही वर्तमान काल में जिस दवा का ज्ञान हो रहा है, स्मृति काल में उतरने वाली दवा उससे भिन्न है, फिर भी 'वही दवा यह है' प्रयोग होता हो है। जिस प्रकार यहाँ प्रत्यभिज्ञा में भिन्न भिन्न किंतु सदृश दवाएँ हैं और वे अनित्य हैं वही स्थिति वर्णों की भी है। अतः वर्णों की अनित्यता का पक्ष उचित ही है।

मीमांसक—

मीमांसक शब्द को गुण नहीं, द्रव्य मानते हैं। ये शब्द को वर्णात्मा मानते हैं और वे वर्ण नित्य एवं विभु हैं। व्यापक होने के कारण सभी मूर्त द्रव्यों का संयोग संभव है और इसी संयोग आदि गुणों का आश्रय होने से वह द्रव्य है। द्रव्य कहते ही हैं उनको, जो गुणों का आश्रय हो। इस प्रकार शब्द के संबंध में इन लोगों की धारणा नैयायिकों या वैशेषिकों से विलक्षण है।

ऊपर कहा जा चुका है कि ये लोग शब्द को नित्य मानते हैं इस संबंध में मीमांसकों के कई तर्क हैं। प्रथम तर्क तो पूर्व चर्चित प्रत्यभिज्ञा संबंधी ही है। द्वितीय तर्क उन लोगों का है—'लाघव'। वर्णों को अनित्य मानने से उन्हें अनंत पड़ेगा, इससे गौरव होगा। तृतीय तर्क यह है कि वर्णों की सत्ता आपामर अनुभूत है। प्रश्न यह है कि इसकी प्रतीत सत्ता का विनाशक कौन? जिस प्रकार घड़े, कपड़े आदि द्रव्यों के विनाशक दंड इत्यादि निमित्त कारणों की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार इसका यदि कोई विनाशक है, तो वह है कौन? चूंकि उस विनाशक की उपलब्धि नहीं, अतः उसकी सत्ता भी नहीं और जब विनाशक की सत्ता ही नहीं तो एक बार प्रतीत वर्ण का विनाश हो ही कैसे सकेगा? और जब विनाशक नहीं, तो वह नित्य है। इन लोगों की

१—तदेवौषधमित्यादौ सजातीयेऽपि दर्शनात्।
तस्मादनित्या एवैते वर्णाः सर्वे मतं हिनः ॥ १६८ ॥

२—मुक्तावली गुणखंड

यह धारणा है कि वर्ण यद्यपि नित्य है, तथापि उसका प्रकाशन उच्चरित ध्वनि के आधीन है। जब ध्वनि का उच्चारण होता है, तब वर्ण का प्रकाश हो जाता है और जब ध्वनि विनष्ट हो जाती है, तब उसका साक्षात्कार भी स्थगित हो जाता है। इन लोगों का यह भी कहना है कि व्यापक[1] एवं नित्य वर्णों के प्रत्यक्ष में स्तिमित वायु प्रतिबंधक है, पर जब मुख से वायु निकलती है, तो उसके धक्के से वह प्रतिबंधक विनष्ट हो जाता है और फिर प्रत्यक्ष होता है। इस रीति से नैयायिकों का अनित्यपक्ष में जो यह तर्क है कि 'बालक शब्द करता है' इस व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि शब्द एक ऐसा तत्व है जो 'किया जाता है उत्पन्न किया जाता है और 'किया वह जाता है' जो अनित्य होता है—वह भी कट जाता है। क्योंकि मीमांसकों की दृष्टि से शब्द करने का तात्पर्य शब्द के प्रकाशन से है, कुछ उत्पादन से नहीं। अथवा व्यंजक ध्वनि की 'उत्पत्ति' का व्यंग्य वर्ण में औपचारिक प्रयोग है। नित्यपक्ष के अनुकूल इन लोगों का एक तर्क और भी है कि प्रायः लोग यही कहते हुए सुने जाते हैं कि 'मैंने[2] दस बार गौ शब्द का उच्चारण किया, दस गौ शब्द का उच्चारण किया, सो नहीं इस व्यवहार से यह स्पष्ट ही सिद्ध होता है कि गौ शब्द एक ही है, उसकी उच्चारण द्वारा अभिव्यक्ति दस बार हुई है।

शब्द के साक्षात्कार की प्रक्रिया के संबंध में इन लोगों का रास्ता दूसरा है। श्रोत्रेन्द्रिय प्राप्यकारी इन्द्रिय है। प्राप्यकारी इन्द्रिय का तात्पर्य यह है कि वह इन्द्रिय विषय देश में जाकर विषय से संबद्ध होकर उसका प्रकाश करे। उदाहरणार्थ जब चक्षु इन्द्रिय विषय से संबद्ध नहीं होती, तो वह उसका प्रकाश किसी प्रकार नहीं कर सकती। यह सिद्धांत वेदान्तियों एवं वैयाकरणों का है (इन लोगों के यहाँ श्रोत्रेन्द्रिय ही विषय देश को गमन करती है) पर मीमांसकों के यहाँ नैयायिकों की भांति श्रोत कहीं जाता नहीं और जाने का कोई कारण भी नहीं, क्योंकि शब्द तो व्यापक अर्थात् सर्वत्र है, अतः

१—"मुखोद्भूत वायु संयोग विभागाः शब्दप्रत्यक्षप्रतिबंधकीभूतं स्तिमितवायुं दूरी कुर्वन्तीति ततः प्रत्यक्षम्"—'सनातन धर्मोद्धार' प्र० ख० पृ० १३२।

२—दशकृत्वः गो शब्दोच्चारे दशवारमुच्चारितो गो शब्दः इत्येव वदति, न च दश गो शब्दा उच्चारिता इति। अतोऽपि शब्दः नित्यः वही, पृ० १३४

इनके मत में किसी के यहाँ किसी के जाने की आवश्यकता ही नहीं है । केवल दोनों के व्यवधायक तत्व के हट जाने से ही सारी प्रक्रिया बन जाती है ।

वैयाकरणों के विचार—

वैयाकरण शब्द को स्फोटात्मा मानते हैं । यह 'स्फोट' इन लोगों के यहाँ शब्द ब्रह्म के रूप में कल्पित हैं । इसे नित्य और व्यापक कहा गया है । इस तत्व के उपपादन में इन लोगों का कहना है कि वाणी चार प्रकार की होती है—परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी । ये वागिन्द्रिय के चार रूप हैं । परा का परिचय होते हुए नागेश[१] जी ने कहा है कि इसका स्थान मूलाधार है । यह वाणी ब्रह्म रूप ही है, यह स्पंद शून्य एवं बिंदु रूप है । कहा गया है कि आत्मा बुद्धि में कुछ अर्थों के उपारूढ़ होने पर उसे व्यक्त करने की इच्छा से मन को प्रेरित करती है । मन उससे प्रेरणा पाकर कायाग्नि को उकसाता है और इस प्रकार उकसाई हुई कायाग्नि मारुत को संक्षुब्ध करती है और तब प्राणतत्व एवं अग्नि तत्व दोनों के मेल से परावाणी संस्कृत होकर नाद को प्रकाशित करती है, यह नाद व्यापक स्फोट रूप शब्द में प्रतिबिम्बित होता है । यह प्रतिबिम्ब इतना सूक्ष्म होता है कि इसका योगियों को भी सविकल्पक ज्ञान नहीं हो पाता । नाभिदेश में वाणी का जो रूप स्थित है, उसे 'पश्यन्ती' कहते हैं । इस पश्यन्ती द्वारा व्यक्तनाद के प्रतिबिम्ब को योगी लोग ही विशेष रूप में ग्रहण कर पाते हैं, साधारणजन फिर भी नहीं । हृदय देश में वाणी का जो रूप है, उसे मध्यमा[२] कहा जाता है । इस मध्यमा वाणी द्वारा नाद का जो प्रतिबिम्ब व्यापक स्फोट में पड़ता है, उसका मानस प्रत्यक्ष सांसारिक मनुष्यों को भी होता है । यहीं जिस स्फोट का सखंड रूप में ग्रहण होता है, उसी में अर्थ दान की शक्ति है । इस 'स्फोट' शब्द का अर्थ ही है 'स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः'—जिससे अर्थ स्फुटित होता है, उसे स्फोट कहते हैं । शब्द के इस व्यंग्यात्मा स्फोट रूप का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय से नहीं होता,

---

१—आत्माबुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ ६ पाणिनीयाशिक्षा ॥

२—परावाङ् मूल चक्रस्था पश्यन्ती नाभि संस्थिता ।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कंठदेशगा ॥
वैखर्या हि कृतो नादः पर श्रवण गोचरः ।
मध्यमया हि कृतो नादः स्फोटव्यञ्जक उच्यते । परमलघुमञ्जूषा ।

बल्कि यह शब्द का वह रूप है, जिसे उपांशुजप में मानवीय बुद्धि ग्रहण करती है। कंठदेश में रहने वाली या वागिन्द्रिय का नाम वैखरी है। मूलाधार से आता हुआ पवन जैसे वाणी के अन्य रूपों का संस्कार करता है, वैसे ही वैखरी का भी संस्कार करता है। वाणी के इस रूप से जो नाद व्यक्त होता है, वह श्रोत्रेन्द्रिय का गोचर होता है।

उक्त स्फोट रूप शब्द को भर्तृहरि ने भी ब्रह्म रूप कहा है। अर्थजात उसी के विवर्त[1] हैं, वे शब्द के ही अधीन हैं। यह स्फोट रूप शब्द ब्रह्म यद्यपि नित्य, एकरस तथा अखंड है तथापि जिस तरह जपाकुसुम की अरुणिमा के प्रतिबिम्ब से शुद्ध स्वच्छ स्फटिक भी अरुण जान पड़ता है, उसी प्रकार वर्ण, पद या वाक्यात्मक ध्वनि के प्रतिबिम्ब से अखंड स्फोट भी उन रूपों का ही जान पड़ता है। स्फोट रूप शब्द में जो कत्व, खत्व, गत्व आदि भिन्न-भिन्न एवं खंडात्मक धर्मों की प्रतीति होती है, ये धर्म वस्तुतः स्फोट के नहीं हैं, किंतु स्फोट में प्रतिबिम्बित सखंड नाद के धर्म हैं। स्वयं तो वह एक और एकरस है। इस अखंड पक्ष को ही ध्यान में रखकर कहा गया है कि न तो पदों[2] में वर्णों का पृथक् उनसे स्वत्व है और न वाक्यों में पदों का ही पृथक् स्वत्व है। जिस प्रकार एक ही आकाश विभिन्न उपाधियों के भेद से घटाकाश, जलाकाश, मेघाकाश इत्यादि नामों से व्यवहृत होकर भिन्न भिन्न रूप में प्रतीत होता है, अथवा जिस प्रकार एक ही चैतन्य अंतःकरण रूप उपाधि से नाना जीवों के रूप में लक्षित होता है, वही स्थिति ध्वनि रूप उपाधियों से स्फोट की भी होती है। यह विचार स्फोट के अखंड पक्ष से किया गया है। इसी प्रकार कुछ विचार व्यावहारिक दृष्टि से सखंड पक्ष का भी है।

जहां तक शब्द के ग्रहण का प्रसंग है, इन लोगों का विचार है कि श्रोत्र स्वयं शब्द (ध्वनि) देश अर्थात् जहां शब्द उत्पन्न होते हैं, वहां जाता है और तब उनका ग्रहण होता है। यदि श्रोत्र शब्द देश में न जाते होते, तो यह ज्ञान न हो पाता कि शब्द अमुक देश या स्थान में उत्पन्न हुआ। पर श्रोता को स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह शब्द इस स्थान पर हो रहा है। ज्ञात देश

१—अनादि निधनं ब्रह्म शब्द तत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ वाक्य पदीय, मंगलाचरण

२ पदे न वर्णा विद्यन्ते वाक्येऽवयवा नच।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥

निश्चय है कि चक्षुरिन्द्रिय से गृहीत नहीं है और श्रावण प्रत्यक्ष में अपेक्षित सामग्री से अतिरिक्त प्रमाण की सामग्री सन्निहित नहीं, अतः निश्चित है कि स्थान का ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय के ही गमन से हो सका है।

वेदान्त परिभाषा में वेदान्तियों का भी विचार है कि जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय विषय देश में जाकर उसका प्रकाश करती है, उसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय भी विषय देश में जाकर ही विषय तथा उस स्थान का ग्रहण करती है।

शब्द के आश्रय—

जिस प्रकार शक्ति के आधार शब्द के स्वरूप में दार्शनिक परस्पर विसंवाद रखते हैं, उसी प्रकार स्वयं शब्द के आश्रय में भी पर्याप्त मतभेद है। नैयायिक एवं वैशेषिक शब्द का आश्रय आकाश को, वेदांती पांचों महाभूतों को, सांख्य अहंकार को तथा (प्रपञ्चसार में) तान्त्रिकों ने शक्ति को माना है।

अर्थ का विचार—

इस प्रकार संबधात्मा शक्ति के एक संबंधी का अर्थात् शब्द का विचार समाप्त होने पर उसके दूसरे संबंधी 'अर्थ' का विचार अवशिष्ट है, जो, संप्रति, विचारणीय है। अर्थ के विभिन्न दृष्टियों से भेद किए गए हैं। उनमें से एक विभाग है—(१) वास्तविक एवं (२) काल्पनिक (माध्यमिक, योगाचार एवं वेदान्तियों की दृष्टि से तो क्रमशः शून्य, विज्ञान एवं ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त अर्थ काल्पनिक ही हैं। पर व्यवहार की दृष्टि से इस काल्पनिक के भी दो भेद हो जाते हैं—(१) व्यावहारिक एवं प्रातीतिक। व्यावहारिक वे हैं, जो व्यवहार काल में भ्रम वश नहीं, प्रत्युत वस्तुतः सत्तावान है और प्रातीतिक उन्हें कहते हैं, जिनकी सत्ता इस संसार में प्रतीतिकाल मात्र ही में होती है। प्रायः ऐसे पदार्थ भ्रम या किसी न किसी दोष वश उत्पन्न होते हैं और उन दोषों या भ्रम की निवृत्ति हो जाने से इन प्रातीतिक पदार्थों की भी निवृत्ति हो जाती है। वैयाकरणों ने एक 'बौद्ध-पदार्थ' की भी कल्पना की है। इन पदार्थों की सत्ता तो भ्रम वश भी बाह्य जगत् में नहीं है। वे केवल बुद्धि मात्र में ही स्थित रहते हैं, अतः उन्हें 'बौद्ध' कहते भी हैं। उदाहरणार्थ—'वंध्या का पुत्र'। 'वंध्या का पुत्र' न तो पारमार्थिक है, न व्यावहारिक और न प्रातीतिक की ही तरह जान पड़ते हैं। फिर भी ये शब्द अर्थवान् हैं (अर्थात् उनका कुछ अर्थ है)। यदि ये शब्द अर्थवान् न होते, तो व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से इनकी प्रातिपदिक संज्ञा ही नहीं हो पाती और प्रातिपदिक संज्ञा न

होने का अर्थ यह होता कि उनसे रूप साधक विभक्तियों का योग ही न हो सकेगा, जिसके बिना शब्द 'पद' बन ही नहीं सकेंगे और बिना 'पद' बने वाक्य में उनका प्रयोग ही नहीं हो सकेगा। विपरीत इसके 'एप वंध्यासुतो याति'—यह वंध्या पुत्र जाता है—में 'वंध्यासुत' शब्द को सार्थक माना गया है और उसे 'पद' रूप में लाने के सब प्रयास किए गए हैं। अतः निश्चित है कि इन शब्दों का भी कोई अर्थ है। ऐसे अर्थों को 'बौद्ध' अर्थ कहा गया है। पातञ्जल शास्त्र की दृष्टि से ऐसे शब्दों को विकल्पवृत्ति का विषय कहा गया है।

इस प्रकार संबंधियों (शब्द एवं अर्थ) के स्वरूप का सांगोपांग विवेचन हो चुकने पर अब संबंधात्मा शक्ति का विचार प्रस्तुत है। प्रश्न है इस विचार का प्रयोजन क्या ? प्रयोजन का विचार करते हुए शब्द एवं अर्थ के संबंध में अधोलिखित तीन तथ्य सामने आते हैं।

(१) शब्द एवं अर्थ दोनों परस्पर संबद्ध हैं।

(२) नियत शब्द से ही नियत अर्थ प्रतीत होते हैं, सब शब्दों से सब अर्थ मनचाहा नहीं निकला करते।

(३) इसी प्रकार यह भी देखने में आता है कि नियत व्यक्ति को ही नियत शब्द से नियत अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार यदि इन उक्त तथ्यों का विचार किया जाय, तो यह प्रश्न होता है कि शब्द से नित्य संबद्ध अर्थ की प्रतीति में जो नियत रूपता लक्षित की गई है, उसका कारण क्या है ? यह कौन सा तत्व है, जो इस नियम का मूल है ? विचार करने पर यह कारण 'पद का पदार्थ से संबंध विशेप' ही जान पड़ता है। यह संबंध नियत शब्दों का नियत अर्थों से ही होता है, सभी पदों का सभी अर्थों से संबंध नहीं होता और यह नियत शब्द का नियत संबंध जिस किसी नियत व्यक्ति को गृहीत होगा, वही व्यक्ति उसी शब्द से उसी अर्थ का ग्रहण कर पाता है। जो कोई खास व्यक्ति किसी भाषा के खास शब्द का किसी खास अर्थ से संबंध-ग्रह कर चुका होगा, वही व्यक्ति नियत शब्द से नियत अर्थ का ज्ञान कर सकता है। यही पद का पदार्थ से संबंध 'शक्ति' या 'वृत्ति' के नाम से अभिहित किया जाता है। इसी शक्ति का अर्थज्ञान में उपयोग है। इस शक्ति-ज्ञान के अभाव में लौकिक व्यावहार ही नहीं चल सकते, अतः इस शक्ति का सांगोपांग विवेचन आवश्यक है। अग्रिम अध्याय में इसी शब्द-शक्ति के स्वरूप एवं प्रभेदों पर विचार किया जायगा।

द्वितीय परिच्छेद

शब्द शक्ति के प्रभेद एवं उनका परिचय और व्यंजना के निरूपण में इनका उपयोग

विचारकों ने अब तक शब्द शक्ति के कुल सात प्रभेदों की स्थापना की है और वे हैं—(१) अभिधा (२) लक्षणा (३) व्यंजना (४) तात्पर्य (५) रसना (६) भावना तथा (७) भोग।

अभिधा—

प्रमाणों में जो स्थिति प्रत्यक्ष की है, शक्तियों में वही अभिधा की। शब्द शक्ति के संबंध में विचार करने वाला कदाचित् ही कोई ऐसा विचारक हो, जिसने इसको अस्वीकार किया हो अथवा प्राथम्य न दिया हो। तात्पर्य यह कि अभिधा की स्थिति सभी लोगों ने मानी है। व्यक्ति-विवेककार महिमभट्ट ने तो शब्द की एक ही शक्ति मानी है और उसका नाम 'अभिधा' दिया है—"शब्दस्यैकाभिधा शक्तिः[1]"। इसी प्रकार प्राचीन वैयाकरण कौण्डभट्ट ने भी एक ही अभिधा शक्ति मानी है। यह दूसरी बात है कि उसके प्रसिद्ध (अभिधा) एवं अप्रसिद्ध (अभिधा) ये दो भेद हैं।

इस अभिधा के स्वरूप के संबंध में कई मत हैं। नैयायिकों की धारणा वैयाकरणों से पृथक् है और मीमांसकों की इन दोनों से भी पृथक्। नैयायिकों में भी दो मत हैं। एक का संबंध प्राचीन नैयायिकों से है और दूसरे का नवीन नैयायिकों से। प्राचीन एवं नवीन से आधुनिक एवं पुरातन अर्थ को न लेकर आपेक्षिक प्राचीनता और नवीनता समझनी चाहिए। नैयायिकों की भांति वैयाकरणों में भी प्राचीन एवं नव्य के नाम से दो दल हैं—इनके मत क्रमशः नीचे दिए जा रहे हैं।

(क) प्राचीन नैयायिकों का कहना है कि सृष्टिकाल में विभिन्न पदार्थों का निर्माण करने के बाद ईश्वर की इच्छा हुई कि "अमुक पद अमुक अर्थ

१—व्यक्ति विवेक, प्र० वि०, पृ० सं० १०६

का बोध हो।" ईश्वर की यही इच्छा शब्द की अभिधा शक्ति कही जाती है। ईश्वर की यही इच्छा परंपरा से संसार में चलती चली आ रही है। इस परंपरा के प्रवर्तक भी ईश्वर ही थे। ईश्वर की इस परम्परागत इच्छा का ही जिसे परिज्ञान है, उसे पद का ज्ञान होते ही अर्थस्मरण हो आता है।

यहीं यह प्रश्न होता है कि ईश्वर ने सृष्टि के आरंभ में ही निर्मित पदार्थों का उनके वाचक शब्दों से संबंध ग्रहण कराया होगा। संसार में तब से न जाने कितने पदार्थ बने, बनते जा रहे हैं और बनते जायंगे। इन नूतन पदार्थों की संज्ञा से ईश्वर का कोई सरोकार नहीं जान पड़ता, इनकी संज्ञा का निर्धारण तो मनुष्यों की इच्छा से ही हुआ होगा। फिर इस मानवीय इच्छा को संकेत या अभिधा कहें या नहीं? प्राचीन नैयायिक इसे शक्ति मानने के पक्ष में नहीं हैं और न ऐसी नवाविष्कृत संज्ञाओं को 'संज्ञा' ही। वे इन्हें परिभाषा[2] या पारिभाषिक पद कहना चाहते हैं और इच्छा को एक मानवीय संकेत मात्र।

नव्य नैयायिक का विचार यह है कि शक्ति इच्छा सामान्य को मानना चाहिए, चाहे वह इच्छा ईश्वर की हो या मनुष्य की; वह नित्य हो या अनित्य। शर्त यह है कि वह इच्छा हो और उसका उक्त नियत रूप हो। मीमांसकों से अतिरिक्त अनीश्वरवादी इस मत के अनुकूल ही होंगे।

(ख) दूसरे प्रकार के विचारकों के दल में वेदान्ती, मीमांसक एवं आलंकारिक आते हैं। ये लोग शक्ति के उपर्युक्त रूप में अरुचि रखते हैं। अरुचि का कारण बताते हुए इन लोगों ने कहा है कि जिस प्रकार ईश्वर की इच्छा ज्ञात होने से मनुष्य पद-ज्ञान से पदार्थ प्रतीति कर लेता है, उसी प्रकार 'अमुक शब्द से अमुक अर्थ जाना जाता है' यह ईश्वरीय ज्ञान अथवा 'इस शब्द से इस अर्थ के बोध का प्रयत्न करता है'—यह ईश्वरीय प्रयत्न भी ज्ञात होकर पद से पदार्थ की स्मृति करा सकता है। ऐसी स्थिति में उक्त ज्ञान या उक्त प्रयत्न को भी अभिधा क्यों न कहा जाय? 'इच्छा' के पक्ष में

१—मु० श० खं० पृ० "सा चा स्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्यः इतीश्वरेच्छारूपा।

२—शक्तिवाद, पृ० ५

तत्राधुनिकः सङ्केतः परिभाषा''''''''''''ईश्वरसङ्केताःशक्तिः।

कोई पुष्ट तर्क न होने से इन लोगों को तीनों तत्वों में से प्रत्येक को शक्ति मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार नैयायिकों को शक्ति से तीन रूप मानने पड़ते हैं। मीमांसक आदि इस गौरव से बचने के लिए शक्ति को एक पृथक् पदार्थ ही मान लेते हैं। इस गौरव एवं लाघव का विचार वहीं किया जाता है, जहां प्रत्यक्ष की गम नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण से यदि कोई वस्तु अनेक संख्या में सिद्ध हो जाय तो उसे लाघवार्थ एक ही नहीं माना जा सकता। अस्तु। तो कह यह रहे थे कि शक्ति एक पृथक् पदार्थ है। मीमांसक शक्ति को किस प्रकार एक पृथक् पदार्थ मानते हैं, इसे प्रथम परिच्छेद में ही दिखाया जा चुका है[२]। सभी प्रकार के कारणों में कार्यों की उत्पत्ति में अनुकूल सामर्थ्य को शक्ति कहते हैं। इसी प्रकार विभिन्न अभिधेयार्थों की प्रतीति में अपेक्षित शब्द सामर्थ्य ही शक्ति है—वही अभिधा है। सारांश यह कि अभिधा एक स्वतंत्र पदार्थ है, वह इच्छा, ज्ञान या यत्न रूप नहीं है।

(ग) तीसरा दल है वैयाकरणों का। इन लोगों में भी नैयायिकों की भांति प्राचीन एवं नवीन ये दो दल हैं—ऐसा ऊपर निवेदन किया जा चुका है। भूषणकार कौण्ड आदि प्राचीन वैयाकरणों का मत यह है कि शक्ति के उपर्युक्त दोनों रूप ठीक नहीं हैं किन्तु विचार करने से ऐसा जान पड़ता है, कि जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों में अपने अपने विषयों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, के प्रति अनादिकालीन बोधकता सिद्ध ही है। उसी प्रकार शब्दों की भी। शब्दों की यही अर्थ 'बोधकता' 'अभिधा' है।

नव्य वैयाकरणों में मंजूषाकार नागेश भट्ट का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इनका यह कहना है कि किसी शब्द में किसी अर्थ की 'बोधकता' तभी संभव है, जब उस शब्द का उस अर्थ से कोई संबंध निश्चय हो। तात्पर्य यह कि 'बोधकता' अपनी सिद्धि के लिए जिस 'संबंध' की कल्पना की अपेक्षा करती है, उसी 'संबंध' को ही क्यों न 'अभिधा' मान लें। यह संबंध वाच्यवाचक भाव संबंध स्वरूप पड़ेगा। यही शक्ति का स्वरूप है। यह संबंध अनादि एवं सादि दोनों प्रकार का है।

१—'इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थे शब्दानां संबंधो योग्यता तथा ॥३६॥
वै० भूषण सार।

२—नागेश कृत लघुमंजूषा,

नागेश भट्ट का यह भी विचार है कि अन्य लोग प्रायः 'शक्ति' 'संकेत' एवं 'संबंध' को प्रायः पर्याय मानते हैं पर यह समझ भ्रान्त है। वस्तुतः शक्ति कहते हैं 'वाच्यवाचक भाव संबंध' को। शब्द एवं अर्थ के 'संबंध' से वस्तुतः शब्दार्थ का तादात्म्य या भेदाभेद संबंध समझा जाना चाहिए। तुलसी दास जी ने भी शब्द एवं अर्थ के संबंध के विषय में कहा है—'कहियत भिन्न, न भिन्न।' 'संकेत' इन दोनों पारिभाषिक पदों से सर्वथा भिन्न है। 'संकेत' का तात्पर्य है वृद्धों का 'यह गौ पद का वाच्य है' अथवा 'इसका वाचक गौ पद है'—इत्यादि शब्द प्रयोग।

(घ) भूषण में एक 'कुब्जशक्तिवाद'[1] का भी उल्लेख है। कुछ लोगों का कहना है कि वाक्यार्थ अभिधेय है। हाँ, जिस प्रकार कुब्ज व्यक्ति अपने कुछ अवयवों से कार्य करता है और कुछ पंगु अवयवों से कार्य करने में असमर्थ रहता है, ठीक उसी प्रकार वाक्य की अभिधानशक्ति पदार्थांश में ज्ञात होने के कारण कार्य करती है, पर वाक्यार्थ के अवशिष्ट अन्वयांश में वह पंगु होने के कारण असमर्थ है। इस प्रकार समस्त वाक्यार्थ अभिधा का ही विषय है। पर शक्ति की इस कुब्जरूपता पर बहुतों को विश्वास नहीं है। उसका कारण है कुब्ज शक्तिवादियों की परस्पर विरोधी उक्ति या युक्ति। कुब्ज शक्तिवादी कहते हैं—'अन्वयांश में शक्ति अज्ञात रहकर उपयोगिनी होती है' स्पष्ट ही इस तर्क में वदतोव्याघात है। भला जो वस्तु अज्ञात है, वह उपयोगिनी क्यों कर हो सकेगी? यद्यपि यह चर्चा शक्ति के स्वरूप पर प्रकाश नहीं डालती, पर एक विलक्षण वाद होने के कारण इसका उल्लेख कर दिया जाता है।

इस शक्ति के स्वरूप की भाँति इसके आश्रय के संबंध में भी काफी मतभेद है। (क) नैयायिकों का विचार है कि श्रूयमाण सार्थक शब्द जो अनित्य कहे जाते हैं—वे ही शक्ति के आश्रय हैं। (ख) मीमांसक नित्यवर्ण समुदाय रूप पद को ही शक्ति का आश्रय मानते हैं। (ग) जब कि वैयाकरण स्फोटात्मा शब्द को शक्ति का आश्रय मानते हैं।

नैयायिकों का यह भी विचार है कि शक्ति वस्तुतः संस्कृत के पदों में है,

---

१—यदि च पदशक्तिः पदार्थांशे ज्ञाताऽन्वयांशे वाऽज्ञातोपयुज्यते इति कुब्जशक्तिवादः—वैयाकरण भूषण सार।

अपभ्रंश शब्दों में नहीं। उसका कारण यह है कि एक ही संस्कृत शब्द के देशभेद से अनेकानेक अपभ्रंश शब्द हो सकते हैं, जैसा कि भगवान भाष्यकार ने कहा है कि 'एकस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोपोत्तालिका इत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।' इस प्रकार यदि अपभ्रंश शब्दों में भी शक्ति मानी जाय, तो एक ही अर्थ को अनेकानेक शब्दों में अनेक शक्तियाँ माननी पड़ेंगी। प्रश्न यह है कि यदि अपभ्रंश शब्दों में शक्ति नहीं है तो इसका तात्पर्य यह कि वे शब्द अशक्त हैं और क्या अशक्त शब्दों से कभी अर्थ-बोध हुआ है ? नहीं। परंतु व्यवहार प्रायः अपभ्रंश शब्दों से ही चलता है, अतः यदि उक्त युक्ति पूर्णतः स्वीकार कर ली जाय, तो मानना होगा कि वे शब्द अर्थबोध में अशक्त हैं और ऐसी स्थिति में व्यवहार का एक क्षण भी चल पाना दुष्कर है। पर व्यवहार उन्हीं शब्दों से निरंतर चलता है, यदि अर्थबोध न होता, तो यह कब संभव था ? इस प्रकार व्यवहार एवं शास्त्र की यह विसंगति एक समस्या है। प्रश्न इसके परिहार का है।

नैयायिक इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि किसी शब्द से अर्थबोध के लिए यह आवश्यक ही नहीं है कि वह उस अर्थ में शक्त हो ही, कभी कभी यह भी देखा जाता है कि भ्रांत पुरुष किसी अन्य अर्थ में अशक्त शब्द से भी वांछित अर्थ का बोध कर लेता है। हाँ यह अवश्य है कि अशक्त शब्द से जो अर्थ बोध होता है, वह प्रामाणिक नहीं होता, पर शब्द से अर्थ-बोध होता ही नहीं, यह बात माननीय नहीं है। बालक जिन शब्दों का उच्चारण करते हैं, वे टूटे फूटे अधूरे शब्द ही क्या अभिमत अर्थ के बोधन में शक्त होते हैं ? कदापि नहीं, फिर भी उनसे अर्थबोध होता ही है। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अर्थबोध में पद चाहे अशक्त हों, पर शक्ति ज्ञान यदि है, तो अर्थ बोध में कोई अड़चन नहीं आ सकती। अर्थबोध की बेला में पद चाहे अशक्त हों, पर शक्ति ज्ञान अपेक्षित है। उस अशक्त पद को सुनकर जो शक्तिज्ञान कार्य करता है, वह प्रामाणिक न हो, पर उसी अपभ्रंश के श्रवण से स्मृत मूल संस्कृत पद में अपेक्षित अर्थ की जो शक्ति है और उस शक्ति का ज्ञान है, वह सर्वथा प्रामाणिक है। अर्थबोध अपभ्रंश एवं संस्कृत दोनों प्रकार के शब्दों से होता है। प्रामाणिकता, अप्रामाणिकता तथा साक्षात् और परंपरा की बात अलग है।

इस पक्ष के विपरीत नागेश इत्यादि वैयाकरणों का विचार है कि जिस

प्रकार संस्कृत शब्दों में प्रामाणिक शक्ति होती है उसी प्रकार[1] अपभ्रंश शब्दों में भी अभिमत अर्थ की प्रामाणिक शक्ति रहती है, भ्रामक नहीं। जहाँ तक अर्थबोध का प्रश्न है समान रूप से संस्कृत एवं अपभ्रंश शब्दों के शक्त रहते हुए भी यदि एक ही शक्ति को प्रामाणिक और दूसरी को अप्रामाणिक कहा जाय, तो इसमें कोई निर्णायक हेतु दिखाई पड़ता नहीं। अतः शक्ति दोनों प्रकार के शब्दों में रहती है और वह भी प्रामाणिक होती है। हाँ, अपने विश्वास के अनुसार इन भारतीय दार्शनिकों ने, दोनों प्रकार के शब्दों में अंतर यह माना है कि संस्कृत[2] के साधुशब्दों के उच्चारण से धर्म उत्पन्न होता है, पर अपभ्रंश शब्दों के उच्चारण से अधर्म होता है। इन साधु शब्दों का ही प्रयोग यज्ञ याग आदि में होना चाहिए, असाधु शब्दों का नहीं। यज्ञ के प्रसंग में शास्त्रकारों ने जो यह कहा है—'नानृतं वदेत्'—अर्थात् झूठ नहीं बोलना चाहिए, सो यहाँ झूठ से तात्पर्य असाधु शब्दों का ही है।

संप्रति, यह देखना चाहिए कि भिन्न भिन्न शास्त्रकारों के मत से अभिधा की स्थिति क्या है? तार्किक आलंकारिक महिमभट्ट ने शब्द की शक्ति एक मात्र अभिधा को ही माना है।' साथ ही उनका कहना यह भी है, कि प्रत्येक शब्द का एक ही अर्थ होता है। भाषा वैज्ञानिकों का भी यही मत है प्रत्येक शब्द एकार्थक ही हैं। जो शब्द नानार्थक जान पड़ते हैं, वस्तुतः वे भिन्न भिन्न स्रोतों से आए हुए एक आकार के विभिन्नार्थक शब्द होते हैं, वे दोनों शब्द एक ही भाषा में जब आ जाते हैं, तो उन दोनों शब्दों को एक ही मान लिया जाता है और उन्हें अनेकार्थक कह दिया जाता है। महिम भट्ट का तर्क दूसरा है। उनका कहना है कि जहाँ एक शब्द से एक अर्थ के अतिरिक्त और अर्थ भी होते हों, वहाँ यह समझना चाहिए कि उन अन्य अर्थ या अर्थों की प्रत्यायक सामग्री उस शब्द के अतिरिक्त कुछ और है। यों तो सामग्री की अपेक्षा उस एक अभिधेयार्थ के लिये भी है अन्यथा क्या कारण है कि गंगा में घर है—ऐसे औपचारिक वाक्यों में गंगा शब्द भी अपने एक मात्र एक अभिधेय अर्थ को समर्पित नहीं कर पाता? निश्चय है कि वहाँ

१—सा च शक्तिः साधुष्विवाऽपभ्रंशेष्वपि शक्तिग्राहकशिरोमणेर्व्यवहारस्य च तुल्यत्वात्—लघुमञ्जूषा।

२—वाचकत्वाऽविशेषेऽपि नियमः पापपुण्ययोः—लघुमञ्जूषा

अनुकूल सामग्री नहीं है। एक शब्द का एक ही अर्थ होता है—इस पक्ष में कई तर्क हैं—(१) पहली बात तो यह है कि शब्द से अर्थ का तादात्म्य संबंध होता है और तादात्म्य दो में ही होता है, अतः एक शब्द से एक ही अर्थ का संबंध हो सकता है। दूसरा तर्क महाभाष्यकार का है—'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति'—अर्थात् शब्द एक बार उच्चारित होकर एक ही अर्थ प्रदान कर सकता है। तीसरा तर्क यह है—'अर्थभेदेन शब्द भेदः अर्थात् जितने अर्थ प्रतीत होते हैं, निश्चय है, कि वे विभिन्न विभिन्न शब्दों के हैं। अर्थ अर्थ का भेद होने से शब्द का भी भेद होता है। अतः जिन स्थलों पर नाना अर्थों की प्रतीति होती है, वहाँ प्रत्येक अर्थ की प्रतीति करानेवाले भिन्न भिन्न शब्द होते हैं। अन्य विचारक शब्द की जिन अतिरिक्त शक्तियों की चर्चा करते हैं, महिम उन सबका खण्डन करते हैं। इनका कहना यह है शब्द से साक्षात् संबंध है अभिधेयार्थ का, शेष सभी प्रकार के अन्य अर्थ वाच्यार्थ से संबद्ध होकर ही प्रतीत होते हैं अर्थात् वाच्यार्थ उनका किसी न किसी निमित्त से ज्ञापन करता है और ज्ञापन में वाच्यार्थ साधन है। साधन से क्रमिक रूप में—नियत रूप में—प्रकाशित होने वाले अर्थ मात्र अनुमेय होते हैं। इस प्रकार इनके यहाँ शब्द प्रयोग के अनंतर जितने प्रकार के अर्थ प्रतीत होते हैं, वे सभी दो प्रकार के हैं—(क) वाच्य (ख) एवं अनुमेय[१]। शब्द का व्यापार एक मात्र अभिधेय अर्थ के प्रति ही है और वह है अभिधा।

प्राचीन वैयाकरण कौण्ड भी शब्द की 'बोधकता' रूप एक ही अभिधा शक्ति मानते हैं, वह प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध दो प्रकार की होती है। इनकी प्रसिद्ध शक्ति ही और लोगों की अभिधा है और अप्रसिद्ध लक्षणा।

आलंकारिकों एवं नव्य वैयाकरणों के अतिरिक्त प्रायः अन्य लोग शब्द की दो शक्तियां ही मानते हैं और वे हैं—अभिधा एवं लक्षणा।

इस अभिधा शक्ति के कहीं कहीं तीन और कहीं कहीं चार भेद किए गये हैं—योग, रूढ़ि, योगरूढ़ि एवं यौगिक रूढ़ि। (क) योग शक्ति उन अभिधायक शब्दों में रहती है, जो प्रकृति एवं प्रत्यय के योग से बने होते हैं और उनमें से प्रत्येक की शक्ति प्राप्त अर्थ ही युक्त पद का अर्थ हो। उदाहरणार्थ-पाचक शब्द है। यह शब्द 'पच् धातु एवं 'ण्वुल्' प्रत्यय के योग से बना है। यहाँ प्रकृत्यंश का अर्थ है—पाक और प्रत्ययांश का अर्थ है कर्ता

१—"अर्थोऽपि द्विविधः—वाच्योऽनुमेयश्च।"—व्यक्ति विवेक।

सब मिलाकर युक्त पद का अर्थ हुआ 'पाककर्ता'। यह अर्थ इस शब्द के प्रत्येक अवयव से निकला है। यद्यपि योगरूढ़ि शक्ति जिन शब्दों में रहती है, उनमें भी प्रकृति एवं प्रत्यय का स्पष्ट ही योग रहता है और अवयव शक्ति अर्थात योग शक्ति का उपयोग यहाँ भी होता है, तथापि उक्त स्थल से यहाँ यह अंतर होता है कि यौगिक पदों की योग शक्ति रूढ़ि शक्ति से नियंत्रित होती है। यौगिक पदों की योग शक्ति अनियंत्रित होकर फैलती है, योगरूढ़ शब्दों की योग शक्ति रूढ़ से प्राप्त अर्थ की सीमा में ही घूमती रहती है, उसको लांघने की शक्ति उसमें नहीं होती। उदाहरण है पंकज शब्द। यहाँ पंकज शब्द की निष्पत्ति पंक + जनि + ड के योग से है। अवयव शक्तियों की सहायता से जो मिलित अर्थ आया, वह यों होगा—'पंक से उत्पत्ति प्राप्त करनेवाला'। उक्त रीति से यद्यपि पंकज शब्द का अर्थ पंक से उत्पन्न होनेवाले सभी पदार्थों के हो सकते हैं, तथापि जल से उत्पन्न होनेवाले सभी अर्थों में यह शब्द शक्त नहीं है, बल्कि इस शब्द की सामुदायिक या रूढ़ि शक्ति जितने अर्थ में है, उतनी ही दूर तक इसका संचरण होता है। रूढ़ि केवल 'कमल' रूप अर्थ में ही है। अतः अवयव शक्ति वहीं तक जायगी। जिन शब्दों में यौगिक रूढ़ि शक्ति होती है, वे भी प्रकृति एवं प्रत्यय के ही योग से बनते हैं। फिर भी उक्त दोनों शक्तियों के कार्य से इस शक्ति का कार्य सर्वथा भिन्न है। भिन्नता इस माने में है कि यहाँ योग एवं रूढ़ि दोनों शक्तियाँ पृथक् पृथक् कार्य करती हैं। यह स्थिति न तो यौगिक पदों में है और न रूढ़ पदों में ही। उदाहरणार्थ एक शब्द है—'उद्भिद्'। यहाँ उद्भिद् शब्द की रूढ़ि शक्ति उद्भिद नामक याग विशेष रूप अर्थ देती है (उद्भिदा यजेत्)। इस शब्द की योग शक्ति से जो अर्थ निकलता है, वह है वनस्पति (उत् ऊर्ध्वं भिनत्तीति उद्भिद्) जो पदार्थ जमीन फोड़कर बाहर निकले, वह उद्भिद् है। यहाँ रूढ़ि शक्ति से जो अर्थ निकलता है, उसका योगशक्ति के अर्थ से कोई संबंध नहीं है। इन तीनों प्रकार के शब्दों को 'व्युत्पन्न' कहते हैं। इन शब्दों के अतिरिक्त कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जो अव्युत्पन्न कहे जाते हैं, ऐसे ही शब्दों में सामुदायिक या रूढ़ि शक्ति होती है। उदाहरण के लिये डित्थ, कपित्थ आदि शब्द लिए जा सकते हैं, जहाँ प्रकृति एवं प्रत्यय के योग का कुछ आभास ही नहीं मिलता। ये शब्द किसी व्यक्ति या पदार्थविशेष में रूढ़ हैं।

रूढ़ शब्दों के संबंध में शास्त्रकार एकमत नहीं हैं। आचार्य पाणिनि तो इस पक्ष में हैं कि प्रातिपदिक अव्युत्पन्न भी होते हैं—'उणादयोऽव्युत्पन्नानि

प्रातिपादिकानि[1]।' अर्थात् उणादि में जिन प्रातिपादिकों की चर्चा है, वे अव्युत्पन्न हैं, परंतु निरुक्तकार यास्क ने सभी शब्दों को धातुज माना है, अर्थात् सभी शब्द यौगिक ही होते हैं। इनका कहना है कि 'सर्वे[2] शब्दाः यौगिकाः।' उणादि-सूत्रों के प्रणेता शाकटायन का मत है कि सभी शब्द यौगिक हैं। इसी प्रकार भाष्यकार ने भी कहा है—'अथवा यदृच्छा शब्दा अपियौगिकाः।' परंतु फिर भी कुछ शब्द ऐसे अवश्य जान पड़ते हैं, जिनके अवयवों का कुछ पता नहीं चलता। चार्वाकों ने इसी कारण वेद में प्रयुक्त जर्भरी, तुर्फरी जैसे न जाने कितने शब्दों को निरर्थक माना है, पर सायण ने इन सभी को धातुओं से निष्पन्न करने का प्रयत्न किया है। कुमारिल ने भी वैदिक शब्दों पर विचार करते हुए 'तामास' शब्द को पकड़ा है और उस पर विचार करते हुए उसे योगशक्ति से रहित माना है और उसे भिन्न स्रोत से आया हुआ माना है। आधुनिक भाषाविज्ञान के पंडितों ने तो भाषाओं के पारस्परिक लेन देन पर विचार करके ऐसी न जाने कितनी कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न किया है।

इस संबंध में दो विचार और शेष हैं—अभिधा का ग्रहण होता कैसे है? और उसके विषय कौन कौन से होते हैं। प्रथम के संबंध में एक कारिका है।

शक्ति[3] ग्रहं व्याकरणोपमान कोशाप्त वाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

अर्थात् शक्ति ग्रह के आठ साधन हैं—व्याकरण, कोश, उपमान, आप्त वाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति और सिद्धपदों का सान्निध्य। इन सब साधनों में मूर्द्धन्य है—व्यवहार। बालक सबसे पहले लोक व्यवहार से यह सीखता है कि अमुक पद की अभिधा अमुक अर्थ में है। शास्त्रों में इस विषय का बहुत ही विचार किया गया है।

अत्यधिक संक्षेप रूप में प्रथम प्रश्न का विचार करने पर द्वितीय प्रश्न यह रह जाता है कि शब्द की अभिधा होती किन अर्थों में है? इस प्रश्न पर भी

१—परिभाषेन्दुशेखर, २२वीं परिभाषा।

२—निरुक्त—"सर्वं शब्दं धातुजमाह।"

३—मुक्तावली

विचारकों में ऐकमत्य नहीं है। (क) वैयाकरणों का विचार है कि यद्यपि शक्तिग्रह प्रवर्तक और निवर्तक वाक्यों से ही होता है और प्रवृत्ति या निवृत्ति का संबंध होता है व्यक्ति विशेष से, अतः व्यवहार द्वारा व्यक्ति में ही संकेत होना चाहिये, तथापि व्यक्ति में संकेत मानने से आनन्त्य एवं व्यभिचार दोषों की प्रसक्ति हो जायगी, अतः संकेत व्यक्ति में न मानकर उसकी उपाधियों[1] में मानना चाहिए। उपाधि भी दो प्रकार की होती हैं–स्वाभाविक एवं आरोपित। स्वाभाविक के भी दो भेद हैं—प्राणप्रद एवं विशेषाधानहेतु। प्रथम को जाति कहते हैं और द्वितीय के दो भेद हैं—सिद्ध और साध्य। सिद्ध को गुण एवं साध्य को क्रिया कहते हैं। आरोपित धर्म ही को संज्ञा कहते हैं। इस प्रकार उपाधि ४ प्रकार की हुई जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा, अभिधा के ये ही चारों विषय हैं। संसार में पदार्थों के जो चार प्रकार लक्षित होते हैं, वे इसी प्रकार उपपन्न हो सकते हैं। अन्यथा यदि केवल व्यक्ति में शक्ति मानी जाय, तो सभी शब्द व्यक्तिवाचक ही हो जायँगे, और ऐसी स्थिति में 'डित्थ गौ शुक्ल एवं चल है।' इस वाक्य के सभी पदार्थ व्यक्ति वाचक होने से और प्रस्तुत प्रसंग में व्यक्ति एक गौ के ही होने से चारों पदार्थ पर्यायवाची हो जायँगे, जो अनुभवसिद्ध नहीं हैं। अतः व्यक्ति में संकेत न मानकर उपाधि में ही शक्ति मानना उचित है। इसी को भाष्यकार ने कहा है—'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति महाभाष्यकाराः। आलंकारिक वैयाकरणों के ही अनुयायी हैं।

नैयायिकों का कहना है कि केवल जाति में शक्ति मानने से व्यक्ति की प्रतीति शाब्द न होगी और केवल व्यक्ति में शक्ति मानने से आनंत्य एवं व्यभिचार होगा, अतः 'विशिष्ट' (जातिविशिष्ट व्यक्ति) में ही शक्ति माननी चाहिए।

मीमांसक उक्त चारों प्रकारों के पदार्थों को जातिवाचक ही कहते हैं, अतः वे केवल 'जाति' में ही अभिधा मानते हैं।

बौद्धों के यहाँ सत् (भावात्मक पदार्थ) मात्रक्षणिक होते हैं, अतः असत्—अभाव-भेद में ही शक्तिमानते हैं। इसे वे 'अपोह' या 'असद् व्यावृत्ति' के नाम से पुकारते हैं। किसी भी शब्द के प्रयोग से व्यक्ति जैसे क्षणिक

---

१. काव्यप्रकाश, द्वि० उ०।

पदार्थ के अतिरिक्त जो सर्वत्र स्थिर पदार्थ प्रतीत होता है, वह है 'अन्य से भेद' अतद्व्यावृत्ति। अतः यही वह स्थिर अंश है, जो स्थायी रूप से अनुगत होने के कारण अभिधा का विषय बन सकता है।

इस प्रकार अत्यंत संक्षेप में अभिधा के विषय में प्रायः सभी अपेक्षणीय बातें कह दी गई हैं। यद्यपि यहाँ व्यंजना का विचार ही प्रस्तुत है तथापि अभिधा के इस चतुरस्र निरूपण का प्रयोजन यह है कि इसी की पीठिका पर सभी शक्तियों का विचार किया जा सकता है, अतः इसपर थोड़ा अधिक विचार करना अच्छा है।

लक्षणा —

व्यवहार द्वारा जिन साक्षात् संकेतित अर्थों का अभी अभी विचार हुआ है, वे ही शब्दों के मुख्य अर्थ कहे जाते हैं। प्रायः लोकव्यवहार ऐसे ही शब्दों से चलता है, जिनका लक्ष्य मुख्यार्थ द्वारा ही पूरा होता है। इस अर्थ के लिये शब्द का जो व्यापार है, वही अभिधा कहा जाता है। व्यवहार में कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि बड़े से बड़े सतर्क व्यक्ति भी कभी कभी इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग कर देते हैं, कि या तो उसका प्रयोग ही असंगत जान पड़ता है या संगति हो भी तो विशेष उपयोग नहीं जान पड़ता। और ध्यान से देखा जाय तो व्यवहार में कुछ ऐसे शब्द भी मिलेंगे, जो न जाने कब से मुख्यार्थ से हट चुके हैं और कुछ अन्य ही अर्थ में प्रयुक्त होते चले आ रहे हैं। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित तीन वाक्य हैं, जिनमें उक्त तीनों स्थितियाँ स्पष्ट हो जाएँगी।

(१) असंगत वाक्य—'अभाव की चपल बालिके'—अभाव को और बालिका ? कितनी असंगति है ? भला कहीं जड़ को और वह भी अभाव, उससे और बालिका से क्या संबंध ?

(२) अनुपयोगी शब्द –'मैं कह रहा हूँ'—यहाँ जो क्रिया है, उसी से पता लग जाता है कि वक्ता उत्तम पुरुष में है, फिर उत्तमार्थ की प्रतीति कराने वाले 'मैं' पद की विशेष उपयोगिता क्या है ?

(३) परंपरागत मुख्यार्थ से बिछुड़े हुए शब्द—'बनारस शहर धार्मिक है' अब आप ही बतायें, बनारस शहर जैसे जड़ पदार्थ में धार्मिकता क्या कभी संभव है ? धार्मिकता एक वृत्ति है, जो अंतःकरण से संबद्ध है

और अंतःकरण क्या कहीं जड़ में सुना गया है ? इसी प्रकार एक दूसरा उदाहरण है 'यह कुशल है'। यहाँ 'कुशल' शब्द का मुख्यार्थ है 'कुश ग्रहण करने वाला'। आप सोचें, इस मुख्यार्थ की दृष्टि से कुशल शब्द का यहाँ क्या उपयोग है ? निश्चय ही यहाँ अपने मुख्यार्थ से हटकर 'चतुर' रूप अन्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यही हाल ऊपर के 'बनारस' का भी है। ऐसे वाक्यों में लोकरूढ़ि निरन्तर बनारस शब्द को बनारसवासियों के अर्थ में प्रयुक्त करती है।

ऐसे स्थलों में प्रश्न यह है कि ये असंगत या अनुपयोगी शब्द मुख्यार्थ से विरत होकर भी कुछ करते हैं या विरत ही रहते हैं ? यदि यह मान लिया जाय कि वे कुछ अर्थ नहीं देते, तो इससे सतर्क प्रयोक्ता की सतर्कता जाती रहेगी और सिद्ध होगी उसकी उन्मत्तता। क्योंकि उन्मत्त व्यक्ति ही निरर्थक शब्दों का प्रयोग करता है। अप्रमत्त एवं सतर्क व्यक्ति शब्द प्रयोग करे, और उसका कुछ अर्थ ही न हो, यह कभी संभव नहीं। दूसरी बात यह है कि श्रोता को स्वयं वक्ता के ऐसे शब्द अनुपयोगी या असंगत नहीं जान पड़ते, हैं ऐसे शब्दों के प्रयोग से उलटे और संतुष्ट एवं चमत्कृत ही होते हैं। फिर आखिर रहस्य क्या है ? उक्त वाक्यों में 'अभाव की बालिके' 'में' 'बनारस' और 'कुशल' ऐसे ही शब्द हैं, जिनका उस प्रकरण में अपने वाच्यार्थ की दृष्टि से कोई उपयोग ही नहीं है, पर प्रयोग में ऐसे पद बराबर आते हैं और जहाँ आते हैं, वहाँ इन्हें असंगत या अनुपयोगी न कहकर अत्यंत उपादेय कहा जाता है। काव्य-जगत् के तो ऐसे ही पद सर्वस्व हैं। काव्य की ऐसे पदों पर बड़ी ममता होती है। पर यह सारा ममत्व उन शब्दों की उपादेयता पर ही निर्भर है। उपादेयता ऐसे शब्दों की तभी मानी जा सकती है, जब वे कुछ अर्थ देते हों, अर्थ तभी देंगे, जब उनमें उस अर्थ को देने की शक्ति होगी। उन शब्दों को उपादेय बनाने वाले ये अर्थ निश्चय ही वाच्यार्थ से पृथक् होते हैं। क्योंकि वाच्यार्थ की दृष्टि से उनकी असंगति या अनुपयोगिता तो पहले ही सिद्ध हो चुकी है।

इतने विचार से कोई भी यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि ऐसे शब्द भी उपादेय हैं और उपादेय हैं इसलिये सार्थक हैं। क्योंकि अर्थदान पर ही उनकी उपादेयता निर्भर है और यह अर्थ वाच्यार्थ से भिन्न कोई अमूल्य अर्थ है, साथ ही यह भी निश्चित है कि इस अर्थदान में वह शब्द शक्तिमान् है।

अस्तु । यह सब मान लेने पर भी प्रश्न यह उठता है कि ऐसे शब्दों से जो अर्थ निकलते हैं, उन अर्थों के वाचक शब्द जब उपस्थित हैं, तो उस वाचक शब्दों की अवहेलना क्यों की जाती है ? प्रयोक्ता मुख्य शब्द का प्रयोग न कर अमुख्य[१] शब्द का प्रयोग करते ही क्यों है ? क्या ईप्सित अर्थ के वाचक शब्द का परिज्ञान उसे नहीं है, कि अमुख्य शब्द द्वारा वांछित अर्थ का बोध कराता है ? निश्चय है कि मुख्य शब्द से परिचित रहकर भी प्रयोक्ता अमुख्य शब्द का प्रयोग करता है ? ऐसा करने में उसकी अवहेलना कारण नहीं है, कुछ न कुछ विशेष प्रयोजनवश 'वह ऐसा करता है । यह प्रयोजन मुख्य शब्द के प्रयोग द्वारा प्राप्त नहीं हो पाता । अथवा कभी कभी परंपरागत प्रयोग से बाध्य होकर भी उसे ऐसा करना पड़ता है । सारांश यह कि जिस प्रकार इस अमुख्यार्थ की प्राप्ति में वाच्यार्थ का अनुपयोगी या बाधित होना अपेक्षित है, इसी प्रकार रूढ़ि (परंपरा) या प्रयोजन भी ।

इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि यह अमुख्य अर्थ मनमाना अर्थात् वाच्यार्थ से बिलकुल संबंध रखने वाला नहीं होता है, या वाच्यार्थ संबद्ध होता है । प्रथम पक्ष अव्यवस्था का जनक है, अतः द्वितीय पक्ष ही युक्तियुक्त जान पड़ता है । आधुनिक कविता में मनमानी उड़ान होने से आज का पाठक काफी अव्यवस्था का अनुभव करता है । अतः व्यवस्था स्थापित करने के लिये यह अपेक्षित है कि वह अमुख्यार्थ कुछ नियमों से बद्ध हो । इस अवसर पर विद्वानों का विचार है कि अमुख्यार्थ से मुख्यार्थ का संबंध होना नितांत अपेक्षित है । यह संबंध भी चाहे जैसा हो, सो नहीं, बल्कि सहृदय समाज से वह स्वीकृत होना चाहिए । आचार्यों ने दो, चार संबंधों[२] का निर्देश किया भी है ।

शक्तिविचार के नेतागण इस अमुख्यार्थ को लक्ष्यार्थ की संज्ञा देते हैं और इस अर्थ प्राप्ति में शब्द की जो शक्ति है, उसे लक्षणा और जिस शब्द में वह शक्ति होती है; उस शब्द को लक्षक शब्द कहते हैं ।

१—स्वायत्ते शब्दप्रयोगे किमित्यवाचकं पदं प्रयोक्ष्यामहे ?

२—अभिधेयेन संयोगात्सामीप्यात्समवायतः ।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता ।।

—ध्वन्यालोक की लोचन टीका से ।

लक्षणा का स्वरूप और प्राचीन तथा नव्य आचार्य—

(क) लक्षणा के स्वरूप के संबंध में यों तो कई मत हैं, पर मोटे-तौर पर प्राचीनों एवं नवीनों के दो प्रकार के विचार हैं। प्राचीन मीमांसक लक्षणा को 'ज्ञान' स्वरूप मानते हैं और इसमें तीन बातों को कारण मानते हैं (१) मुख्यार्थ बाध (२) मुख्यार्थ संबंध एवं (३) रूढ़ि अथवा प्रयोजन। प्रकाशकार मम्मट इन्हीं प्राचीन मीमांसकों के मत को मानते हैं और उन्हीं के अनुसार लक्षणा[१] के स्वरूप का परिचय देते हैं।

(ख) नव्य विचारकों ने लक्षणा को 'शक्य संबंध'[२] रूप बताया है। अर्थात् शक्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ जो संबंध है, वही लक्षणा कही जा सकती है। प्रथम मत में यह संबंध भी ज्ञानात्मा लक्षणा के निमित्तों में से ही एक माना गया है। इस मत में प्रथम मत के तीन निमित्तों में से दो को ही बाध एवं संबंध निमित्त माना गया है, अवशिष्ट एक को तो स्वयं लक्षणा ही मान लिया गया है। पंडितराज जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' में इसी नव्य मत को ही स्वीकार किया है।

सच पूछा जाय, तो दूसरा अर्थात् नव्यों का मत ही ग्राह्य है। कारण यह है कि शक्ति का सामान्य रूप 'संबंध' ही निश्चय किया गया है। वह 'संबंध' संबंधियों के भेद से भिन्न भिन्न होता जायगा ? उदाहरणार्थ, जब अभिधा रूप 'संबंध विशेष के संबंधी हैं—शब्द एवं अर्थ, तब लक्षणा रूप 'संबंध विशेष' के संबंधी होंगे—वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ। यहाँ लक्षणा, शक्यार्थ (या वाच्यार्थ) का लक्ष्यार्थ के साथ जो संबंध है, वही है। उदाहरण के लिये 'गंगा में घर है—यह एक वाक्य है और गंगा पद का 'प्रवाह' मुख्यार्थ है तथा 'तीर' अमुख्यार्थ। यहाँ प्रवाह एवं तीर का जो 'सामीप्य' संबंध है, वही लक्षणा है। इस प्रकार परिनिष्ठित मत 'संबंध' वाला ही है। इस उदाहरण में 'संबंध' रूप लक्षणा का संबंध शक्य या वाक्य अर्थ से है, अतः वस्तुतः लक्षणा अर्थनिष्ठ ही है, शब्द से इसका संबंध तो औपचारिक है।

ऊपर लक्षणा को शक्यार्थ का संबंध कहा गया है। और शक्यार्थ पद की अभिधा से प्राप्त अर्थ है। संस्कृत साहित्य में पद शब्द का कई अर्थों में

१—अभिधेयाविनाभूत प्रतीतिर्लक्षणोच्यते।—का० प्रकाश में उद्धृत
२ – मुक्तावली—"लक्षणाशक्यसम्बन्धः"।

प्रयोग किया गया है। व्याकरण शास्त्र के मनीषियों का विचार है कि पद वाक्य में प्रयोगार्ह शब्दों को ही कहना चाहिये। वाक्य में प्रयोगार्ह शब्द दो प्रकार के होते हैं—सुबन्त और तिङन्त। पाणिनीय का सूत्र ही है—'सुप्तिङन्तं[1] पदम्' अर्थात् 'सुबन्त' और तिङन्त ही पद हों। हिंदी की दृष्टि से इन्हें कारक एवं समापिका क्रिया कह सकते हैं। नैयायिकों की धारणा पद के संबंध में कुछ और ही है। उनकी दृष्टि से शब्द से पद बनाने में वैयाकरणों की भाँति विभक्ति के योग की अपेक्षा नहीं है। ये लोग किसी भी शब्द को पद कह सकते हैं। शर्त यह है कि वह शब्द किसी अर्थ में शक्त हो। मुक्तावलीकार ने कहा है—'शक्तं[2] पदम्। 'उदाहरणार्थ वैयाकरणों के यहाँ पदनिर्माण में प्रकृति एवं प्रत्यय (सुप्) दोनों का योग अपेक्षित है अर्थात् दोनों को मिलाकर पदसंज्ञा प्रदान की जाती है। जबकि इनके यहाँ दोनों में से प्रत्येक को किसी न किसी अर्थ में शक्त होने के कारण पद कहा जाता है। इन्हीं पदों से प्राप्त शक्यार्थ का संबंध लक्षणा कहा जाता है।

(ग) मीमांसक पद के साथ साथ वाक्य की भी लक्षणा मानते हैं। पर वाक्यार्थ शक्यार्थ नहीं है, शक्यार्थ तो पद का अर्थ है, अतः उससे (वाक्यार्थ) लक्षणा होगी कैसे ? इसी आपत्ति से बचने के लिये मीमांसकों ने लक्षणा का स्वरूप कुछ और ही निश्चित किया है। वे 'बोध्यार्थ[3] सम्बन्ध' को लक्षणा कहते हैं। इस बोध्यार्थ के परिवेश में शक्यार्थ एवं वाक्यार्थ दोनों का समावेश हो सकता है। क्योंकि पदार्थ या वाक्यार्थ दोनों ही पद या वाक्य के बोध्य अर्थ हैं।

लक्षणा के स्वरूप निरूपण के अनंतर अब उसके प्रभेदों पर आइये। यद्यपि इसके प्रभेदों पर भी शास्त्रकार एकमत नहीं है तथापि सर्व सम्मत एवं संक्षिप्त प्रभेद इस प्रकार है। पहले पहल इसके दो प्रभेद किये जाते हैं—निरूढ़ा एवं प्रयोजनवती। प्रयोजनवती के भी दो प्रभेद किये जाते हैं। इस प्रभेद के मूल में संबंध की विभिन्नरूपता काम करती है अर्थात् जहाँ शक्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ में सादृश्य से अन्य संबंध होते हैं वहाँ शुद्धा लक्षणा

१—सिद्धान्त कौमुदी

२—सिद्धान्त मुक्तावली

३—मीमांसैक देशिनस्तु शक्य संबंधो न लक्षणा × × × किंतु स्वबोध्य संबंध एव—मुक्तावली की प्रभा टीका

का प्रयोग होता है। शुद्धा के चार भेद होते हैं—उपादानलक्षणा, लक्षण-लक्षणा, सारोपालक्षणा और साध्यवसानालक्षणा। इस प्रकार सब मिलकर प्रकाशकार के मत से प्रयोजनवती के छः एवं निरूढ़ा को मिलाकर सात प्रभेद हो जाते हैं। इन प्रभेदों के स्वरूप एवं पारस्परिक पार्थक्य के निरूपण का विचार आगे यथास्थान किया जायगा।

तात्पर्यशक्ति—

लोकव्यवहार में आज्ञापरक वाक्यों का प्रयोक्ता (उत्तम वृद्ध या प्रयोजक वृद्ध) जब कभी प्रवर्तक ('आओ' आदि) या निवर्तक ('मत जाओ' आदि) वाक्यों का प्रयोग करता है तब उसे कार्यरूप में परिणत करने वाला व्यक्ति (मध्यमवृद्ध या प्रयोज्यवृद्ध) उक्त वाक्य के अर्थ का संपादन करता है। इस प्रकार के लोकव्यवहार का तटस्थ दर्शक एवं पद तथा पदार्थ के संबंध की व्युत्पत्ति को चाहनेवाला बालक उस वाक्य को भी सुनता है और उसके अर्थ का भी प्रत्यक्ष करता है। बालक जब उस मध्यम वृद्ध की अभिज्ञता पर विश्वास कर लेता है तब वह यह सोचता है कि उस वाक्य का मध्यमवृद्ध के द्वारा किये गये अर्थ से कोई न कोई संबंध अवश्य है। तभी तो वाक्य के उच्चारण के अनंतर उस प्रकार के अर्थ का संपादन किया गया। इस प्रकार पहले पहल उसे संपूर्ण वाक्य का पूरे वाक्यार्थ से संबंध गृहीत होता है। पीछे वही बालक जब उस वाक्य में से किसी पद के हटाने से वाक्यार्थ में से भी किसी पदार्थ को हटा हुआ देखता है अथवा वाक्य में किसी नवागत पद के कारण वाक्यार्थ में भी किसी नवागत पदार्थ का दर्शन करता है तो पृथक् पृथक् पदों का भी उन उन पदार्थों से जो संबंध है उसका भी ग्रहण करने लगता है। इसी संबंध को 'वाच्यवाचकभाव संबंध' कहते हैं। यही अभिधा का स्वरूप है। इसी के ज्ञान से हम किसी पद के वाच्यार्थ तक पहुँच पाते हैं।

उक्त रीति से जो संकेतग्रह होता है उस बेला में पदार्थ जिस रूप से रहेंगे उसी रूप से और उतने ही में संकेत मानना पड़ेगा। इतना तो निश्चित ही है कि व्यक्ति विशेष ही सामने उपस्थित होगा और वाक्यार्थ के संदर्भ में होने के कारण स्वतंत्र नहीं किंतु अन्वितरूप में अर्थात् अन्य पदार्थों से संबद्ध रूप में ही होगा। सारांश यह है कि 'यही संबद्ध व्यक्ति' पद का संकेतित होगा अर्थात् इसी रूप में संकेतग्रह होगा। इस प्रकार मीमांसकों का एक दल पद की शक्ति 'अन्वित पदार्थ में

मानता है और दूसरा दल इसका विरोध करता है। प्रथम का आग्रह यह है कि पदार्थ अन्वय के साथ संकेतिक होते हैं अतः पद की अभिधा अपूर्व अन्वित पदार्थ ही में रहती है। जबकि दूसरे का विचार है कि अन्वयांश सदैव अपूर्व अर्थात् नवीन होता है और इसीलिये अस्थिर भी। अतः उसमें शक्ति स्वीकार करना उचित नहीं। दूसरी आपत्ति यह है कि अनंतानंत शक्तियाँ कल्पित करनी पड़ेंगी। अतः अन्वयरहित अर्थ ही संकेतित अर्थात् पदार्थ होगा। प्रथम मत वाले 'अन्वित' में अभिधा मानते हैं इसलिये उन्हें अन्विताभिधानवादी कहते हैं जब कि दूसरे मतवाले अन्वयरहित पदार्थ में ही अभिधा मानते हैं और अन्वयांश की प्रतीति बाद में आकांक्षा, योग्यता, संनिधि एवं तात्पर्य के बल से प्राप्त करते हैं। ये लोग अभिहित का अन्वय मानते हैं इसीलिये अभिहितान्वयवादी कहे जाते हैं।

अभिहितान्वयवादियों के यहाँ वाक्य से वाक्यार्थ बोध या शब्द-बोध करने में एक प्रश्न खड़ा होता है और वह यों है—वाक्यार्थ के दो टुकड़े होते हैं पदार्थ और अन्वय। वाक्य सुनने के अनन्तर वाक्यगत विभिन्न पदों से पदार्थमात्र की स्मृति तो अभिधावृत्ति से हो जायगी पर अन्वयांश के लिये कोई वृत्ति स्वीकार न करने से उसकी उपस्थिति नहीं हो सकती। और जिस किसी प्रकार से उसकी उपस्थिति हो भी जाय तो वाक्यार्थ बोध या शब्द-बोध में उसका प्रवेश नहीं हो सकता। क्योंकि नियम यह है कि वाक्यार्थ में या शब्दबोध में उतनी ही सामग्री का प्रवेश हो पाता है जितनी कि शब्द की शक्ति या वृत्ति से लाई गई[1] हो। अतः यदि अन्वयांश का शाब्दबोध में प्रयोग कराना है तो उसके लिये अवश्य किसी न किसी वृत्ति की कल्पना करनी ही पड़ेगी। शब्द व्यापार की अपेक्षा न रखने वाले पदार्थों को भी यदि वाक्यार्थ में प्रवेश की छूट दे दी जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि चाहे कोई भी अर्थ हो किसी भी तरह से आया हो नियत वाक्य की परिधि में बैठ सकता है। इससे अव्यवस्था होगी। अतः अभिमत पदार्थों के निवेश और अवांछित के अप्रवेश के लिये किसी न किसी वृत्ति को मानना आवश्यक है। अभिहितान्वयवादियों ने अन्वयांश की प्राप्ति के लिये 'तात्पर्य' नाम की वृत्ति मानी है। साहित्यदर्पणकार ने इस बात को स्पष्ट ही कहा है—'तात्प-

---

१. वृत्त्यापदजन्यपदार्थोपस्थितिः शाब्द बोधे भासते। मु० श० ख०।

र्याख्यां[1] वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने' अर्थात् पदार्थों के पारस्परिक अन्वयबोध में उपयोगी वृत्ति को लोग तात्पर्य वृत्ति कहते हैं।

इस तात्पर्यवृत्ति की चर्चा और रूपों में भी हुई है। दशरूपककार ने भी एक तात्पर्यवृत्ति की कल्पना की है पर उसका स्वरूप भिन्न है। इनकी तात्पर्य वृत्ति का फैलाव काफी लम्बा है। यह वृत्ति केवल अन्वयबोध ही तक नहीं बल्कि निर्बाध प्रतीत होनेवाले सभी विवक्षित अर्थों (वाच्य एवं व्यंग्य) तक जाती है। इसे उन्होंने वाक्य की अभिधान शक्ति ही कहा है।

कुछ इसी से मिलता-जुलता मीमांसकों का 'यत्परः शब्दः, स शब्दार्थः यह न्याय भी है। इस न्याय का अर्थ यह है कि शब्दों का प्रयोग जिस तात्पर्य से किया जाता है वही उसका मुख्यार्थ होता है। इन लोगों के मत में वाक्यार्थ में जो अंश विधेय होता है उसी में वाक्य का तात्पर्य होता है और जितने में तात्पर्य है उतने में ही उस वाक्य का प्रामाण्य है। स्मरणीय है कि यह सिद्धांत वैदिक वाक्यों को ध्यान में रखकर ही स्थिर किया गया है। यहाँ वाक्य का ही कोई पद विधेयांश की प्रतीति कराता है और यही विधेयांश तात्पर्यार्थ होता है। इस विवेचन के आधार पर तात्पर्य के उक्त दोनों स्वरूपों से अंतर स्पष्ट लक्षित होता है। यहाँ तात्पर्यार्थ किसी वाच्य प्रयुक्त शब्द का विधेय अर्थ ही है। वह न तो अन्वयांशरूप है और न तो निर्बाध रूप से प्रतीत होने वाला विवक्षित अर्थ ही। यहाँ का तात्पर्यार्थ उक्त दोनों तात्पर्यार्थों से विलक्षण है अर्थात् प्रथम पक्ष में तात्पर्यार्थ अन्वयांश है। द्वितीय पक्ष में कोई भी उपात्त या अनुपात्त शब्द से आया हुआ विवक्षित अर्थ तात्पर्यार्थ है। पर तृतीय पक्ष में उपात्त शब्द द्वारा निवेदित विधेयांश मात्र ही तात्पर्यार्थ है।

रसना व्यापार—

शब्द के इस[2] व्यापार की चर्चा साहित्यदर्पणकार ने की है। उनका कहना यह है 'रस' की प्रतीति-अनुभूति-व्यंजना व्यापार से माननी ठीक नहीं है। इसे स्वादना या रसना जैसे एक विलक्षण व्यापार का कार्य मानना चाहिये। व्यंजना व्यापार पहले से ही सिद्ध अर्थ का प्रकाशन करता है। जैसे

१—साहित्यदर्पण द्वि० प०।

२—'विलक्षण एवायं————स्वादनाख्यः कश्चिद्व्यापारः'

अथवा—"रसव्यक्तौ पुनर्कोनीं रसनाख्यां परे विदुः"—साहित्यदर्पण।

प्रदीप पहले से ही सिद्ध या विद्यमान घट का प्रकाशन करता है। रस एवं उसके प्रकाशक विभावादि में वही संबंध नहीं है, जो घट एवं दीप में। जिस प्रकार व्यंजक प्रदीप से पूर्व ही और उससे सर्वथा निरपेक्ष रूप से घट की सत्ता पहले से सिद्ध है, उसी प्रकार रस के प्रकाशक विभावादि से पूर्व ही एवं उससे निरपेक्ष रूप से रस की सत्ता कहाँ सिद्ध है ? अतः यहाँ व्यंग्य-व्यंजकभाव मानना ठीक नहीं है। इस स्थल में इसीलिये एक पृथक् एवं सबसे विलक्षण व्यापार मानना उचित है और वही रसना है।

भावकत्व या भावना-व्यापार—

भुक्तिवादी भट्टनायक ने काव्य की तीन शक्तियाँ[1] मानी हैं—अभिधा, भावना एवं भोग। काव्य का लक्ष्य है रस का भोग कराना और यह कार्य काव्य विभावादिरूप पदार्थ का उपस्थापन करके करता है। किंतु काव्य-वाक्य में प्रयुक्त पदों से अभिधा द्वारा जो शकुंतला आदि पदार्थ प्रतीत होते हैं, वे पहले पहले शकुंतला के रूप से प्रतीत होते हैं। विचार करने की बात है कि पाठक या श्रोता, जिसे शृंगार रस की प्रतीति होनी है, उसकी रति का आलम्बन शकुंतला क्यों कर हो सकेगी ? परिस्थिति यह है कि श्रोता को शृंगार रस की अनुभूति होती है और यह अनुभूति आलम्बन के बिना बन नहीं सकती, पर आलम्बन शकुंतला के अतिरिक्त कुछ है नहीं और उसका आलम्बन होना युक्तिसिद्ध नहीं है। अतः इस अड़चन को दूर करने के लिये शकुंतला की इस रूप में प्रतीति होनी चाहिये, जिस रूप में वह पाठक, श्रोता इत्यादि सामाजिकों के रतिभाव का वह आलम्बन हो सके। इस रसोपयोगी रूप की प्राप्ति के लिये भावना नाम के व्यापार की कल्पना की गई है। भावना-व्यापार के फलस्वरूप वह शकुंतला अपनी उन सारी विशेषताओं का परित्याग कर देती है, जिनसे युक्त होकर प्रतीत होने पर वह आलम्बन नहीं बन पाती। वह साधारण नायिका के ही रूप में प्रतीति का विषय रह जाती है। अब इस रूप में आलम्बन बन जाती है और इस प्रकार रसनिष्पत्ति हो जाती है।

भोजकत्व या भोग—

भट्टनायक ने भोग-व्यापार का कार्य रसानुभव को माना है। 'भोग[2] के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा है—'विभावादि का ज्ञान होने

१—'अभिधा भावना चैव तद्भोगीकृतिरेव च'—रसगंगाधर में उद्धृत।

२—सत्वोद्रेकप्रकाशानंदमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन' का० प्र०, च० उ०

पर एक समय वह आता है, जब अन्तःकरण में रजोगुण एवं तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण प्रबल हो जाता है और इसके उद्रेक (प्राबल्य) का फल यह होता है कि मन के सारे विक्षेप शांत हो जाते हैं तथा चित्तवृत्ति आनंद-मयी हो जाती है। ज्ञानस्वरूप चित्तवृत्ति आनंद के साथ साथ विभाव आदि सामग्री को भी विषय किये रहती है। इस प्रकार रसोपयोगी विषयों से संबलित आनंदमयी संवित्ति ही भोग का तत्त्व है।

आलंकारिक उपर्युक्त छः शब्द शक्तियों से अतिरिक्त एक व्यंजना नाम की शक्ति भी मानते हैं। ये लोग उक्त कुछ शक्तियों से व्यंजना को सर्वथा पृथक् मानते हैं और इनमें से कुछ को व्यंजना के स्वरूप से पृथक् नहीं मानते। इसकी विशेष चर्चा अगले अध्याय में की जायगी।

तृतीय परिच्छेद

व्यंजनाशक्ति का सामान्य स्वरूप

व्यंजना शक्ति का सामान्यतः अर्थ होता है प्रकाशनशक्ति[1]। यह प्रकाशनशक्ति प्रकाशक के अनुरूप भिन्न भिन्न होती है। दीप तो प्रकाशन करता ही है, किसी न किसी अर्थ का प्रकाशन करती है चेष्टा भी। इतना ही नहीं राग (संगीत के) भी विभिन्न रसों का प्रकाशन ही करते हैं। तमाम ज्योतिष्पिंड प्रकाशक ही तो हैं। प्रकाशक मात्र प्रकाशन कालमें प्रकाश्यवस्तु से सर्वथा पृथक् अपनी सत्ता रखते हैं। ऐसे प्रकाशक की दूसरी संज्ञा ज्ञापक भी है। कारण के जो दो वर्ग हैं, वे हैं ज्ञापक और कारक। ज्ञापक या प्रकाशक का कारक (जनक) कारण से यही अंतर है कि कारक या जनक (मिट्टी आदि) कारण जब किसी पदार्थ (घड़े आदि) को प्रकट करते हैं, तो उस समय वे कारक-कारण कार्य से अपनी सत्ता पृथक् नहीं रख पाते, वे कार्य के रूप में परिणत होकर वही हो जाते हैं, उनकी उपलब्धि कार्य से पृथक् होकर नहीं होती। प्रकाशक कारणों में यह बात नहीं है, वे जिस पदार्थ को प्रकट करते हैं, उनसे पृथक् अपनी सत्ता रखते हैं। इस प्रकार कारक कारणों से भिन्न इन प्रकाशकों का व्यापार ही व्यंजनव्यापार या प्रकाशन व्यापार है।

यहाँ पर हमें जिस व्यंजन या प्रकाशनशक्ति का विचार करना है उसका संबंध शब्द से है अर्थात् उसकी चर्चा हमें एक शब्द-शक्ति के रूप में करनी है। प्रश्न है क्या शब्द भी प्रकाशक है? उसके द्वारा भी कुछ अर्थ प्रकाश में आते हैं? हाँ! प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण जिस प्रकार किसी अर्थ का ज्ञान कराते हैं, वैसे ही शब्द भी। तमाम अन्य प्रमाणों में शब्द भी एक प्रमाण है और उससे भी अर्थों का प्रकाशन होता है। ध्यान रखने की बात है कि शब्द-प्रयोग के अनंतर प्रतीत होने वाले सभी अर्थ शब्दप्रमाण के ही विषय नहीं होते। कुछ प्रमाण ऐसे भी हैं, जिनमें शब्द-प्रयोग होता है, शब्द की सहायता

१—The word व्यंजन literally means "Making menifest" —रस मीमांसा।

ली जाती है और उसके अनंतर अर्थ प्रतीत होते हैं, फिर भी वे शब्द प्रमाण से प्राप्त नहीं कहे जाते। शब्द प्रमाण से उपलब्ध अर्थ तो वही कहा जा सकता है, जिसमें किसी अन्य प्रमाण[1] की गम न हो। शब्द का अर्थ होने के लिए, केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि अन्य प्रमाण से न प्राप्त हो, बल्कि साथ ही यह भी अपेक्षित है कि वह अर्थ शब्द के ही किसी न किसी व्यापार से प्राप्त हो। ऐसा ही अर्थ शब्द का अर्थ है। फिर भी स्मरणीय है कि इन सभी अर्थों की दृष्टि से शब्द को हम उनका प्रकाशक नहीं कह सकते। और इसीलिये शब्द के प्रत्येक अर्थ में शब्द के व्यापार को प्रकाशनव्यापार नहीं कह सकते। समस्या यह खड़ी होती है कि किस अर्थ को लेकर उसके प्रति हम शब्द को प्रकाशक कहें और क्या कारण है कि अन्य अर्थों के प्रति हम शब्द को प्रकाशक न कहें ?

पहले यह देखा जाय, कि किस अर्थ को लेकर शब्द को प्रकाशक और उसके व्यापार को प्रकाशन व्यापार कहा जाय ? यह फिर बाद में विचार करेंगे कि क्यों उसी अर्थ के प्रति शब्द को हम प्रकाशक कहें ?

विचारकों ने यह तय किया है कि शब्दप्रयोग के अनंतर शब्द की वृत्तियों से जो अर्थ मिलते हैं या मिल सकते हैं, वे दो प्रकार के होते हैं—(१) निर्बाध प्रतीत होने वाले एवं (२) सबाध प्रतीत होने वाले। 'लक्षणा' के अवसर पर बताया गया है कि लक्षणा मुख्यार्थ के बाध होने पर ही अर्थदान के लिये प्रवृत्त होती है, अतः शब्द की लक्षणा शक्ति से प्राप्त होनेवाला अर्थ सबाध प्रतीत होनेवाला अर्थ है। निर्बाध प्रतीत होनेवाले अर्थों के कई प्रकार एवं स्तर हैं। अथवा संक्षेप में यह कह सकते हैं कि लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त शब्द की वृत्तियों से मिलनेवाले सभी अर्थ निर्बाध प्रतीत होनेवाले हैं। अर्थात् लक्षणा वृत्ति के अतिरिक्त पूर्व परिच्छेद में चर्चित (व्यंजना के अतिरिक्त) पाँच शब्दवृत्तियां तात्पर्य, अभिधा, भावना, भोग एवं रसना हैं। इनमें से प्रत्येक द्वारा प्राप्त अर्थ निर्बाध प्रतीत होनेवाला अर्थ है। इन पाँचों में से भी अभिधा एवं तात्पर्य वृत्ति से प्राप्त होनेवाले वाच्यार्थ या अन्वयार्थ (तात्पर्यार्थ) को लेकर शब्द को प्रकाशक नहीं कहा जा सकता। व्यंजनावादियों ने अवशिष्ट शक्तियों–भावना, भोग, एवं रसना–से निर्बाध प्रतीत होनेवाले अर्थों को लेकर शब्द को प्रकाशक कहा है। इन्हीं वृत्तियों से प्राप्त होनेवाले

१—अनन्य लभ्यो हि शब्दार्थः

अर्थों के प्रति शब्द का जो व्यापार है, उसे प्रकाशन व्यापार कहा जाता है और यही व्यंजन व्यापार है। आगे अवसर आने पर यह सिद्ध किया जायगा, कि भावना, भोग एवं रसना व्यंजना ही हैं, व्यंजना के ही विभिन्न रूप हैं, उनकी व्यंजना के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है पर व्यंजना इन तीनों से अतिरिक्त कार्य भी करती है। उसकी प्रसारभूमि और भी है केवल उन तीनों के कार्य तक ही सीमित नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट किया गया कि किन अर्थों की दृष्टि से शब्द को प्रकाशक एवं उसके व्यापार को प्रकाशन या व्यंजना कहा जाना चाहिए।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्यों इन्हीं तीन शक्तियों (भावना, भोग, रसना) से प्राप्त अर्थ को 'प्रकाश्य' या 'व्यंग्य' कहना चाहिए और अन्य शक्तियों से प्राप्त अर्थ को नहीं ? वस्तुतः यह बात सकारण है। उक्त तीनों शक्तियों [भावना, भोग, रसना] तथा व्यंजन के द्वारा अतिरिक्त रूप से प्रकाश में आने वाले अर्थ शब्द के अपने अर्थ (वाच्यार्थ) नहीं होते, बल्कि वे अर्थान्तर होते हैं अर्थात् दूसरे शब्दों के वाच्यार्थ होते हैं अथवा सर्वथा वाच्यार्थ होते ही नहीं। इन स्थलों में शब्द का अर्थांतर की प्रतीति कराने में जो व्यापार है, उसे प्रकाशन ही कहना युक्तियुक्त है।

इस विश्लेषण के आधार पर 'व्यंजना' का स्वरूप स्थिर करना चाहें, उसकी परिभाषा बताना चाहें तो यों कह सकते हैं—

'प्रमाणांतर से अप्राप्त, किंतु शब्दप्रमाण से प्राप्त उस अर्थ के प्रति किया गया व्यापार व्यंजना है जो शब्द की अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य वृत्ति से उपलब्ध न हुआ हो।'

उक्त विश्लेषण के अतिरिक्त इस परिभाषा को समझने में इसकी सोदाहरण व्याख्या की आवश्यकता है। पहले एक उदाहरण देकर वहाँ किसी परिनिष्ठित व्यंग्यार्थ को स्थिर कर लें, फिर उसमें परिभाषागत सारी शर्तों को घटायें तो अच्छा होगा।

किसी मजदूर का वाक्य है—'बाबू जी। अब तो शाम हो गई'। विचार किया जाय कि मजदूर इन शब्दों को खर्च करके किस मनोगत भाव का प्रकाशन करना चाहता है ? स्पष्ट है कि मजदूर का अभिप्रेत यहाँ समय बताना नहीं है, किंतु यह कि—'अब हमें छुट्टी होनी चाहिए।' यही अर्थ शब्द का प्रकाश्य है और इसी में शब्द का प्रकाशन व्यापार है।

उक्त परिभाषा के तीन अवयव हैं—(१) व्यंजना एक विशेष अर्थ की प्राप्ति में शब्द का व्यापार है (२) दूसरा यह कि वह अर्थ प्रमाणांतर से अप्राप्त हो। (३) तीसरा यह कि वह अर्थ शब्द की अभिधा लक्षण, एवं तात्पर्यवृत्ति से न आया हो ।

जहाँ तक प्रथम अवयव की बात है, 'अब हमें छुट्टी होनी चाहिए' यह एक विशेष अर्थ है और इस अर्थ की प्राप्ति में शब्द का जो व्यापार है, वह व्यंजना है। दूसरी शर्त है कि वह अर्थ ऐसा हो, जो प्रमाणांतर से अप्राप्त हो। प्रमाणांतर से तात्पर्य है—शब्दप्रमाण से अतिरिक्त प्रमाण। 'शब्द प्रमाण से अतिरिक्त सब ७ प्रमाण हैं, जो किसी प्रकार के अर्थ की प्रमा (ज्ञान) में कारण (उपाय) हैं। वे सात हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य एवं संभव। उक्त व्यंगार्थ में सातों प्रमाणों में से किसी की गति नहीं है। उक्त व्यंग्यार्थ किसी ज्ञानेन्द्रिय से प्रतीत नहीं हुआ है, अतः प्रत्यक्ष की तो संभावना ही नहीं है। अनुमान प्रमाण का विषय यह अर्थ क्यों नहीं है ? इस प्रश्न का विस्तृत विचार 'आर्थी-व्यंजना' के निरूपण के अवसर पर किया जायगा। उपमान प्रमाण की सहायता वहाँ ली जाती है, जहाँ एक सदृश पदार्थ से दूसरे सदृश पदार्थ का ज्ञान कराना अभीष्ट हो जैसे:—'गौ' की उपमा से नीलगाय का स्वरूप पहचनवाना हो। यहाँ ऐसी कोई बात नहीं है। 'अर्थापत्ति' को तो वैशेषिक विद्वान् अनुमान के भीतर ही समेट लेते है, अतः उसकी चर्चा अनुमान के साथ ही लगी है। अनुपलब्धि वह प्रमाण है जो किसी पदार्थ के अभाव का ज्ञान कराता है। यहाँ जो व्यंग्यार्थ है, वह अभाव रूप नहीं है। 'ऐतिह्य' प्रमाण को शब्द प्रमाण के भीतर ही आचार्य लोग रख लेते हैं/और 'संभव' को अनुमान में। सारांश यह कि उक्त व्यंग्यार्थ शब्द प्रमाण से ही लभ्य है, प्रमाणांतर से नहीं। तीसरी शर्त यह कि वह व्यंग्यार्थ शब्द की अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य शक्ति से लभ्य न हो। प्रयोक्ता के वाक्यों में जितने पद हैं उनकी अभिधा उक्त अभिप्रेत अर्थ में नहीं है, अतः इस उक्त वाक्यार्थ के कोई भी (पदार्थ रूप) अवयव अभिधा से लब्ध नहीं हैं। तात्पर्य वृत्ति वाच्य पदार्थों के अन्वयांश के लिये होती है, यहाँ के पदार्थ ही जब वाच्य नहीं, तो उनके संबंध की बात ही करनी निरर्थक है। इस प्रकार उक्त वाक्यार्थ के दोनों अवयव—पदार्थ एवं अन्वय में—न तो अभिधा ही कार्य करती है और न तात्पर्य ही। लक्षणा का प्रसंग यहाँ इसलिये नहीं उठ सकता है कि उसके उठने का कारण ही नहीं है। लक्षणा तब होती है,

जब वाक्य का वाच्यार्थ बाधित असंगत या अनुपयोगी होता है, यहाँ न तो वाक्यार्थ बाधित ही है, न असंगत और न अनुपयोगी ही।

इस प्रकार परिभाषा की तीनों शर्तें यहाँ ठीक उतर गई और एक ढंग से व्यंजना का स्वरूप स्थिर हो गया।

व्यंजना के स्वरूप के संबंध में शास्त्रकारों ने दो ढंग से विचार किए हैं— (१) निषेधमुखीन तथा (२) विधिमुखीन। 'निषेधमुखीन' से तात्पर्य यह कि व्यंजना का अपना भावात्मक रूप क्या है? यह न बताकर उसका परिचय 'नेति' 'नेति' के माध्यम से दिया जाय। अर्थात् व्यंजना अभिधा नहीं, लक्षणा नहीं, तात्पर्य नहीं बल्कि इनसे भिन्न जो कुछ शब्दशक्ति है, वही व्यंजना है। उक्त परिभाषा इसी 'निषेधमुख' वाली पद्धति से ही व्यंजना के स्वरूप का परिचय देती है। वस्तुतः साहित्यशास्त्र के उच्चतम ग्रंथों में व्यंजना के स्वरूपनिरूपण का प्रयास अधिकतर ही क्या, प्रायः पूर्णतः इसी पद्धति से किया गया है। 'विधिमुख' से कहीं विचार है भी तो वह इतना क्षीणकाय है कि निषेधमुखी पद्धति की बीहड़ झाड़ी में विचारा तिरोहित हो गया है।

विधिमुखी विचारकों में पंडितराज जगन्नाथ, प्रसिद्ध वैयाकरण नागो जी भट्ट तथा कुछ अन्य मनीषी हैं।

(१) पंडितराज का मत है कि व्यंजना या व्यक्ति 'चित्' ही है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक रसगंगाधर में रस निरूपण के अवसर पर एक जगह कहा है कि "व्यक्तिश्च भग्नावरणाचित्"—अर्थात् भग्नावरण चित् ही व्यक्ति या व्यंजना है। प्राचीन विचारकों ने भी व्यंजना को 'ज्ञानस्वरूप' ही स्वीकार किया है। उक्त चित् सर्वदा 'व्यक्ति' या व्यंजना की स्थिति में नहीं है, बल्कि जब विभाव, अनुभाव एवं संचारी के संमिलित व्यापार के फलस्वरूप इन विषयों के प्रति आत्मा के चिदंश पर पड़ा हुआ आवरण भंग हो जाता है, तभी वह उन विभावादिकों का प्रकाशक होने के कारण औपचारिक रूप से 'व्यक्ति' कहा जाता है।

परंतु व्यंजना या प्रकाशन का एक यही रूप नहीं है, हाँ व्यंजना के प्रकाशक भेद से जितने भिन्न भिन्न रूप होते हैं, उनमें से एक यह भी है।

(२) दूसरा विचार नागेश जी का है। इन्होंने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक लघुमंजूषा में व्यंजना के स्वरूप पर कुछ विचार किया है और बताया है कि

१—प्र० आ० पृ० २६, १६४७। रस गंगाधर।

व्यंजना 'संस्कार' विशेष है और वस्तुतः वह व्यंजना तब है, जब ग्राहक व्यंजक वाक्य के प्रयोक्ता एवं प्रसंग आदि के विशेषताओं के ज्ञान से तथा अपनी प्रतिभा के बल से उसे उद्बोधावस्था में या जागरावस्था में ले आता है। सारांश यह कि वक्ता आदि के वैशिष्ट्य तथा ग्राहक की प्रतिभा के बल से जगाया हुआ संस्कार[1] ही व्यंजना है।

यह मत बड़ा सुविचारित है। अनुभव भी कहता है कि ग्राहक व्यंजक वाक्यों के श्रवण के अनंतर वाच्यार्थ से संतुष्ट नहीं होता, अतः वक्ता, देश एवं काल आदि के संदर्भ में उस वाच्यार्थ से संबद्ध उसके अनेक संस्कार जगने लग जाते हैं—अनुसंधान आरंभ हो जाता है और उन्हीं से किसी अभिप्रेत अर्थ का जगा हुआ संस्कार व्यंग्यार्थ का स्मरण कराकर वहाँ तक हमें पहुँचा देता है। मनुष्य के अंतःकरण में विविध प्रकार के संस्कार पड़े हुए हैं, वे अपने संबंधी के ज्ञान से उभड़ते चले जाते हैं। इस प्रकार के उभाड़ का वेग सब में नहीं होता, बल्कि जो प्रतिभाशील लोग होते हैं उन्हीं में होता है।

(३) कुछ लोगों का विचार है कि व्यंग्यार्थ शब्द का एक अर्थ है और शब्दों के जितने अर्थ होते हैं, वे सब शब्द की शक्ति द्वारा ही प्राप्त होते हैं। शक्ति चाहे कोई हो, उनका एक सामान्य रूप तो होना ही चाहिए फिर कुछ अन्य विशेषताओं के कारण वह शक्ति मात्र का सामान्य रूप अवांतर प्रभेदों में विभक्त हो प्रथम अध्याय में शक्ति का सामान्य रूप 'संबंध' (पद का पदार्थ से) ही बताया गया है और उसके अनुसार अभिधा तथा लक्षणा 'संबंध' विशेष रूप ही निश्चित भी की गई हैं। इस रीति से 'व्यंजना' को भी 'संबंध' रूप ही होना चाहिए। संबंध रूप होने पर भी अभिधा और लक्षणा जैसे एक ही नहीं हैं, बल्कि संबंधियों के भेद के कारण भिन्न भिन्न हैं, वैसे ही व्यंजना भी संबंधरूपा होती, फिर भी किसी भेदक के कारण भिन्न हो जाती तो एक मान्य विचारपद्धति होती।

(४) व्यंजना के स्वरूप का परिचय देते हुए डा० नगेंद्र[2] ने कहा है— 'व्यंजना शब्द की वह शक्ति है, जो कल्पना (चित्र विधायिनी शक्ति) को

१—वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद् बुद्धसंस्कारविशेषो व्यञ्जना'

—लघुमञ्जूषा।

२—ध्व० आ० [हिंदी] प्रथम संस्करण।

उकसाए।' उन्होंने लिखा है कि 'अपनी कल्पनाशक्ति का नियोजन करके कवि भाषाशब्दों को एक ऐसी शक्ति प्रदान करता है कि उन्हें सुनकर सहृदय को केवल अर्थबोध ही नहीं होता, वरन् उसके मन में एक अतिरिक्त कल्पना भी जग जाती है जो परिणति की अवस्था में पहुँचकर रस संवेदन में विशेषतया सहायक होती है। शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगाने वाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने व्यंजना और रस के इस संबंध रूप को ही 'रसध्वनि' कहा है।'

अब इन चारों मतों की युक्तियुक्तता पर विचार करना चाहिए। सबसे पहले हम अंतिम मत को ही लेते हैं। यह मत काफी सुविचारित न होने के कारण ग्राह्य नहीं है। पहला दोष इस पक्ष में तो यही दिया जा सकता है कि व्यंजना यदि एक शब्दशक्ति है (इसी रूप में डा० साहब विचार कर रहे हैं) तो उसका कार्य होगा—'अर्थ प्रकाशन' न कि 'कल्पना का जागरण।'

इस मत में व्यंजना को शब्द की एक शक्ति के रूप में निर्देश करते हुए भी उसका कार्य बताया गया है—कल्पना का जागरण। नगेन्द्र जी ने इस कल्पना शब्द का प्रयोग 'चित्रविधायिनी शक्ति' के रूप में किया है। इस मत की परीक्षा करने के लिये आवश्यक यह है कि हम पहले कल्पना का स्वरूप निश्चय कर लें। हिंदी साहित्य के क्षेत्र में 'कल्पना' शब्द कहाँ से आया? इस प्रश्न में जो संभावनायें की जा सकती हैं, वे यही हैं कि या तो यह (i) भारतीय संस्कृत साहित्य से आया होगा अथवा (ii) या स्वयं उद्भावित होगा या (iii) दूसरे साहित्य से अनूदित होकर आया होगा। जहाँ तक प्रथम संभावना है, वह ठीक नहीं। संस्कृत साहित्य के लक्षणग्रंथों में 'काव्य-हेतु' के प्रसंग में कल्पना की चर्चा सर्वथा नहीं है। वहाँ तो शक्ति, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास की ही चर्चा है। कहीं कहीं 'समाधि' तथा 'प्रतिभा' की भी चर्चा है। हाँ, साहित्य शास्त्र के लक्षण ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य वेदांतपरक शास्त्रों में 'कल्पित'—(कल्पना की गई) आदि शब्दों की चर्चा अवश्य आई है। यहाँ 'कल्पना' शब्द मिथ्याज्ञान या मिथ्यारचना के लिए अनेकशः प्रयुक्त हुआ है। अमरकोशकार[1] ने भी 'प्रबंध[2] कल्पना कथा' तथा 'कल्पना सज्जना समे'—इन दो स्थानों पर इसकी चर्चा की है। यहाँ पर 'रचना' के

१—अ० को० (नि० सा०) का षष्ठ सं०, पृ० २७६, का० ४२।
२—वही, पृ० ६५ श्लो० ६।

अर्थ में कल्पना शब्द का प्रयोग है। व्युत्पत्ति (Derivation) की दृष्टि से विचार करें, तो यह शब्द सामर्थ्यार्थक 'कृप' धातु से निष्पन्न हुआ है, अतः इसका अर्थ हुआ—'सामर्थ्य'। श्री[1] हर्ष ने भी 'अजालुसंकल्पित कल्पनायाम्' में 'कल्पना' को 'सिद्धि' के अर्थ में प्रयुक्त किया है। 'हाथी को सजाने' के अर्थ में भी 'कल्पना' शब्द का प्रयोग है। अमरकोष के टीकाकार ने प्रसिद्ध टीका 'रामाश्रमी' में 'कल्पना' का अर्थ 'रचना' करते हुए उसका पर्याय 'स्तोकसत्या' (कम सच्ची) भी दिया है। इस तरह विविध अर्थों में प्रयुक्त होता हुआ भी 'कल्पना' शब्द हिंदी में अथवा हिंदी में क्यों, जिस अर्थ में नागेंद्र जी ने लिया है, उस अर्थ में 'कल्पना' शब्द का स्रोत संस्कृत साहित्य में भी नहीं है। हिंदी में भी आज यह शब्द प्रायः उक्त अर्थ में ही चल रहा है। 'चित्रविधायिनी शक्ति' के अर्थ में 'कल्पना' शब्द अंग्रेजी (Imagination) इमेजिनेशन का अनुवाद है, हिंदी साहित्य की अपनी मौलिक उद्भावना नहीं। अतः ऊपर की तीनों संभावनाओं में से अंतिम संभावना ही ग्राह्य है।

इमेजिनेशन (Imagination) शब्द का अर्थ है[2] (the Faculty of forming imagination) अर्थात् कल्पना वह शक्ति है, जिसके बल से अंतः करण में नव-प्रतिमाओं का निर्माण होता है। भारतीय दृष्टि से विचार करें तो कल्पना का स्वरूप इस प्रकार समझाया जा सकता है—हमारी ज्ञानेंद्रियाँ वस्तुओं या भावों का जब उपेक्षात्मक नहीं, किंतु अपेक्षात्मक ढंग से अनुभव करती हैं तो उसका अंतःकरण में जो संस्कार उत्पन्न होता है, वह गाढ़ होता है। गाढ़ होने का तात्पर्य यह है कि थोड़ी सी उत्तेजना पाने पर वे शीघ्र ही उभड़ जाते हैं। ये संस्कार सूक्ष्म रूप से पूर्वानुभूत भावों के उनकी छोटी छोटी विशेषताओं के साथ संचित रूप हैं। जब कभी आंतर मनोराग अंतःकरण को विवश कर देता है कि वह उनके बाहर होने की व्यवस्था करे और वह व्यवस्था ऐसी हो, कि दूसरे उन मनोभावों को उसी रूप में ग्रहण कर सकें, तो स्थूल की सृष्टि शुरू हो जाती है ताकि इसीके माध्यम से मनोभाव हृदयांतर में संक्रमण कर सकें, तब कल्पनाशक्ति

१—नैषधीय चरित (१९१२ वि० सा०) १० सर्ग ६८ वीं श्लोक।

२—Chamber's Twentieth Century Dictionary

जागरूक होकर सृष्टि व्यंजना में संलग्न हो जाती है। इस नवसर्जन में अंतःकरण की सारी वृत्तियाँ कार्यप्रवण हो जाती हैं। चित्त अनुसंधानपूर्वक संबद्ध संस्कारों को जगाता है, मन की संकल्पविकल्पात्मा क्रिया से बुद्धि एक निश्चित रूप खड़ा करती है। बुद्धि का यह रूप तर्कप्रधान नहीं होता, बल्कि ऊहापोह की विवेक शक्ति से भिन्न उसका सहज, अतर्क प्रतिष्ठ रूप है। काण्ट का एस्थेटिक इमेजिनेशन यही है।

संस्कृत साहित्य में आधुनिक 'कल्पना' के मेल में कोई वस्तु है तो 'प्रतिभा' ही, इन दोनों के स्वरूप पर जितना ही विचार किया जाय, दोनों की एकरूपता पुष्ट ही होती जायगी। संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध आलंकारिक आचार्य अभिनव गुप्तपाद ने 'प्रतिभा' का स्वरूप कई स्थानों पर बताया है। एक जगह कहा है—'प्रतिभा[1]=अपूर्व वस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा अर्थात् अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ कवि की प्रज्ञा ही प्रतिभा है। कहीं कहीं प्रतिभा का पर्याय लोचनकार ने 'प्रख्या'[2] भी कहा है और उसका भी व्यापार है कारण कलाप के बिना अपूर्व वस्तु का निर्माण करना (अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति बिना कारणकलाम्)। अभिनव ने इसे काव्यशक्ति के रूप में भी बताया है—'शक्तिः[3] प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेख[3] शालित्वम्'। यहाँ काव्यशक्ति प्रतिभा के रूप में कही गई है। और उसका कार्य भी लगभग वही है अर्थात् यहाँ भी वर्णनीय वस्तु से संबद्ध नव नव पदार्थों का उल्लेख होता है।

प्रतिभा के इस विवेचन में स्पष्ट ही उसे अंतःकरण का एक वह व्यापार कहा गया है, जो 'अपूर्व वस्तु का निर्माण करे'। कल्पना भी तो यही करती है। प्रतिभा के इस रूप की चर्चा और आचार्यों ने भी की है और प्रायः सबकी मिलती-जुलती ही उपस्थापना है। पंडितराज जगन्नाथ ने कहा है काव्य घटना के अनुकूल[4] शब्द एवं अर्थ की उपस्थिति प्रतिभा है। रुद्रट ने भी शक्ति का यही रूप बताया है। उन्होंने कहा है कि शक्ति[5] वही है, जिसके बल से सामाधिस्थ मन में नव नव पदार्थों तथा अक्लिष्ट

१—ध्व० आ० लो० पृ० ६२, १९४० का चौखंभा संस्करण।
२—वही, पृ० १ लोचन का प्रथम मंगलाचरण।
३—वही, लोचन, पृ० ३१७।
४—रसगंगाधर, पृ० आ० पृ० सं०।
५—काव्यालंकार।

अर्थात् सरस पदों का स्फुरण होता रहे। राजशेखर[1] ने भी बताया है कि प्रतिभा वही है जो विविध प्रकार के शब्द, अर्थ, उक्ति, अलंकार एवं इसी प्रकार अन्य उपयोगी तत्वों का प्रतिभास कराती हो। शिव में सतत विश्राम करने वाली (परा प्रतिभा) की भाँति कवि की प्रतिभा भी विलक्षण विश्व का उन्मीलन करती है[2]। शक्ति[3] एवं प्रतिभा कहीं कहीं समान अर्थ में और कहीं कहीं असमान अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं।

इस प्रकार जैसे भारतीयों ने प्रतिभा को 'काव्य हेतु' के रूप में पकड़ा है और उसकी चर्चा की है, उसी प्रकार अंग्रेजी कवियों ने भी (इमैजिनेशन) को काव्य बीज के रूप में निर्दिष्ट किया है। शेली ने कहा है—(Poetry is the expression of imagination)

अर्थात् कविता कल्पना का बाह्य रूप है।

इस लंबी चर्चा का लक्ष्य यही सिद्ध करना है कि प्रतिभा और कल्पना कार्य की दृष्टि से एक ही तत्व हैं। आचार्य शुक्ल ने भी प्रतिभा[4] एवं कल्पना को एक कहा है।

जैसे कर्ता की दृष्टि से कल्पना एवं प्रतिभा एक है, वैसे ही ग्राहक की दृष्टि से काव्यार्थ के ग्रहण में भी कल्पना और प्रतिभा एक है। अब इस एकता के आलोक में डा० साहब के उक्त आलोच्य वाक्य को लेना चाहिए, जिसमें उन्होंने व्यंजना का स्वरूप उपस्थित किया है। उन्होंने शब्द की व्यंजना शक्ति का कार्य कल्पना का जागरण माना है। डा० साहब कल्पना के जागरण से पूर्व ही व्यंजना व्यापार की क्रिया समाप्त करते हैं। कल्पना-जागरण के अनंतर काव्य में रसावस्था तक पहुँचने में जो स्तर पार करने पड़ते हों, आपके मत से व्यंजना की वहाँ कोई आवश्यकता ही नहीं है। (यहाँ कल्पना या व्यंजना का विचार ग्राहक के ही पक्ष से है)। कल्पना के जग जाने पर काव्य में ग्राहक की दृष्टि से होता यह है कि ग्राहक उसी शक्ति के बल से कवि के विशेष शब्दों या चित्रमय शब्दों के अर्थों को चित्र रूप में ग्रहण करता है। कर्ता की कल्पनाशक्ति जिन चित्रों से समन्वित करके शब्द

१—काव्यमीमांसा।

२—अभिनव भारती।

३—काव्य प्रकाश में 'शक्ति' शब्द प्रतिभा से भिन्न अर्थ में गृहीत है।

४—चिंतामणि—'काव्य में अभिव्यंजनावाद'।

योजना करती है, ग्राहक की कल्पनाशक्ति उन्हीं तारों को उघाड़ती है और उन विभावादि रूपचित्रों का साक्षात्कार करती है और ये ही कल्पित या भावित अर्थ रसानुभूति तक पहुँचाते हैं। इस भावित सामग्री एवं रसानुभूति के मध्य इतना सूक्ष्म व्यापार होता है, कि उसका पता तक नहीं चलता। इसलिये भारतीय आचार्य रस को असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य कहते हैं। यहाँ क्रम इस प्रकार हुआ—शब्द श्रवण—अभिधा—समर्पित वाच्यार्थ—भावित अर्थ—रसानुभूति। अर्थात् शब्द श्रवण के अनंतर प्रथम स्तर पर ग्राहक शब्दों की अभिधाशक्ति से पदार्थों को 'विशेष' रूपबोधित करता है द्वितीय स्तर में भावना या जागृत कल्पना से उस विशेष अर्थ को रसोपयोगी स्थिति में ले आता है फिर अंत में इन्हीं 'भावित अर्थों' की सहायता से रसानुभूति होती है। यह रसानुभूति उन भावित अर्थों से व्यंग्य होती है अर्थात् व्यंजना द्वारा आती है। स्पष्ट है कि इस भारतीय प्रक्रिया में भावित अर्थों एवं रसानुभूति के बीच भी व्यंजना कार्य करती है जबकि डा० साहब ने उसे प्रथम एवं द्वितीय स्तर के ही बीच समाप्त कर दिया है। प्रथम स्तर है शब्द श्रवण से अभिधेयार्थ तक पहुँचना और द्वितीय स्तर में हम अभिधेयार्थ से भावित या 'कल्पित अर्थ' वाले स्तर तक पहुँचते हैं। डा० साहब की व्यंजना इस स्तर को पार नहीं करती।

हाँ, 'वाच्यार्थ' एवं 'भावितार्थ' के बीच भी व्यंजना है, पर वह भी कल्पना-जागरण कर्त्री शक्ति के रूप में नहीं, बल्कि स्वयं 'कल्पना' के रूप में। क्योंकि कल्पना या भावना यदि एक मान ली जायँ, तो आचार्य अभिनव की दृष्टि से जब भावना और व्यंजना एक हैं, तो कल्पना और व्यंजना भी एक हो सकती हैं। इस दृष्टि से भी उक्त परिभाषा ठीक नहीं है।

अब डा० साहब ने व्यंजना का जो रूप बताया है, देखना चाहिए कि यह बहुरूपिया व्यंजना क्या कभी वह रूप भी धारण करती है? यह अवश्य एक विचारणीय बात है कि आखिर शब्द एवं वाच्यार्थ बोध के अनंतर जो कल्पना जगती है, उसका जगानेवाला कौन है? संसार का कोई कार्य अकारण नहीं होता अतः कल्पना का जागरण भी अकारण नहीं है, अवश्य उसका कुछ कारण है। यहाँ जो कुछ दृष्टिगोचर है, वह शब्द ही है या बहुत हुआ तो शब्द का वाच्यार्थ है। इन्हीं में कुछ ऐसी शक्ति, है जो कल्पना को उकसाती है। शब्द एवं वाच्यार्थ की यह उत्तेजक शक्ति अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य नहीं है, फिर भी है, उसकी कोई शक्ति है, उसका क्या नाम दें? इस कल्पना के उभाड़

में शब्द या वाच्यार्थ की महिमा न मानकर सहृदय (ग्राहक) की ही व्यक्तिगत विशेषता मानें, तब भी यह प्रश्न बना ही रह जाता है, उसकी यह व्यक्तिगत विशेषता जो कल्पना को सजग करती है, क्यों अचानक कार्यशील हो गई ? वहाँ तो शब्दार्थ की सामर्थ्य मानना होगा।

अब, इसपर से यह कहा जा सकता है कि शब्द की यह सामर्थ्य व्यंजना शक्ति इसलिये नहीं है कि वह किसी प्रकार के शब्दार्थ को देने में उपयोगी नहीं है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। भावना के रूप में व्यंजना 'साधारणीकृत रूप में अर्थ ही देती है, तृतीय स्तर की व्यंजा रस रूप अर्थ ही देती है, अतः इन दोनों रूपों में व्यंजना शब्द की शक्ति है, पर तृतीय रूप जो डा० साहब को अभिमत है, वह कोई शब्दार्थ नहीं देता, अतः व्यंजना नहीं है। यह तर्क बहुत कुछ ठीक जान पड़ता है। वस्तुतः शब्दार्थ के तथाकथित सामर्थ्य को व्यंजना नहीं, बल्कि भावना—कल्पना—व्यंजना की उत्पादक सहकारी सामग्रियों में से एक मानना चाहिए। शब्दार्थ की यह सामर्थ्य अपनी नहीं है, बल्कि वह प्रकरण, वक्ता, बोद्धव्य आदि के वैशिष्ट्य से उसमें आती है। आग्रह की बात अलग है।

फिर भी हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि कल्पना, प्रतिभा, भावना से व्यंजना एक होती हुई भी व्यंजना उन सबका पर्याय नहीं है। व्यंजना का उनसे और अतिरिक्त रूप भी है। व्यंजना शब्दाश्रित, अशब्दाश्रित, चेष्टाश्रित, जगत् के नाना प्रकार के प्रकाशकों तक में फैली है, भावना, कल्पना, प्रतिभा ऐसी नहीं हैं।

उपर्युक्त अन्य तीन मतों में भी, जहां कल्पना का 'विधिमुखी' विचार है, व्यंजना के जो रूप प्रदर्शित किए गए हैं, वे 'व्यंजना' के विशेप, विशेप रूप ही हैं, संपूर्ण व्यंजना का आभास उनसे नहीं मिल सकता। पूर्वतः 'प्रकाशन' ही व्यंजना है।

व्यंजना की इसी अनियतरूपता को लक्षित कर तार्किकों ने इसे नहीं माना है। चाहे व्यंजना के अनियत रूप होने से, हम उसको एक लक्षण में बाँधकर न कह सकें, लेकिन इतना मानना ही पड़ेगा कि जब व्यंजना का कार्य हमें प्रत्यक्ष अनुभूत हो रहा है, तो व्यंजना है अवश्य और हमें बाध्य होकर उसकी सत्ता माननी पड़ेगी।

प्रदीपकार ने इस व्यंजनाव्यापार को दो भागों में विभक्त किया है—शब्दनिष्ठा एवं अर्थनिष्ठा। शब्दनिष्ठा के भी दो भेद हैं—अभिधामूला एवं लक्षणामूला। शब्दनिष्ठा अभिधामूला व्यंजना का ही दूसरा नाम शाब्दी व्यंजना है। इस प्रकार व्यंजना के सब तीन भेद हैं—शाब्दी व्यंजना (शब्दनिष्ठ अभिधामूल) लक्षणामूल व्यंजना एवं आर्थी व्यंजना (अर्थनिष्ठ अभिधामूल व्यंजन)। आगे के तीन परिच्छेदों में क्रमशः व्यंजना के इन प्रकारों का परिचय दिया जायगा।

१—का० प्र० की, 'प्रदीप' टीका पृ० ३६।

"व्यंजना च द्वेधा। शब्दनिष्ठाऽर्थनिष्ठा चेति। तत्राद्या द्विविधाऽभिधा मूला लक्षणामूला चेति"।

चतुर्थ परिच्छेद

शाब्दी-व्यंजना

'व्यंजना को जब हम 'शाब्दी' कहते हैं तो स्पष्ट है कि उसका संबंध हम शब्द से जोड़ना चाहते हैं। शब्द से व्यंजना का संबंध दो रूपों में हो सकता है—(i) प्रथम यह कि व्यजना का आधार शब्द है। (ii) दूसरा यह कि व्यंजना का अन्वयव्यतिरेक शब्द से है। व्यंजना का आधार शब्द है इसलिए उसे शब्द का अर्थात् 'शाब्दी' तो कह ही सकते हैं उसे शाब्दी इसलिये भी कह सकते हैं कि शब्द से उसका अन्वय व्यतिरेक है। व्यंजना को शाब्दी कहने में उक्त दोनों कारणों में से परंपरा 'अन्वय-व्यतिरेक' वाले पक्ष का ही समर्थन करती चली आ रही है। व्यंजना का आश्रय या आधार शब्द है, इसलिये व्यंजना को शाब्दी कहा जाता है ऐसा उल्लेख, जहाँ तक अपने अनुसंधान की बात है, किसी आचार्य ने नहीं किया है।

व्यंजना को शाब्दी कहने में उक्त दोनों पक्षों के अभिप्राय एवं तर्क क्या हैं ? इसे सोदाहरण समझ लेना चाहिए। व्यंजना की यह स्थिति अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग में देखी जाती है। यद्यपि अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग श्लेषा-लंकार में भी होता है, पर वहाँ के सभी अर्थ वाच्य ही होते हैं, अतः व्यंजना की कोई चर्चा ही नहीं संभव है। व्यंजना की प्राप्ति वहाँ है, जहाँ अनेकार्थक शब्दों से प्राप्त अनेक स्तर के अर्थों में एक स्तर व्यंग्य का भी हो। उस व्यंग्यार्थ की प्राप्ति में व्यंजना की अपेक्षा होगी। यहाँ सहज ही शंका हो सकती है कि जब श्लेप स्थल की भाँति शाब्दी व्यंजना के स्थल में भी नानार्थक शब्द होते हैं, तो क्या कारण है कि श्लेष स्थल में उन्हीं अनेकार्थक शब्दों से प्राप्त सभी अर्थ वाच्य होते हैं और व्यंजना स्थल में उन्हीं अनेकार्थक शब्दों से प्राप्त कुछ अर्थ वाच्य होते हैं और कुछ व्यंग्य ? दोनों स्थलों में शब्दों की एकरूपता होने पर अर्थ में विविध रूपता क्यों आती है ? संक्षेप में आचार्य लोग इस शंका के समाधान में कहते यह हैं कि श्लेप स्थल के जितने अर्थ होते हैं, वे या तो प्राकणिक ही होते हैं अथवा अप्राकणिक ही, पर व्यंजना के प्रसंग में इन नानार्थक शब्दों से उपलब्ध होने वाले जितने अर्थ होते हैं,

उनमें से कुछ प्राकरणिक होते हैं और कुछ अप्राकरणिक। श्लेप स्थल के अनेकार्थक शब्द अभिधाशक्ति [चाहे वह अनेक अर्थों के लिये एक ही हो या प्रत्यर्थ भिन्न भिन्न हो]। से ही अपने सभी ईप्सित अर्थों को उपस्थापित कर देते हैं, उसकी नानार्थविषयिणी अभिधा शक्ति के रास्ते में कोई रोड़ा नहीं है, पर शाब्दी व्यंजना की स्थिति भिन्न है, वहाँ अनेकार्थक शब्दों की वह अभिधा शक्ति जो नाना अर्थों की उपस्थिति कराने में समर्थ है—उन्मुख तो अवश्य होती है सभी अर्थों के देने के लिये, पर जो अर्थ प्राकरणिक या प्रसंगोपयोगी होता है, उसकी प्रतीति पहले कराने के लिये प्रकरण ज्ञान अप्राकरणिक अर्थों की उपस्थापक शक्ति को अपना कार्य करने से रोक देता है और यह नियम है कि शब्द-व्यापार बुद्धिव्यापार एवं कार्य एक बार यदि रोक दिए जाते हैं, तो उनसे कार्य कराने के लिये उन्हें फिर नए सिरे से उत्पन्न करना पड़ता है, क्योंकि पूर्व का प्रतिबद्ध व्यापार निरर्थक चला जाता है। इस प्रकार प्रथम कक्षा में जब प्राकरणिक अर्थ वाच्यार्थ के रूप में प्रतीति हो लेता है, तो उसके अनंतर पुनः प्रतीत होने वाला अप्राकरणिक अर्थ व्यंजना से ही प्रतीत हो सकता है। उसका कारण यह है कि प्रथम उन्मुख अभिधा जब प्रकरण ज्ञान के कारण से प्रतिबद्ध हो गई, तो वह अब किसी काम की रही नहीं (अर्थात् अभिधा से इस अर्थ की प्रतीति हो यह संभव ही नहीं)। रही लक्षणा, सो मुख्यार्थ बाध आदि कारणों के न रहने से प्राप्त ही नहीं है। ऐसी स्थिति में वह अर्थ जब मिलता है, तो शब्द की कोई न कोई शक्ति अवश्य है, वही शक्ति व्यंजना है। इसी व्यंजना को 'ध्वनि' के अनुयायी गण 'शाब्दी व्यंजना' की संज्ञा देते हैं।

उदाहरण के लिये एक पद्य लीजिए—

'भद्रात्म है अति विशाल सुबंश उच्च, हैं पास में बहु शिलीमुख भी सपक्ष।
जो हैं सदैव पर वारण शोभनीय, दानाम्बुसेचनमयी कर है तदीय॥'

इस पद्य में किसी राजा का वर्णन किया जा रहा है, पर इसमें कुछ ऐसे अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग है, जिनके बल पर एक अप्राकरणिक (प्रसंग में अनुपयोगी) अर्थ भी निकलता है और यह अर्थ उत्तम हाथी के वर्णन के रूप में मिलता है।

प्राकरणिक अर्थ—वह राजा (पर) शत्रु का (वारण) उच्छेद करने वाला है, उसका अंतःकरण या स्वरूप (आत्मा) अत्यंत उत्तम है। उसने विभिन्न प्रकार के बाणों का संग्रह किया है। दान के निमित्त गृहीत जल से उसके हाथ सदैव सुशोभित हैं।

अप्राकरणिक अर्थः—वह (पर) उत्कृष्ट (वारण) हाथी भद्र जाति का है। उस पर (मद सौरभ से आकृष्ट होकर) भ्रमर पुंजीभूत हो रहे हैं। उसका शुण्डादण्ड निरंतर मद जल से आर्द्र रहता है।

यहाँ राजा का वर्णन और उसमें उपयोगी अर्थ वाच्य हैं, पर हाथी का वर्णन और उसमें उपयोगी अर्थ व्यंग्य हैं। प्रथम अर्थ प्राकरणिक है और द्वितीय अप्राकरणिक।

यहां केवल यही अप्राकरणिक अर्थ ही व्यंग्य हो सो नहीं, बल्कि दोनों अर्थों को संबद्ध करनेवाला 'उपमालंकार' भी व्यंग्य है। बात यह है कि प्रकरणोपयोगी वाक्य से श्लेष के बल पर जो दूसरा अर्थ मिलता है, यदि वह प्रकरणोपयोगी अर्थ से सर्वथा असंबद्ध होता, तो कवि की प्रतिभा असम्बद्ध अर्थ कहने की ऐसी गलती क्यों करती? दूसरे यह कि दोनों वाक्यों के परस्पर असम्बद्ध होने से वाक्य भेद नामक दोष भी है, अतः इन दोनों वाक्यार्थों को परस्पर सम्बद्ध होना चाहिए। सम्बद्ध करने के लिए 'उपमा' का आक्षेप करना पड़ेगा। यही उपमा दोनों वाक्यार्थों में उपमानोपमेय भाव स्थापित करेगी और दोनों अर्थ सुसम्बद्ध हो जायँगे। फिर तो न पारस्परिक असम्बद्धता रह जाती है और न वाक्य भेद नामक दोष ही।

इस प्रकार यहां अप्राकरणिक अर्थ एवं उपमालंकार दोनों व्यंग्य हैं। यह उपस्थापना काव्यप्रकाशकार के मत के अनुकूल है। इन्हीं दोनों अर्थों की प्राप्ति में जो शब्द-शक्ति काम करती है, आलंकारिकों की परम्परा उन्हें 'शाब्दी व्यंजना' कहती है।

इस स्थिति में पहले हमें 'अन्वय-व्यतिरेक' वाले पक्ष की परीक्षा करनी चाहिए। प्रायः अलंकार शास्त्र के विद्वानों ने जहाँ कहीं भी काव्य के धर्मों-दोष, गुण एवं अलंकारों—का यह निर्णय करना चाहा है कि 'कौनसा धर्म शब्दगत है और कौनसा अर्थगत?' वहाँ 'अन्वय-व्यतिरेक' का ही सहारा लिया है। जिन धर्मों का होना (अन्वय) न होना (व्यतिरेक) शब्दों के होने न होने पर निर्भर है, वे धर्म शब्दगत और जिन धर्मों का होना न होना अर्थों के होने न होने पर निर्भर है, वे धर्म अर्थगत कहे गए हैं। इस प्रकार आचार्यों ने आधाराधेय भाव के निर्णय में अन्वय, व्यतिरेक को परंपरा

से उपाय माना है। इसी प्रतिष्ठित सिद्धांत को मानकर सभंग श्लेष एवं अभंग श्लेष को शब्द की सत्ता से अन्वय-व्यतिरेक होने के कारण शब्दगत और अभंग श्लेष के ही विशेष स्थल (अर्थ श्लेष) में अर्थ की सत्ता से अन्वय-व्यतिरेक होने के कारण उसे अर्थगत माना गया है। इसी प्रतिष्ठित सिद्धांत के आधार पर प्रथम पक्ष वाले उसी शब्द के रहने न रहने से अप्राकरणिक व्यंग्य अर्थ के रहने न रहने को देखकर उसे शब्द शक्ति मूल कहते हैं और उस व्यंग्यार्थ में उपायभूत व्यंजना को भी शब्दगत या शाब्दी ही कहना उचित समझते हैं।[1] पंतिराज ने तो और भी स्पष्ट कहा है कि नानार्थ स्थल में अनुरणनीय व्यंजन को शब्द शक्ति मूल इसलिए कहना चाहिए, कि व्यंजन को उस शब्द का परिवर्तन सह्य नहीं है, अर्थात् शब्द के साथ उसका अन्वय-व्यतिरेक है।

सम्प्रति, आधाराधेय भाव वाले उपर्युक्त द्वितीय पक्ष की समीक्षा करनी चाहिए और देखना चाहिए कि वह कहाँ तक युक्तियुक्त है? इस पक्षवाले यह कहना चाहते हैं कि कौन काव्य-धर्म शब्दगत है और कौन अर्थगत? इस बात का निर्णय करने के लिए यह देखना चाहिए कि उस काव्य धर्म का आधार क्या है? अलंकार सर्वस्वकार रुय्यक ने काव्यधर्मों की शब्दनिष्ठता एवं अर्थनिष्ठता का निर्णय करने के लिए आश्रयाश्रयिभाव का ही सहारा लिया है और इस मत का सहारा लेकर हम यह कह सकते हैं कि इस स्थल की व्यंजना का आधार शब्द है अतः उसे शाब्दी कहना उचित है।

पंडितराज जगन्नाथ ने इस मत के अनुकूल सभंग-श्लेष एवं अभंग-श्लेप की क्रमशः शब्दनिष्ठता एवं अर्थनिष्ठता पर रुय्यक के मत की विवेचना करते हुए एक नवीन तर्क उपस्थित किया है कि अन्वय व्यतिरेक का उपयोग कार्य कारण भाव के निश्चय में होता है, आधार के निर्णय में नहीं। पूर्व मत में अन्वय-व्यतिरेक का उपयोग यही निश्चय करने के लिये किया गया है कि कौन से काव्य धर्म का, शब्द या अर्थ में से कौन आधार है। आधार के निर्णय में अन्वय-व्यतिरेक की सहायता का मूर्खतापूर्ण उदाहरण है—'घृताधारं पात्रं

१—तदित्थं नानार्थ स्थले ऽनुरणनीयं व्यंजनं शब्दशक्तिमूलम्, शब्दस्य परिवृत्त्यसहत्वादिति ध्वनिकारानुयायिनो वर्णयंति।

—रसगंगाधर, १९४७ द्वि० आ० (नि० सा०) पृ० १३८।

वा पात्राधारं घृतम्'। कुछ अलौकिक नैयायिकों ने यह निश्चय करने के लिए कि पात्र का आधार घृत है कि घृत का आधार पात्र ? अन्वय-व्यतिरेक का सहारा लिया था और इसके माध्यम से आधाराधेय भाव का निर्णय करते हुए अन्त में घृत को भूमि पर उड़ेल दिया था। दूसरा तर्क पंडित महादेव शास्त्री जी का यह भी है कि कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं, जिनके भिन्न भिन्न आधार संभव हैं, वहाँ अन्वय-व्यतिरेक कैसे निर्णायक हो सकता है ? घड़ा जल में भी रह सकता है, पृथ्वी पर भी रह सकता है, वृक्ष पर भी रह सकता है— अब इस स्थिति में अतिरिक्त लोक व्यवहार के आराधाधेय भाव का निर्णायक दूसरा कुछ हो नहीं सकता। अन्वय-व्यतिरेक तो संभव ही नहीं है। सारांश यह कि लोक व्यवहार से निश्चय होने वाले आधाराधेय भाव को देखकर ही किसी काव्य-धर्म को हम शब्दगत या अर्थगत कह सकते हैं।

इस प्रकार उक्त दोनों आधारों पर हम व्यंजना को शाब्दी कह सकते हैं, तथापि किसी आधुनिक विद्वान्[१] के मतानुसार व्यंजना को शाब्दी कहना ठीक नहीं है। जिस प्रकार आर्थी कहने का अभिप्राय है व्यंजना को 'अर्थ का व्यापार' कहना, उसी प्रकार व्यंजना को शाब्दी कहना तब उचित होता, जब वह शब्द का व्यापार होती, पर व्यंजना शब्द का व्यापार होती ही नहीं, अतः उसे शाब्दी कहना ठीक नहीं है।

इस शंका का समाधान दो प्रकार से दिया जा सकता है। प्रथम तो यह कि व्यंजना को आर्थी कहने का तात्पर्य केवल यही नहीं है कि वह अर्थ का व्यापार है इसलिए आर्थी कही जाती है, बल्कि उसे आर्थी इसलिए भी कहा जाता है, कि अर्थ के साथ उसका अन्वय-व्यतिरेक है। इसी प्रकार व्यंजना को शाब्दी केवल इसलिए नहीं कहा जाता कि वह शब्द का आश्रित है, बल्कि इसलिए भी कि उसका शब्द से अन्वय-व्यतिरेक है। अतः जैसे अर्थ के साथ व्यंजना का अन्वय-व्यतिरेक होने से आर्थी कहा जाता है, उसी प्रकार शब्द के साथ उसका अन्वय व्यतिरेक होने के कारण उसे शाब्दी व्यंजना कहना युक्तियुक्त ही है।

१—'अन्वय व्यतिरेकाभ्यां हि हेतुत्वावगमो घटं प्रति दंडादेरिवास्तु, न त्वा श्रयत्वागमः।'
रसगंगाधर, पृ० ५३६ (नि० सा० १९४७)।

दूसरा तर्क यह है कि (अगर उपर्युक्त तर्क अंगीकार न हो) इन स्थलों में यदि व्यंजना को शब्द का व्यापार माना ही जाय, तो हानि क्या है ? उक्त विद्वान् व्यंजना को शब्द का व्यापार न मानने में यह कारण देते हैं कि शब्द का व्यंग्यार्थ के साथ साक्षात् (प्रत्यक्ष) कार्य कारण भाव संबंध नहीं हैं। अर्थात् शब्द श्रवण एवं व्यंग्यार्थ के बीच प्राकरणिक अर्थ व्यवधायक है। अतः व्यंग्यार्थ से पूर्व क्षण में नियत रूप से प्राकरणिक वाच्यार्थ ही वर्तमान है, शब्द नहीं और जिससे नियत पूर्वक्षग में जो वस्तु विद्यमान होती है, वही उस वस्तु के प्रति कारण होती है।

इस तर्क का कई ढंग से खंडन किया जा सकता है। कार्य एवं कारण के बीच कारण का व्यापार सदा व्यवधायक होता है। क्या दंड चक्र में भ्रमण व्यापार उत्पन्न किए बिना कारण हो सकता है ? कदापि नहीं। इसी प्रकार शब्द व्यापार रूप में ही वाच्यार्थ की स्थिति अगर मान ली जाय, और पंडित राज ने ऐसा माना भी है तो शब्द की व्यंग्यार्थ के प्रति जो कारणता है, वह किसी भी प्रकार से भंग नहीं हो सकती। दूसरा तर्क यह है कि जो वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ से नियत पूर्वक्षण में वर्तमान रहने वाला है, उस वाच्यार्थ के विशेषण रूप में (वाच्यार्थ की कुक्षि में) जैसे जाति आदि धर्म पड़े रहते हैं वैसे ही वाचक शब्द भी। भर्तृहरि का सिद्धांत है 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते' अथवा 'सर्वं ज्ञानं शब्दानुविद्धं भवति' सभी ज्ञान शब्द गर्भ होते हैं। फिर वाच्यार्थ के समय में शब्द भी वर्तमान ही है, अतः आधुनिक का तर्क इस दृष्टि से भी ठीक नहीं है। तीसरा तर्क यह है कि यदि व्यापार के व्यवधायक होने से कार्यकारण भाव का विनाश मान लिया जाय तो व्याप्ति ज्ञान एवं अनुमिति में, पद ज्ञान एवं शाब्दबोध में भी कार्यकारण भाव नहीं मानना चाहिये, क्योंकि इन दोनों स्थलों में भी क्रमशः 'परामर्श एवं' पदार्थ स्मृति 'व्यवधायक है। वस्तुतः कार्य कारण भाव का सच्चा निर्णायक अन्वय-व्यतिरेक है, 'नियत पूर्व वृत्ति' भी है, पर यदि वह ठीक तरह से कही जाय। यहाँ पर ज्ञान एवं व्यंग्यार्थ प्रतीति में अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर कार्य कारण भाव है ही।

शाब्दी व्यंजना के खंडन में दूसरा सबसे प्रबल तर्क यह दिया जाता है कि नानार्थक शब्दों से चाहे जिस रूप से जो अर्थ प्रतीत होते हों, सभी संकेतित होने के कारण वाच्यार्थ ही कहे जाने चाहिए, केवल किसी अर्थ को अप्राकरणिक हो जाने मात्र से व्यंग्यार्थ कहना ठीक नहीं है। इस प्रकार जब

इन स्थलों में व्यंग्यार्थ की सत्ता ही नहीं है, तो व्यंजना की गुंजाइश कहाँ ? और जब इन स्थलों में व्यंजना ही नहीं तो शाब्दी या आर्थी कहने का विवाद ही क्यों उठाया जाय अब तो केवल एक ही प्रकार व्यंजना है, अतः व्यावृत्य के अभाव में विशेषण निरर्थक ही हैं। अब केवल व्यंजना कही जाय ? शाब्दी व्यंजना कोई वस्तु नहीं।

उक्त प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व शाब्दी व्यंजना के ऐतिहासिक विकास पर कुछ दृष्टिपात करना अच्छा होगा। शाब्दी व्यंजना की चर्चा सबसे पहले ध्वनि-प्रस्थापन-कर्ता आनंदवर्द्धन ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ ध्वन्यालोक में की। इन्होंने बताया कि 'शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि काव्य का वह भेद है, जहाँ अलंकार आक्षिप्त ही होकर शब्द के सामर्थ्य या शब्द की शक्ति से प्रकाशित होता हो, साथ ही यह भी आवश्यक है कि आक्षिप्त होता हुआ, वह अलंकार बाद में किसी उक्ति से स्फुटतर न कर दिया जाय[1]।' यहाँ बहुत विवेचन करने पर भी ध्वन्यालोक के शब्दों से यह निर्णय नहीं हो पाता, कि आलोककार 'वस्तु' अर्थात् उक्त ढंग के अप्राकरणिक अर्थ को भी व्यंग्य मानते हैं या नहीं ? ध्वन्यालोक से काव्य प्रकाश तक के बीच शाब्दी व्यंजना की अथवा आलोककार की कारिका की जो व्याख्यायें हुईं लोचनकार ने 'लोचन' में उन्हें चार[2] मतों के रूप में चर्चित किया है।

आलोककार की इस कारिका के अनंतर शाब्दी व्यंजना का निरूपण मम्मटाचार्य ने जिस कारिका[3] में किया, उसकी भी विभिन्न व्याख्यायें हुईं। एक तो कुवलयानंदकार अप्पय दीक्षित ने अपने 'कुवलयानंद'[4] में की है। बाद में दो प्रकार की व्याख्यायें पंडितराज जगन्नाथ ने उसी प्रकाश की कारिका की अपने ग्रंथ[5] में भी की।

पंडितराज ने बुद्धिमत्तापूर्वक प्रकाशकार की कारिका की द्विविध

१—'आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवोहिसः ॥
ध्व० आ० पृ० २३५, कारिका ३१ वीं।

२—ध्व० लो० पृ० २४१।

३—चतुर्थ संस्करण, वामनी टीका सहित का० प्र० पृ० ६३, का० १६।

४—कुवलयानंद, पृ० ७५।

५—रसगंगाधर पृ० १३५।

व्याख्याओं का खंडन किया और 'शाब्दी व्यंजना' के स्वरूप को बताने वाली एक अन्य प्रकार की कारिका रची और शाब्दी व्यंजना को प्रतिष्ठित किया।

श्री कान्तानाथ[1] तैलंग ने पंडितराज की उस कारिका का भी खंडन किया और अपना सिद्धांत स्थिर किया कि 'व्यंजना शब्द का व्यापार ही नहीं है। श्री तैलंग जी ने रसगंगाधरकार की अंतिमकारिका की ही आलोचना की हो सो नहीं, बल्कि उक्त सभी मतों की समीक्षा की है और उन लोगों ने जिस अर्थ को शब्द शक्ति मूल व्यंग्यार्थ कहा है, उन्हें वाच्यार्थ ही सिद्ध किया है। इस प्रकार अपने व्यंग्यार्थ का खंडन कर शाब्दी व्यंजना के उच्छेद में सराहणीय प्रयास किया है।

अब क्रमशः प्रत्येक मतों का परिचय और उनकी समीक्षा संक्षिप्त ढंग से सामने रखी जा रही है।

ध्वन्यालोक की मूल कारिका के व्याख्यानस्वरूप जिन चार मतों का उल्लेख किया गया है, उन चारों की अवतरणिका के रूप में यह कहा जा सकता है कि ध्वनिवादी नानार्थक स्थलों में पूर्वोक्त रीति से प्राप्त अर्थ को शब्दशक्ति मूल व्यंग्यार्थ कहते हैं। इस पर कुछ विचारकों का आक्षेप है कि जिस अर्थ को शब्दशक्तिमूल (अभिधामूल) कहा गया है, उसे अभिधेय कहा जाना चाहिए, न कि व्यंग्य। शब्द शक्तिमूलता और व्यंग्यता ऐसे धर्म हैं, जो एक आश्रय में नहीं रह सकते। इसी आपाततः प्रतीत होनेवाले विरोध के खण्डन में जो चार प्रकार के उत्तर हैं, उन्हीं की चारों मतों में जोरदार चर्चा है।

प्रथम मतः—

इस प्रश्न पर प्रथम मत वालों का कहना यह है कि नानार्थक शब्दों से प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों की प्रतीति उसे ही होती है, जिसे दोनों अर्थों में अभिधा गृहीत हो अथवा यों भी कह सकते हैं कि अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति उसे ही हो सकती है, जिसने अन्यत्र उसकी अभिधा देखी हो। इसी कारण उस अप्राकरणिक अर्थ को एक और अभिधामूल या शब्द

---

१ – ना० प्र० प० कान्तानाथ तैलंग का 'व्यंजना शब्द का व्यापार नहीं है'—शीर्षक लेख।

शक्तिमूल कहते हैं और दूसरी ओर पूर्वोक्त रीति का सहारा लेने पर व्यंजना-गम्य होने से व्यंग्य। अर्थात् इस प्रकार के नानार्थक स्थलों में स्थान भेद से अभिधा एवं व्यंजना दोनों की आवश्यकता अप्राकरणिक अर्थ की प्राप्ति में अपेक्षित है।

खंडनः—

उक्त मत के अनुसार जिस ढंग से व्यंग्यार्थ की स्थापना की गई है, आधुनिक पंडित उसका खंडन करते हुए कहते हैं कि इस मत में मुख्य रूप से दो सिद्धांत बताए गए हैं। प्रथम यह कि जिसने ऐसे स्थलों में प्रतीत अप्राकरणिक अर्थ को अन्य स्थलों में अभिधा द्वारा प्राप्त किया हो अर्थात् जिसे इस अप्राकरणिक अर्थ में संकेतग्रह हो। दूसरी बात यह है कि जब प्रकरण आदि के द्वारा निर्णीत तात्पर्य से अभिधा का मुँह अप्राकरणिक अर्थ की ओर से मोड़ दिया जाता है, तब यह अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकती। अतः उसकी प्रतीति के लिये 'व्यंजना' माननी चाहिए।

उक्त दोनों सिद्धांतों से द्वितीय या अप्राकरणिक अर्थ शब्द शक्तिमूल व्यंग्यार्थ कहा जाता है, पर विचार करने में दोनों तर्क व्यंग्यार्थ साधक नहीं ठहर पाते। प्रथम तर्क के संबंध में यह निवेदन किया जा सकता है कि जब अभिधा ही दोनों अर्थों के ज्ञान में कारण है, तो क्यों एक को अभिधेय कहें और दूसरे को व्यंग्य? और दूसरी बात यह भी है कि संकेतग्रह को अभिधेय की प्रतीति में ही कारण मानना उचित है, कुछ व्यंग्यार्थ की प्रतीति में नहीं।

द्वितीय तर्क यह है कि यदि प्रकरण आदि का ज्ञान अभिधा का नियंत्रण नहीं करता, तो अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति अभिधा से हो ही जाती। यह नियंत्रणवाली बात भी तर्कसहिष्णु नहीं है। अनुभव यह बताता है कि अनेकार्थक शब्दों के सुनने पर प्रकरण आदि का ज्ञान रहने पर भी सभी अर्थों की प्रतीति होती है। बात यह है कि अर्थ प्रतीति का अर्थ है अनुभूत अर्थ की स्मृति। यह अनुभूत अर्थ के संस्कारों के जगने से होती है। संस्कार जगते हैं या जगाये जाते हैं, किसी उद्बोधक से। उद्बोधक यहाँ शब्द श्रवण ही है। अतः शब्दश्रवण रूप उद्बोधक के रहने पर दुनिया की कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जो सचेत एवं सतर्क व्यक्ति के संस्कारों को जगने से रोक दे, उसमें प्रतिबंध डाल सके। और सबसे बड़ी बात यह है कि प्रकरणज्ञ व्यक्ति जब

दोनों अर्थों को समझता है, तभी तो वह एक प्रसंग या प्रकरण का ज्ञान न रखनेवाले व्यक्ति को समझा पाता है कि अमुक अर्थ ही प्रसंगोपयोगी है, अमुक अर्थ नहीं।

द्वितीय मतः—

शाब्दी व्यंजना के इन समर्थकों का यह कहना है कि एक ही वस्तु की शक्ति भिन्न भिन्न सहकारियों की प्राप्ति से विभिन्न होती जाती है घटती या बढ़ती है। तात्पर्य यह कि सहकारी के भेद से शक्तिभेद होता है। इस सिद्धांत के अनुसार प्रथम अर्थ तो अभिधा से मिल ही जाता है, द्वितीय अर्थ को भी वही अभिधा बताती है। पर यह दूसरी अभिधा, जिससे अप्राकरणिक अर्थ प्रतीत होता है, अपना कार्य करने में स्वतंत्र रूप में अर्थात् अपने आप में अकेले ही समर्थ नहीं है, बल्कि पूर्वोक्त उदाहरण[1] की पद्धति से प्राप्त सादृश्य या उपमा को सहकारी बनाकर अपना कार्य करने में समर्थ है। इस सहकारी के भेद से वही शक्ति भिन्न हो जाती है, अब यह अभिधा नहीं रह गई, उसी को अब व्यंजना कहना चाहिए। कारण यह है कि 'अभिधा' शब्द की स्वाभाविक शक्ति है उसे संकेत-ग्रह मात्र की अपेक्षा है, अतिरिक्त निमित्त की अपेक्षा वह नहीं करती। अतिरिक्त निमित्त की अपेक्षा करने के कारण वह शक्ति स्वाभाविक न रहकर नैमित्तिक या औपाधिक हो जायगी और यह औपाधिक शक्तिव्यंजना होती है।

खंडन :—

इस मत में जिस ढंग से अप्राकरणिक अर्थ को व्यंग्य बताया गया है, वह अत्यंत त्रुटिपूर्ण है। इस पक्ष में द्वितीय अर्थ की प्राप्ति में अभिधा को कारण माना गया है और प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थ से व्यंग्य होने वाली उपमा को सहकारी कारण। इस कथन का विश्लेषण करने पर उसमें विरोध स्पष्ट लक्षित होगा। जो उपमा स्वयं अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति के बाद आती है, वह अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में (सहकारी) कारण कैसे बन सकती है ? कारण वही हो सकता है, जिसकी सत्ता कार्य से पूर्व विद्यमान हो। दूसरे यह कि इस पक्ष में अप्राकरणिक अर्थ उपमा की प्रतीति में और उपमा अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में कारण कही गई है, अतः अन्योन्याश्रय

१—सहकारिभेदाच्छक्तिभेदः। लोचन, पृ०।

दोष भी है। अतः उक्त पद्धति से जो व्यंग्यार्थ की सिद्धि की जाती है, वह भी ठीक नहीं।

तृतीय मत :—

इस मत वालों का कहना कि है जिस प्रकार शब्द श्लेष में दो अर्थों को देखकर शक्तिभेद के आधार पर दो शब्दों की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार अर्थ श्लेष में दो अर्थों के कारण दो शब्दों की कल्पना होती है। इस पक्ष में तर्क यह कि शब्द एक बार[1] उच्चरित होकर एक ही अर्थ देता है और प्रत्येक अर्थ के ज्ञान में भिन्न भिन्न शक्तियाँ काम करती हैं। इस कारण जब दोनों स्थलों में दो अर्थ हैं, तो उसके लिये दो शक्तियाँ आवश्यक हैं और दोनों शक्तियों के लिए भिन्न भिन्न दो शब्द अपेक्षित ही हैं। अतः दोनों जगह एक शब्द तो प्रत्यक्ष रहता ही है, पर दूसरा लाया जाता है। श्लेष स्थल में यह दूसरा शब्द अभिधा से लाया जाता है। शाब्दी व्यंजना की भी यही स्थिति है, वहाँ भी दो अर्थ होते हैं और उक्त पद्धति से यहाँ भी द्वितीय शब्द आनीत होता है, पर यहाँ अभिधा से नहीं लाया जाता, किंतु व्यंजना से लाया जाता है। यहाँ यह अप्राकरणिक अर्थ चूँकि प्रतीयमान शब्द का मूल है, अतः स्वयं भी प्रतीयमान या व्यंग्य कहा जाता है अन्यथा वस्तुतः तो वह अभिधेय ही है। इस प्रकार यह अप्राकरणिक अर्थ शब्द शक्ति मूल एवं व्यंग्य दोनों हो जाता है।

खंडन :—

इस मत में तो स्पष्ट ही द्वितीय अर्थ को अभिधा से प्राप्त माना गया है। ऐसा जान पड़ता है कि पूर्व प्रश्न (एक ही अर्थ शब्द शक्ति मूल एवं व्यंग्य कैसे ?) का इस मत में समर्थन करना लक्ष्य हो और जैसे भी हो, अप्राकरणिक अर्थ को व्यंग्य सिद्ध कर दिया जाय, सब मिलाकर यहाँ यही प्रयत्न है।

चतुर्थ मत :—

इन लोगों का विचार यह है कि प्रकरण ज्ञान या तात्पर्य ज्ञान, द्वितीय अप्राकरणिक अर्थ की प्राप्ति में प्रतिबंधक है, पर 'तृतीय मत' का सहकारी कारण (अर्थ सामर्थ्य सादृश्य) उपमा उस प्रतिबंध का नाशक बन जाता है। इस प्रकार प्रतिबंधक का नाश हो जाने पर प्रतिबद्ध शक्ति जाग उठती है

१—'सकृदुच्चारितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति'।

अर्थात् वह निष्प्रतिबंध होने से अब अपना कार्य कर डालती है, उसका अपना कार्य है अप्रकरणिक अर्थ की स्मृति कर देना । इस प्रकार दोनों अर्थ प्रतीत हो जाते हैं । और इस मत में दोनों अर्थ अभिधेय ही हैं ।

अब इन दोनों अर्थों की असंबद्धता हटाने के लिये दोनों अर्थों का ''अभेद' मान लिया जाता है । जैसे, समासोक्ति में प्रस्तुतार्थ के उपस्थापक वाक्यों में प्रयुक्त श्लिष्ट विशेषणों की महिमा से जब तब अप्रस्तुत अर्थ भी व्यक्त होता है, तब दोनों की असंबद्धता दूर करने के लिये 'अभेद' की कल्पना कर ली जाती है, वही स्थिति यहाँ भी है । इस प्रकार यहाँ, वस्तु नहीं किन्तु 'रूपक' अलंकार व्यंग्य होता है । यही शब्द-शक्तिमूल व्यंग्यार्थ है ।

खण्डनः—

इस मत में जब दोनों अर्थवाच्य हैं, तब स्पष्ट ही यह श्लेष का स्थल है, *क्योंकि श्लेष स्थल से शाब्दी व्यंजना का यही अंतर ही है कि श्लेष में दोनों* अर्थ वाच्य होते हैं और यहाँ एक व्यंग्य कहा जा सकता है । यह भेदक तत्व उन लोगों को मान्य है जो अप्राकरणिक अर्थ को व्यंग्य मानते हों, प्रस्तुत मत तो ऐसा मानता नहीं, अतः उसकी दृष्टि से यह भेदक ठीक नहीं है । इनके मत से श्लेष एवं शाब्दीव्यंजना का अंतर यह होना चाहिए कि श्लेष में रूपक व्यंग्य नहीं होता, क्योंकि वहाँ दोनों अर्थ प्राकरणिक या अप्राकरणिक ही होते हैं, पर शाब्दी व्यंजना में एक अर्थ प्राकरणिक और एक अर्थ अप्राकरणिक होता है, अतः यहाँ असंबद्धता को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि यहाँ 'अभेद' व्यंग्य माना जाय ।

इतना होने पर भी खण्डन करने वालों का यह कहना है कि यह तो वस्तुतः श्लेषालंकार से अलंकार व्यंग्य का उदाहरण है और यह भेद अर्थशक्तिमूल ध्वनि में होता है, शब्दशक्तिमूल ध्वनि में नहीं । अतः यहाँ के व्यंग्य को शब्द शक्तिमूल कहना ही उचित नहीं है ।

इस प्रकार यहाँ तक 'आलोक' कार एवं 'प्रकाश' कार के अन्तरालवर्ती मतों का सारांश और उनसे स्थापित शब्द शक्तिमूल व्यंग्य का मूलोच्छेद किया जा चुका । जब व्यंग्य ही समाप्त हो गया, तो एक मात्र उसी के लिये मानी गई शाब्दी व्यंजना स्वयं उच्छिन्न हो चुकी ।

अभिनव गुप्त के अनंतर सुप्रसिद्ध आलंकारिक मम्मट का स्थान है । उपर्युक्त चारों में से प्रथम मत मम्मट को स्वीकृत जान पड़ता है, क्योंकि जिस

प्रकार प्रथम मत वाले को अप्राकरणिक वस्तु एवं (उपमा) अलंकार दोनों व्यंग्य रूप से स्वीकृत है, उसी प्रकार मम्मट को भी वे दोनों स्वीकृत है। मम्मट की कारिका है—

'अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरंजनम् ।। का० प्र० द्वि० उ०

अर्थात् जब अनेकार्थक शब्दों की (अप्राकरणिक अर्थदान में उन्मुख) अभिधा या वाचकता का संयोग आदि के द्वारा जहाँ नियंत्रण हो जाता है वहाँ अवाच्यार्थ के ज्ञान में शब्द के जिस व्यापारका उपयोग होता है, उसे व्यंजना कहते हैं।

प्रकाशकार की इसी कारिका की दो व्याख्यायें पंडितराज जगन्नाथ ने बड़े विस्तार से की हैं। इन्हीं दोनों व्याख्याओं को हम पंचम एवं षष्ठ मत के नाम से उट्टंकित करेंगे।

पंचम मतः—

इस व्याख्यान में शब्दश्रवण तथा अप्राकरणिक या व्यंग्यार्थ की प्रतीति के बीच जो आंतर प्रक्रिया होती है, उनका बड़ा ही क्रमिक उपस्थापन किया गया है। इन लोगों का विचार है कि ऐसे नानार्थक स्थलों में शब्द श्रवण होते ही श्रोता की बुद्धि में सभी अर्थों की उपस्थिति हो जाती और ऐसा होना उचित ही है। कारण यह है कि अर्थोपास्थिति में संकेतग्रह ही कारण है। श्रोता को जब इन सभी अर्थों में शक्ति गृहीत है, तो शब्दश्रवण के अनंतर सभी अर्थों की उपस्थिति अवश्यंभाव्य है। यह प्रथम क्रिया है।

इसके अनन्तर द्वितीय प्रक्रिया यहाँ यह होती है कि श्रोता इन नाना अर्थों की प्राप्ति के बाद संदेह में पड़ जाता है कि इनमें से किन अर्थों का प्रकरण में उपयोग है और किन अर्थों का उपयोग नहीं है ?

इस संदेह के निवारण में संलग्न श्रोता प्रकरण का अनुसंधान करता है और प्रकरण समझ लेने पर वक्ता का तात्पर्य किन अर्थों में है, यह ज्ञात होता है तात्पर्य निर्णय के होते होते कई क्षण बीत जाते हैं, फल यह होता है, पहले पहल जो नाना अर्थों की उपस्थिति (स्मृतिज्ञान) होती है, वह विनष्ट हो जाती है, क्योंकि ज्ञानमात्र 'दो ही क्षणों तक स्थिर रहता है, तृतीय क्षण में विनष्ट हो जाता है। इस प्रकार तात्पर्य-निर्णय के समय तक अर्थस्मृति

समाप्त हो चुकी रहती है। (मध्यवर्ती प्रक्रिया) अब इसी निर्णीततात्पर्य से उन्हीं शब्दों द्वारा पुनः पदार्थों की उपस्थिति होती है। इस दूसरी उपस्थिति की विशेषता पहली उपस्थिति से यह है कि इसमें अप्राकरणिक अर्थों की उपस्थिति नहीं रहती। इस बार केवल प्रकरणोपयोगी अर्थों की ही स्मृति होती है और इन अर्थों से प्रकरण ने उपयोगी शाब्दबोध निष्पन्न हो जाता है। इस बार की दूसरी उपस्थिति में जो अप्राकरणिक पदार्थों की उपस्थिति नहीं होती, उसका कारण है—प्रकरण ज्ञान या उससे निर्णीत तात्पर्यज्ञान। इन्हीं में से किसी के द्वारा वाचकता का नियंत्रण हो जाता है, फलतः वे अर्थ नहीं मिल पाते। प्रक्रिया की इस कक्षा में केवल प्राकरणिक अर्थबोध अकेले ही हो पाता है।

व्यंग्यार्थ की प्राप्ति ही अंतिम प्रक्रिया है। प्राकरणिक अर्थबोध हो जाने के अनंतर फिर जो अप्राकरणिक अर्थ की झलक मिलती है, निश्चय ही अभिधा से नहीं मिलती। इस अंतिम प्रक्रिया में अप्राकरणिक अर्थ मिलता है, उसके लिये उसी शब्द की अभिधा मध्यवर्ती प्रक्रिया में प्राकरणिक अर्थ में ही नियंत्रित कर दी गई थी अर्थात् उसे आप्राकरणिक अर्थ की ओर जाने से रोक दिया गया था और जब एक बार यह वेग रोक दिया गया, तो यह वेग निरर्थक गया ही। भाव यह कि शब्द में जब तक पुनः दूसरा व्यापार नहीं होगा, इस अप्राकरणिक अर्थ की तब तक उपलब्धि हो ही नहीं सकती। यह पूर्व नियंत्रित अभिधा से अतिरिक्त व्यापार व्यंजना ही है और इसके बल पर आया हुआ प्राकरणिक अर्थ व्यंग्य।

प्रस्तुत प्रसंग में एक शास्त्रीय आपत्ति यह खड़ी की जाती है कि मध्यवर्ती प्रक्रिया में जो दूसरी बार अर्थोपस्थिति होती है, उसका उपाय क्या है ? अर्थात् अर्थोपस्थिति होती है पद ज्ञान से और प्रथम अर्थोपस्थिति के समान प्रथम पदज्ञान भी तात्पर्य निर्णय की स्थिति तक विनष्ट हो चुका रहेगा, फिर पदज्ञान के अभाव में मध्यवर्ती या चरम प्रक्रिया में जो अर्थ स्मृत होते हैं, उनका साधन क्या है ? अर्थात् उनका साधन पदज्ञान कहाँ है ? और नहीं है तो कारण के अभाव में कार्य होता कैसे है ?

इसके समाधान में आचार्यों का उत्तर यह है कि तथाकथित संदेह के अनंतर जब तात्पर्य ज्ञान (इस पद का इस अर्थ में तात्पर्य है) होता है, तो उसी की कुक्षि में पदज्ञान भी पड़ा रहता है, अतः यही तात्पर्यात्मक पदज्ञान द्वितीय अर्थोपस्थिति में उपाय है।

प्रकाशकार की उक्त कारिका यह प्रथम व्याख्यान है, जो 'एक[1] शक्तिवाद' की दृष्टि से किया गया है। इस मत के अनुसार संयोग, साहचर्य आदि के द्वारा सब अर्थों को प्रदान करनेवाली एक ही अभिधा शक्ति का (मध्यवर्ती प्रक्रिया में) नियंत्रण हो जाता है, अतः (अंतिम प्रक्रिया में) अप्राकरणिक अर्थ के लिये शब्द की दूसरी शक्ति व्यंजना का सहारा लेना पड़ता है।

कुछ 'नानाशक्तिवादियों का कहना है कि एक शब्द की उसके नाना अर्थों में नाना शक्तियाँ होती हैं। अतः प्रकरण आदि से निर्णीत तात्पर्य ज्ञान प्रसंगोपयोगी किसी एक अर्थ की एक ही शक्ति का नियंत्रण करेगा, शेप अर्थ की शेप शक्तियाँ तो नियंत्रित होंगी नहीं, अतः उन अवशिष्ट अभिधा या अभिधाओं द्वारा तो अन्य अप्राकरणिक अर्थ या अर्थों की उपस्थिति होती जायगी, व्यंजना जैसे दूसरे व्यापार की आवश्यकता ही क्या ?

ध्वनिवादी इस शंका का उत्तर यह देता है कि प्रतिबंधक तात्पर्यज्ञान अभिधा-मात्र का प्रतिबंध या नियंत्रण करता है, न कि केवल प्रकरणोपयोगी एक शक्ति का ही। हाँ, केवल अभिधा-मात्र का ही नियंत्रण करता है, शक्तिमात्र का नहीं। उसकी सामर्थ्य व्यंजना के प्रतिबंध में नहीं है। यदि यह प्रतिबंधक शक्तिमात्र अर्थात् शब्द की सभी शक्तियों का नियंत्रण कर देता तब तो लाख मूड़ मारने पर भी अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति नहीं हो पाती। विपरीत इसके अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती है और यह तभी संभव है जब शब्द की सभी शक्तियाँ नियंत्रित न हों। और वह मान भी लिया जाय कि सभी शक्तियाँ, यहाँ तक कि व्यंजना का भी प्रतिबंध हो जाता है, तो व्यंजना के ज्ञान को उत्तेजक मान लेने से यह नियंत्रण ढीला पड़ जायगा और

१—आचार्यों ने नानार्थक शब्दों की शक्ति के संबंध में दो 'वाद' उपस्थित किए हैं 'एक शक्तिवाद' एवं 'नानाशक्तिवाद'। 'एक शक्तिवाद' का तात्पर्य यह होता है, कि प्रत्येक नानार्थक शब्द से जो अनेक अर्थ मिलते हैं, उन सब में शब्द की एक ही शक्ति होती है। शब्द की एक ही शक्ति से सब अर्थ मिल जाते हैं। इसके विपरीत 'नानाशक्तिवाद' माननेवालों का विचार यह है कि नानार्थक शब्दों से जो नाना अर्थ मिलते हैं, उनमें से प्रत्येक, शब्द की पृथक् पृथक् शक्ति से प्राप्त होते हैं अर्थात् यहाँ प्रत्येक अर्थ के प्रति शब्द की अलग अलग कई शक्तियाँ होती हैं।

अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में कोई बाधा न हो सकेगी। इस प्रकार इस अर्थ में भी शब्दशक्तिमूल व्यंग्य की स्थापना है।

इस प्रकार उक्त कारिका के जितने अवयव हैं सबका सविस्तार व्याख्यान कर दिया गया है।

छठाँ मत (या द्वितीय व्याख्यान):—

व्याख्येय कारिका के अवयवों की जैसी ऋजु योजना प्रथम व्याख्यान में हुई है, वैसी द्वितीय व्याख्यान में नहीं हो पाई है। यहाँ पर्याप्त तोड़ मरोड़ किया गया है।

इन लोगों का यह विचार है कि वाक्यार्थ बोध में सर्वत्र चाहे तात्पर्य ज्ञान को कारण न माना जाय, पर जहाँ प्रसंग विशेष में नानार्थक शब्दों का प्रयोग होता है, वहाँ तो प्राकरणिक अर्थबोध के लिये तात्पर्य ज्ञान को अवश्य कारण मानना चाहिए।

प्रथम व्याख्यान से इस व्याख्यान का सबसे पहला अंतर यह है कि ये लोग मध्यवर्ती या द्वितीय अर्थोपस्थिति नहीं मानते। विपरीत इसके इन लोगों का कथन है कि शब्द श्रवण के अनंतर पहली बार जिन नाना अर्थों की प्रतीति होती है, उन्हीं में से जिन अर्थों में तात्पर्य निर्णय होता है, उनको लेकर प्राकरणिक वाक्यार्थ बोध हो जाता है। इस प्रकार पूर्व मत में जिस वाक्यार्थ बोध के लिये एक प्रक्रिया और बढ़ाई जाती थी, उसकी यहाँ आवश्यकता ही नहीं है। इतना ही नहीं, इस क्रिया के कारण पहले व्याख्यान से एक बात और कम हो जाती है। प्रथम व्याख्यान की मध्यवर्ती प्रक्रिया में केवल प्रकरणोपयोगी अर्थों की उपस्थिति के लिए अभिधा का नियंत्रण मानना पड़ता था, अब उसकी भी आवश्यकता नहीं। इन दो बातों के अतिरिक्त तीसरी बात जो ध्यान देने की है, वह यह कि यहाँ तात्पर्यज्ञान ही अभिधेय एवं अनभिधेय (व्यंग्य) अर्थों का निर्णायक है, अर्थात् जिस अर्थ में तात्पर्य ज्ञान होता है, वह अभिधेय और जिस अर्थ में तात्पर्य ज्ञान नहीं होता, वह व्यंग्य है।

यहाँ यद्यपि प्राकरणिक अर्थ बोध के लिये पुनः पदार्थोपस्थिति की कल्पना नहीं करनी पड़ती, पर अप्राकरणिक अर्थ बोध के लिए द्वितीय बार अर्थोपस्थिति की कल्पना करनी पड़ती है। तात्पर्यज्ञान केवल प्रसंगोपयोगी अर्थ का बोध

होने पर प्रतिभा विशेष के बल पर कवि का वांछित चमत्कार वहन करनेवाला अप्राकरणिक अर्थ भी प्रतीत होता ही है, अतः इसके लिये दूसरी बार पदार्थोपस्थिति की कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी।

अर्थोपस्थिति-मात्र पदज्ञान से होती है, पर कई क्षण बीत जाने के कारण पदज्ञान विनष्ट हो चुका रहता है और तात्पर्य का इस अर्थ में अभाव होने से पूर्वोक्त पद्धति[1] से तात्पर्यात्मक पदज्ञान भी कारण नहीं है। अतः प्रश्न है कि द्वितीय अर्थोपस्थिति में अपेक्षित पदज्ञान कैसे उपलब्ध हो?

इस प्रश्न के एक नहीं तीन उत्तर हो सकते हैं, जिनमें से (१) प्रथम यह है कि नियमानुसार कार्य होने से पूर्व चाहे कारण उपस्थित हो, या कारण का व्यापार दोनों में से कोई भी स्थिति हो, कार्य हो जाता है। इस नियम के अनुसार माना कि प्रस्तुत स्थल में अर्थ बोध रूप कार्य के लिए अपेक्षित पदज्ञान रूप कारण नहीं है, पर प्राथमिक अर्थ स्वरूप (पारिभाषिक) व्यापार तो नियमतः पुनः होने वाली अप्राकरणिक अर्थ बोध से पूर्व स्थित है ही। अतः कार्य के होने में कोई आपत्ति नहीं। (२) दूसरा उत्तर यह है कि वैयाकरण भर्तृहरि के अनुसार पद से जितने पदार्थों की उपस्थिति होती है, वे पदार्थ अपनी कुक्षि में अपने असाधारण धर्म (शक्यतावच्छेदक) को लिये रहते हैं, उसी अपने वाचक शब्द को भी। इस सिद्धांत के सहारे हम स्पष्ट कह सकते हैं कि अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति से जो नियत पूर्व प्राथमिक अर्थबोध रहता है, उसी के साथ पद भी अनुस्यूत रहते हैं, अतः उनका ज्ञान कारण के रूप में स्वयं ही उपस्थित हैं (३) तीसरा उत्तर यह है कि 'आवृत्ति' द्वारा वे ही शब्द पुनः ला दिये जायँ।

(ये दोनों व्याख्यान किस प्रकार 'अनेकार्थस्य' इत्यादि कारिका से संगत हैं, इसका विवेचन प्रकरण में अनपेक्षित होने से और विस्तार-साध्य होने के कारण छोड़ दिए जाते हैं। जिज्ञासा की शांति के लिए रसगंगाधर देखना आवश्यक है)।

उक्त दोनों मतों में जो व्यंग्यार्थ की स्थापना की गई है, स्वयं पंडितराज ने दोनों मतों का विरोध कर वहाँ अप्राकरणिक अर्थ को अभिधेय अर्थ ही सिद्ध करना चाहा और किया भी है। कहने का तात्पर्य यह कि इस रीति

१—देखिए पृ० ६८ पंक्ति ८।

से भी सिद्ध व्यंग्यार्थ का खंडन किया गया है, और फलस्वरूप शाब्दी व्यंजना समाप्त हो जाती है। कहा जा सकता है कि उपमा को लेकर ही शाब्दी व्यंजना की स्थिति मान ली जाय, पर आधुनिक विद्वान् इसका भी खंडन करते हैं। इस खंडन प्रक्रिया की चर्चा आगे उपस्थित की जा रही है।

प्रथम व्याख्यान का खंडन :—

इस व्याख्यान में यह बताया गया है कि प्राकरणिक अर्थ बोध के लिए स्वतंत्र रूप से एक ही अर्थ की उपस्थिति आवश्यक है और वह पहली बार संभव नहीं है, अतः दूसरी बार एक ही अर्थ की उपस्थिति स्वीकृत की जाती है। परंतु इस प्रक्रिया की निरुपयोगिता तो द्वितीय व्याख्यान से ही दिखलाई गई है और दूसरी बात यह भी है कि पहली उपस्थिति में दूसरी, अप्रकरणिक अर्थ की उपस्थिति कभी रोकी नहीं जा सकती। पर इस मत में जो दूसरी या मध्यवर्ती उपस्थिति होती है उसमें प्रसंगोपयोगी अर्थ की ही अभिधा से उपस्थिति मानी गई है और अप्राकरणिक (द्वितीय) अर्थ की उपस्थिति में उसको प्रतिबद्ध मान लिया गया है, जो किसी तरह हृदयंगम नहीं होता।

बात यह है कि द्वितीयार्थ की स्मरणात्मक उपस्थिति होने के लिए जिन सामग्रियों की अपेक्षा है, वे सभी जब यहाँ उपस्थित हैं, तो क्या कारण है कि स्मृति का प्रतिबंध माना जाय। स्मृति में दो ही कारण प्रमुख हैं—स्मरण में आने वाले विषयों का संस्कार और उनका उद्बोधक। संस्कार एवं उसके उद्बोधक के रहते हुए कहीं भी स्मृति का प्रतिबंध नहीं देखा गया। यहाँ द्वितीय या अप्राकरणिक अर्थ का संस्कार भी है और उसका उद्बोधक पदज्ञान भी और जब दोनों है, तब कोई कारण नहीं कि स्मृति का प्रतिबंध हो। जब सर्वत्र संस्कार एवं उद्बोधक के रहने से स्मृति होती है, तो यहाँ उन्हीं कारणों के रहते हुए स्मृति न हो, आखिर इस अपवाद का कारण क्या है। इस प्रकार यह स्मृति-प्रतिबंध की बात तर्क-सहिष्णु तो है ही नहीं, अनुभव भी इस पक्ष में साखी नहीं भरता।

एक उदाहरण लीजिए—मान लीजिए कि किसी रोगी ने च्यवनप्राश खाने के बाद किसी व्यक्ति से कहा हो 'पय ले आओ'। आज्ञाकारी व्यक्ति को यदि प्रसंग का ज्ञान न हो, तो इस स्थिति में पय शब्द से निर्बाध रूप में दूध एवं जल दोनों अर्थों की प्रतीति होगी। इस द्व्यर्थक शब्द को सुनकर

संदेह होना सहज संभव है और प्रसंग का ज्ञान न होने से निर्णय भी उसके हाथ का नहीं है। कल्पना कीजिए कि वहीं एक ऐसा आदमी बैठा हो, जिसे प्रकरण ज्ञान है। प्रकरण या प्रसंग का ज्ञान होने के कारण उसे वक्ता का अभिप्राय किस अर्थ में है—यह अच्छी प्रकार से ज्ञात है। उक्त मत के अनुसार इस प्रकरणज्ञ को अप्राकरणिक अर्थ की स्मृति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि प्रकरण ज्ञान स्मृति का प्रतिबंधक है। स्थिति यह है कि वह संदिग्ध श्रोता को समझाता है कि वक्ता का तात्पर्य जल में नहीं, किंतु दूध में है, पर उक्त मत को माना जाय, तब तो उसे अप्राकरणिक अर्थ का ज्ञान ही नहीं होना चाहिए और जब ज्ञान नहीं होगा, तो उक्त लोक व्यवहार (अर्थात् श्रोता को दोनों अर्थों में से एक अर्थ को समझाना) किस प्रकार बन सकेगा ? इसीलिए तो कह रहा हूँ कि अनुभव उक्त व्याख्यान से सहमत नहीं है।

इस प्रकार प्रकरणज्ञान के रहते हुए भी द्वितीयार्थ की उपस्थिति का जब प्रतिबंध नहीं हो सका, तो प्राकरणिक अर्थ में अभिधा के नियंत्रण की भी कोई आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य यह कि जब यह मत ही अपने आप में युक्ति-युक्त नहीं है, तो इस पर आधारित सिद्धान्त कहाँ तक ग्राह्य होगा ? अतः इस रास्ते सिद्ध की हुई व्यंजना तो ठीक नहीं है।

द्वितीय व्याख्यान का खण्डन:—

द्वितीय मत में यही स्थिर किया गया है कि नानार्थक शब्दों द्वारा उपस्थापित अनेक अर्थों में से, जिस अर्थ में वक्ता का तात्पर्य होता है, वह अभिधेय और जिसमें तात्पर्य नहीं होता, वह व्यंग्य है। इस मत का विरोध करने वाले ध्वनिवादियों या व्यंजनावादियों से पहले पहल दो प्रश्न करते हैं— (१) नानार्थक स्थलों में व्यंजना का उल्लास सर्वत्र एवं सदा होता है (२) अथवा यदा-कदा किसी विशेष स्थल पर ही ?

यदि प्रथम पक्ष को मान्य समझा जाय, तो इसका तात्पर्य यह होगा कि प्राकरणिक अर्थ की भाँति अप्राकरणिक अर्थ की भी प्रतीति सर्वत्र होती ही है और जब दोनों प्रकार के अर्थ सदा प्रतीत होते ही हैं, तो प्राकरणिक अर्थ में तात्पर्य ज्ञान के कारण मानने का प्रयोजन ? तात्पर्य ज्ञान के कारण मानने से क्या रुक गया अथवा क्या बढ़ गया ? जब दोनों अर्थों की सदा प्रतीति

होती ही है, तो इस तात्पर्य ज्ञान को बीच में लटकाने की कोई सार्थकता लक्षित नहीं होती।

इस पर कहा जा सकता है कि तात्पर्य ज्ञान को कारण मानने में व्यंजनावादी का अभिप्राय किसी अर्थ को रोकने का नहीं है, बल्कि दोनों प्रकार के अर्थों को अभिधेय एवं व्यंग्य इन दो कोटियों में विभक्त करने का है और वस्तुतः यही बात उक्त व्याख्यान में स्थिर भी की है। अर्थात् जिस अर्थ में तात्पर्य हो, उसे अभिधेय और जिसमें तात्पर्य न हो, उसे व्यंग्य कहते हैं। इस स्थिति में यदि तात्पर्यज्ञान को हटा दिया जाय तो उक्त भेद किसी प्रकार स्थिर ही नहीं हो सकेगा।

इस पर भी यह आपत्ति की जा सकती है कि जब सर्वत्र दोनों अर्थों की प्रतीति होनी ही है तो दो कोटियाँ (अभिधेय एवं व्यंग्य) ही क्यों बनाई जायँ ? दोनों को अभिधेय ही मान लें तो हानि क्या है ? व्यंजनावादी इस अभिधेयार्थ एवं व्यंग्यार्थ भेद के स्वीकार करने का प्रयोजन यह बताते हैं कि जो अभिधेय या प्राकरणिक होगा, उसकी प्रतीति पहले हो जायगी और व्यंग्यार्थ की बाद में। यदि दोनों अर्थों को अभिधेय ही मान लिया जाय, तो यह पहले और बाद का क्रम नहीं बन सकेगा। यदि दोनों की प्रतीति अभिधा से ही मान ली जाय तो कोई भी अर्थ पहले प्रतीत हो सकता है। श्लेष अलंकार में यही तो होता है, कि दोनों अर्थ वाच्य होने से जो जैसे चाहें—प्रतीत हो सकते हैं, उनके लिये कोई नियम नहीं है। शाब्दी व्यंजना के स्थल में यह स्थिति नहीं है। श्लेष में दोनों या अनेक अर्थ या तो प्राकरणिक ही होंगे अथवा अप्राकरणिक ही, पर शाब्दी व्यंजना में एक प्राकरणिक होगा और दूसरा अप्राकरणिक। अतः यहाँ प्राकरणिक प्रथमतः और अप्राकरणिक बाद में प्रतीत हो इसके लिये तात्पर्यज्ञान को अभिधेय एवं व्यंग्य के विभाजन में निमित्त मानना ही होगा।

इतने पर भी वावदूक खंडनकर्ता शांत नहीं होता, वह कहता है कि मत हों दोनों अर्थ क्रम से प्रतीत, दोनों व्युत्क्रम से या मनमाने ढंग से ही श्लेष की भाँति प्रतीत हों, बिगड़ क्या जाता है ? प्रतीत हो जाने के अनंतर तात्पर्यज्ञान स्वयं निर्णय कर देगा कि किस अर्थ को प्रसंग में प्रामाणिक मानें और किस अर्थ को प्रामाणिक न मानें ? तात्पर्य ज्ञान का कार्य वस्तुतः

यही है कि प्राप्त अर्थों की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता बतायें, कुछ यह नहीं कि उससे अभिधेय एवं व्यंग्य रूप अर्थ की दो कोटियाँ निर्धारित की जायँ ? सारांश यह कि दोनों अर्थ अभिधेय ही माने जाँय, एक को अभिधेय और एक को व्यंग्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार उक्त दो विकल्पों में से प्रथम विकल्प की मान्यता व्यंग्यार्थ की सिद्धि में अनुकूल नहीं है।

दूसरे विकल्प में यह कहा गया है कि व्यंजना का उल्लास कहीं कहीं ही होता है, सर्वत्र नहीं। इस पक्ष में यह जिज्ञासा सहज ही जगती है कि आखिर व्यंजना का उल्लास कहीं ही क्यों होता है ? इसका कारण क्या है ? इस प्रश्न के समाधान में यह कहना कि कवि का तात्पर्य अप्राकरणिक अर्थ में कभी कभी ही और कहीं-कहीं ही होता है, अतः जहाँ तात्पर्य होता है, वहीं व्यंजना का उल्लास होता है सर्वत्र नहीं—सर्वथा ठीक नहीं है। कारण यह है कि इस मत का प्रस्थापक तात्पर्य ज्ञान को अभिधा में सहायक मानता है, व्यंजना में नहीं। अतः व्यंजना के इस संकोचशील उल्लास में तात्पर्यज्ञान तो कारण नहीं हो सकता।

अतः दूसरा कारण दिया जाता है—श्रोता की शक्ति विशेष। अर्थात् व्यंजना का उल्लास ग्राहक की प्रतिभा विशेष पर निर्भर है, वह प्रतिभाशील है, तब तो व्यंजना का उल्लास हो सकता है और यदि प्रतिभाशील नहीं है तो व्यंजना का उल्लास कभी भी नहीं हो सकता। सारांश यह कि प्रतिभा विशेष ग्राहक या श्रोता मात्र में संभव नहीं, अतः व्यंजना का उल्लास भी सर्वत्र संभव नहीं। यह प्रतिभा विशेष भी सर्वथा एवं सर्वदा नानार्थ स्थलों में नहीं जगती, बल्कि वहीं जगती है, जहाँ कुछ चमत्कार हो। यह चमत्कार कहीं कहीं ही संभव है, अतः प्रतिभा भी कहीं कहीं ही कार्यशील होती है, फलतः व्यंजना का भी कहीं कहीं ही उल्लास होता है, सर्वत्र नहीं। खंडनकर्ता इस पक्ष में दो असुविधायें बताता है, जिनमें से पहली यह कि उक्त 'शक्ति विशेष' को नियंत्रित अभिधा का ही उल्लासक क्यों नहीं मान लिया जाता ? इससे लाभ यह होगा कि वह नियंत्रणमुक्त तो अभिलषित अप्राकरणिक अर्थ भी दे देगी और एक नवीन शक्ति की कल्पना करने से भी मुक्ति मिलेगी। दूसरी असुविधा अथवा दुरुत्तर प्रश्न यह खड़ा होता है कि उत्तम से उत्तम प्रतिभा रखने वाला व्यक्ति भी यदि अप्राकरणिक अर्थ की अभिधा से परिचित नहीं है, तो लाख मूड़ मारे, अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति उसे हो नहीं सकती। इसका अर्थ यही हुआ कि अप्राकरणिक अर्थ के ज्ञान में अभिधा का ज्ञान

कारण है, कुछ शक्तिविशेष नहीं। अतः जब अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में व्यंजना कारण ही नहीं तो उसके उल्लास में शक्तिविशेष को कारण मानने से लाभ ही क्या होगा ? इस प्रकार यह उत्तर भी ठीक नहीं।

इस पर से यह कहा जाय कि अप्राकरणिक अर्थ के ज्ञान में जो व्यंजना कारण है, उसका उल्लासक 'शक्ति विशेष' नहीं, बल्कि अभिधा ही है अर्थात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति में संकेतग्रह आवश्यक है। संकेतग्रह के अभाव में अप्राकरणिक व्यंग्यार्थ कभी भी प्रतीत नहीं हो सकता। पर व्यंग्यार्थ प्रतीति वहीं हो सकती है, जहाँ संकेतग्रह हो—यह नियम दो चार स्थलों के लिए ठीक होले, पर सर्वत्र के लिये ठीक नहीं हो सकता। शाब्दी व्यंजना के स्थलों में जो व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है, वहाँ चाहे यह नियम काम कर जाय, पर आर्थी व्यंजना का व्यंग्यार्थ कहाँ संकेत ग्रह की अपेक्षा करता है ? और इस पर यदि उक्त नियम को केवल शाब्दी व्यंजना के स्थल में ही माना भी जाय, तब भी यह बड़ी अच्छी तरह कहा जा सकता है कि जब शाब्दी व्यंजना में व्यंग्यार्थ या अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में अभिधा ही कारण है, संकेत ग्रह ही कारण है, तो बीच में निरर्थक व्यंजना के उल्लास स्वीकार का प्रयोजन ही क्या ?

व्यंजनावादी अब भी शाब्दी व्यंजना के स्थल में व्यंग्यार्थ की प्रतीति में संकेतग्रह को कारण मानता हुआ भी उसे ही पर्याप्त नहीं मानता, अतः व्यंजना केउ ल्लास को अपेक्षित मानता है। केवल संकेतग्रह ही को पर्याप्त न मानने का कारण यह है कि अर्थ किसी न किसी शब्द की शक्ति से ही मिलेगा और संकेतग्रह कोई शक्ति नहीं है और अभिधा का सहायक होने से औपचारिक रूप में उसे शक्ति मानें भी, तो वह अभिधा ही हो सकती है, परंतु अभिधा प्रकरण से नियंत्रित होने के कारण अप्राकरणिक अर्थ के प्रत्यायन में समर्थ नहीं है, अतः संकेतग्रह के अतिरिक्त व्यंजना को भी मानना आवश्यक है। पर खंडनकर्ता कहता है कि इस द्वितीय व्याख्यान में नियंत्रण की बात पहले ही खंडित हो चुकी है। अतः व्यंजना के उल्लास की कल्पना निरर्थक ही है, अभिधा से ही द्वितीय अर्थ की उपस्थिति मान लेनी चाहिए।

इतना होने पर भी व्यंजनावादी अपना आग्रह नहीं छोड़ता और कहता है कि नानार्थक स्थानों में जो अनेकविध अर्थ प्रतीत होते हैं, वे दो प्रकार से प्रतीत होते हैं—निर्बाध एवं सबाध। उक्त उदाहरण[1] (राजा एवं हाथी का

१—देखिए पृ० ४८।

वर्णन साथ साथ जहाँ श्लिष्ट पदों से किया गया है) में जो अप्रकारणिक अर्थ प्रतीत होता है, वहाँ उक्त पद्धति से यदि अभिधा काम कर भी जाय, तो भी बाधपूर्वक प्रतीत होने वाले अप्राकरणिक अर्थों में अभिधा कैसे आ सकती है ? क्योंकि बाधित अर्थों की प्रतीति कराने में अभिधा कभी भी उपयोगी नहीं होती । उदाहरणार्थ यदि कोई कहे कि 'आपके दर्शन से हमारी मनुष्य योनि सफल हो गई—तो अभिधा से जो अर्थ आता है, वह तो स्पष्ट ही है । यहाँ अभिधा के द्वारा जो प्रसंगोपयोगी अर्थ मिलता है, वह यही है कि आप के दर्शन से हमारा मनुष्य जन्म सफल हो गया यहाँ एक अप्राकरणिक अश्लील अर्थ भी संभव है और वह यह है कि 'आपके दर्शन से ही हमारी मनुष्य योनि (मानवीय गुह्यांग) सफल (तृप्त) हो गई । 'श्रोता अच्छी तरह जानता है कि वक्ता का तात्पर्य इस अप्राकरणिक अश्लील अर्थ में कभी नहीं है और यही तथ्य द्वितीय अर्थ की प्रतीत में बाधक है । बाधक होते हुए भी उस अर्थ की प्रतीति होती ही है अतः निश्चय है कि यह सबाध अर्थ अभिधा से नहीं, किंतु व्यंजना से ही मिलता है । अभिधा बाधित का बोध नहीं करा सकती, जबकि व्यंजना बाधित, अबाधित सबका बोध करा सकती है । सारांश यह कि ऐसे नानार्थक स्थलों में बाधित अर्थ कहीं कहीं ही होता है, और वहाँ उस अर्थ के बोध के लिये व्यंजना का उल्लास आवश्यक होगा ।

व्यंजनावादी के समान खंडनकर्ता भी साधारण नहीं है, वह क्यों हार माने ? अब भी वह अपने सिद्धांत को पुष्ट करता हुआ और विरोधी के उक्त सिद्धांत का खंडन करता हुआ कहता है कि यदि बाधित स्थलों में अन्यार्थ की प्रतीति व्यंजना से ही स्वीकार कर ली जाय, तब तो अलंकार मात्र में व्यंजना का उल्लास मानना होगा । कारण यह है कि जितने अलंकार वाच्य कहे जाते हैं, उन सबमें कुछ लोकोत्तरता रहती ही है, जो लौकिक दृष्टि से बाधित है । भामह ने कहा ही है कि अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति सभी अलंकारों के मूल में रहती है । अतः जब अलंकार मात्र में बाध संभव है, तब तो यहाँ सभी अलंकार व्यंग्य ही हो जायँगे । पर अलंकारिकों को यह मत जैसे यहाँ बिलकुल मान्य नहीं है, वैसे ही नानार्थक स्थल में प्राप्त होने वाली सबाधा अर्थों के प्रति भी व्यंजना का उल्लास मानना युक्तियुक्त नहीं है ।

इस प्रकार द्वितीय व्याख्यान द्वारा सिद्ध व्यंग्यार्थ की भी सत्ता समाप्त हो गई और व्यंग्यार्थ की असत्ता में व्यंजना की आवश्यकता ही क्या ? यह प्रश्न बना ही रह जाता है ।

सप्तम मत (व्यंजना के उपस्थापन का नवीन प्रयास):—

आलोककार की कारिका पर आश्रित चारों मतों तथा मम्मट की कारिका के दोनों व्याख्याओं द्वारा साधित व्यंग्यार्थ तथा व्यंजना का खंडन किए जाने पर पंडितराज जगन्नाथ ने द्वितीय आनन में एक नवीन कारिका की रचना की और नवीन स्थल में शाब्दी व्यंजना की स्थापना की। कारिका यों है—

'योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियंत्रिते।
धियं योगस्पृ शोऽर्थस्य या सूते व्यंजनैव सा॥

अर्थात् योगरूढ़ शब्दों में जब रूढ़ि शक्ति से अवयव शक्ति का नियंत्रण हो जाता है और तब भी अवयव शक्ति से प्राप्त होने वाले अर्थों का ज्ञान होता है, तो वहाँ इस प्रकार के अर्थज्ञान में उपयोगी शक्ति व्यंजना ही है। यह व्यंजना शब्द से अन्वय व्यतिरेक रखती है अतः इसे शाब्दी कहते हैं।

एक उदाहरण लीजिए—'जिस काल में चपलायें अबलाओं की लक्ष्मी का अपहरण कर वारिवाहों के साथ निरंतर रमा करती हैं, वह काल उपस्थित है।'

इस उदाहरण में 'अबला' एवं 'वारिवाह' आदि पद योगरूढ़ हैं। यहाँ इन शब्दों से दो अर्थ निकलते हैं और इन दोनों में एक प्राकरणिक है और दूसरा अप्राकरणिक।

प्राकरणिक अर्थः—नायिकाओं के सौंदर्य को छीनती हुई बिजलियाँ जिस समय या ऋतु विशेष में मेघमंडल के साथ सदैव विलास करती रहती हैं, वह काल आ गया है।

अप्राकरणिक अर्थः—दुर्बलों की संपत्ति का हरण कर जिस काल में स्वैरिणी नायिकाएँ कहारों (वारिवाहक) के साथ रमण किया करती हैं, वह समय आ गया है।

प्रस्तुत दोनों अर्थों के संपादन में अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण शब्द है—अबला एवं वारिवाह। ये दोनों शब्द योगरूढ़ हैं। स्मरण रखने की बात है कि ऐसे योगरूढ़ पदों की अभिधा (योगरूढ़ि) केवल उसी एक अर्थ में होती है, जो उसकी रूढ़ि शक्ति से सिद्ध है। रूढ़ि शक्ति से 'अबला' एवं 'वारिवाह' शब्द क्रमशः प्रसंगोपयोगी 'नायिका' एवं 'मेघ'—ये ही दोनों अर्थ प्राप्त हैं।

अप्रासंगिक अर्थ में उपयोगी 'दुर्बल' एवं 'कहार' वाला अर्थ उक्त योगरूढ़ शब्द की योगरूढ़ि (अभिधा) शक्ति से नहीं मिला है। निर्बाध प्रतीत होने से वह अर्थ लक्षणा का कार्य हो नहीं सकता, अतः फलस्वरूप किसी अन्य वृत्ति का ही कार्य है और वह अन्य वृत्ति होगी 'व्यंजना'। इस व्यंजना का अन्वयव्यतिरेक शब्द से है, अतः यहाँ शाब्दी व्यंजना माननी होगी।

खंडनः—

आधुनिक विद्वान इस मत का भी खंडन करते हैं। उनका भाव यह है कि पंडितराज ने शाब्दी व्यंजना का जो यह नवीन स्थल (योगरूढ़ शब्द) कल्पित किया है, वह भी उपयुक्त नहीं है। अनुपयुक्तता का कारण बताते हुए उन्होंने लिखा है कि पंडितराज की इस व्यवस्था से अप्राकरणिक अर्थ सदैव अवयव लभ्य होना चाहिए। पर कुछ स्थल ऐसे हैं, जहाँ उनका यह नियम नहीं घटता। आगे लोचनकार अभिभव गुप्तपाद का एक उदाहरण[1] देते हुए वहीं इस नियम का अतिचार दिखाया है—उदाहरण अनूदित होकर निम्न-लिखित है।

'इसी बीच कुसुमसमय युग का उपसंहार करता हुआ फुल्लमल्लिका धवलाट्टहास ग्रीष्म नामक महाकाल का विजृम्भण हुआ।' इस वाक्य से दो अर्थ निकलते हैं।

प्रसंगोपयोगी अर्थः—इसी बीच बसंत ऋतु के दोनों महीनों का उप-संहार करता हुआ खिली हुई मल्लिका से पूरी बाजार को शुभ्र वर्ण का बनाता हुआ ग्रीष्म का भीषण समय उपस्थित हुआ।

अप्रासंगिक अर्थः—कृत, त्रेता आदि युगों का संहार करता हुआ वह भयानक रुद्र देवता प्रकट हुआ, जिसका अट्टहास प्रफुल्ल मल्लिका सा शुभ्र वर्ण का है। उक्त वाक्य से प्राप्त इन दोनों अर्थों की पारस्परिक असंबद्धता दूर करने के लिये इनमें परस्पर उपमानोपमेय भाव संबंध मान लेना चाहिए और इस प्रकार दोनों अर्थों में जो उपमा की प्रतीति होती है, वह भी व्यंग्य ही है।

१—'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लम-ल्लिकाधवलाट्टहासः महाकालः। ध्वन्यालोक, द्वि० उ०

यहाँ 'महाकाल' शब्द योगरूढ़ है। इस शब्द की योगरूढ़ि 'देव विशेष' के अर्थ में है, पर यह अर्थ रसगंगाधर के नियमानुसार प्राकरणिक नहीं, बल्कि अप्राकरणिक है। इसके विपरीत जो प्रसंगोपयोगी अर्थ है, वह योग शक्ति का प्राप्य है। यहाँ पंडितराज के नियम का उल्लंघन स्पष्ट है। जब पंडितराज का मत ही दूषित है तो उस पर निर्भर उदाहरण या शाब्दीव्यंजना का प्रपंच भी शिथिल ही है।

अष्टम मतः —

पंडितराज के मत खंडन का मूल कारण उनके उदाहरण को देखकर निश्चय किया हुआ नियम है। इसी नियम को दूषित कर उनके मत का खंडन किया गया है। पर हमारा अपना विचार यह है कि यह नियम पंडितराज का न तो बनाया हुआ ही है और न यह नियम उन्हें वांछित ही है। इस नियम के भंग हो जाने से रसगंगाधर के अनुसार प्राप्त अप्राकरणिक अर्थ अभिधेय तो नहीं हो जायगा। इस नियम के भंग हो जाने से योगरूढ़ शब्द अपनी रूढ़िनिरपेक्ष योग से जो अर्थ देंगे, वे अर्थ अभिधेय हो जायं, ऐसी कोई युक्ति लक्षित नहीं होती।

व्यंजनाभंजक को पूछना यह उचित है कि ध्वन्यालोककार का 'महाकाल' शब्द जो अप्राकरणिक अर्थ दे रहा है, वह व्यंग्य कैसे? वस्तुतः नियम यह है कि जो अप्राकरणिक हो, वह व्यंग्य हो और जो प्राकरणिक हो, वह वाच्य हो; कुछ यह नहीं कि सब जगह अप्राकरणिक अवयव शक्ति का ही प्राप्य हो, जैसा कि खंडनकर्ता का विचार है। यह बात ध्वन्यालोककार के उदाहरण में अवश्य विचारणीय है कि यदि 'महाकाल' शब्द योगरूढ़ है, तो उसकी योगरूढ़ि शक्ति ही अभिधा शक्ति है, अवयव शक्ति नहीं और प्राकरणिक अर्थ, जिसे अभिधेय होना ही चाहिए, वह अवयव शक्ति से प्राप्य है, अतः उसे अभिधेय कहा नहीं जा सकता। विपरीत इसके अप्राकरणिक अर्थ योगरूढ़ि से प्राप्त होने के कारण अभिधेय तो रहा है, जब कि नियमतः उसे व्यंग्य होना चाहिए। यह उलट फेर कैसे सुलझे? विचारणीय यह है।

लोचनकार अभिनव गुप्त पाद ने स्वयं इस प्रश्न का उत्तर दिया है। उन्होंने बताया है कि यहाँ ऋतुवर्णन का प्रकरण है और इसका प्रकरण होने से प्रकरणोपयोगी अर्थ ऋतुपरक है। यद्यपि 'योगरूढ़' शब्दों में यह होता

है कि 'योगाद्रूढ़िर्बलीयसी' के अनुसार सामान्यतः रूढ़ि शक्ति अवयव शक्ति को दबा देती है, किंतु यह वहीं होता है, जहाँ केवल योग और रूढ़ि की ही बात हो, इन्हीं दोनों का झगड़ा हो। जहाँ पर प्रकरण योग शक्ति के पक्ष में होता है, वहाँ रूढ़ि योग शक्ति[1] को दबा नहीं पाती। फलतः ऐसे स्थलों में *योगरूढ़ शब्दों की अवयव शक्ति प्रकरण की सहायता पाकर अर्थ का उपस्थान* अभिधा के ही स्वरूप में करती है और प्राकरणिक अर्थ का बोध कराकर इस शब्द की अभिधा शक्ति कृतकृत्य हो जाती है, इसके[2] अनंतर जो अर्थ प्राप्त होता है, वह ध्वनन व्यापार से। अर्थात् ऐसे स्थलों में योगरूढ़ शब्दों का सामान्य नियम भंग हो जाता है। यहाँ योगरूढ़ि अभिधा नहीं होती अतः इस शक्ति प्राप्त अप्राकरणिक अर्थ भी अभिधेय नहीं होता, किंतु व्यंग्य ही होता है।

इस प्रकार जब द्वितीय या अप्राकरणिक अर्थ व्यंग्य हो गया तो इन दोनों अर्थों को संबद्ध करनेवाली उपमा भी व्यंग्य हो गई। इन दोनों अर्थों में *उपयोगी व्यंजना शब्द के साथ सम्बद्ध होने के कारण शाब्दी हुई।*

रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ से पूर्व एक विचार प्रसिद्ध दार्शनिक अप्पय[3] दीक्षित का भी है। इनका कहना है कि प्रकाशकार ने अपनी शाब्दी व्यंजना की स्थापना जिस कारिका (अनेकार्थस्य शब्दस्य) से की है उसका संबंध केवल नानार्थक शब्दों के प्रयोगस्थ में व्यंग्य होने वाली उपमा मात्र से ही है, *कुछ अप्राकरणिक अर्थ को भी लेकर नहीं। अप्राकरणिक अर्थ अभि-*धेय ही है। श्लेष से इस स्थल की विशेषता यह है कि श्लेष में यहाँ की सी स्थिति नहीं होती। श्लेष में दोनों अर्थ या तो प्राकरणिक ही होंगे अथवा अप्राकरणिक ही। और श्लेष से इसका अंतर सिद्ध करने का बहुत आग्रह हो ही तो इसे गूढ़ श्लेष कह लें। इसका अर्थ अप्राकरणिक है केवल इतने मात्र को लेकर व्यंग्य कहना ठीक नहीं है।

पंडितराज जगन्नाथ ने इस मत का भी खंडन किया है। अप्पय दीक्षित

१—'रूढिर्योगापहारिणीति तु प्रकरणाद्यभावे'

—वै भू० दर्पण टीका

२—'अत्र ऋतुवर्णनप्रस्तावनियन्त्रिताभिधाशक्तयः, अतएव 'अवयव-प्रसिद्धेः समुदाय प्रसिद्धिर्बलीयसी' ति न्यायमनाकुर्वतो महाकाल प्रभृतयः शब्दाः एतमेवार्थमभिधाय कृतकृत्या एव। तदनन्तरमर्थावगतिर्ध्वनन व्यापारादेव।'

—लोचन

३—कुवलयानंद।

का मत मौलिक नहीं है, बल्कि प्रकाशकार की पूर्वोक्त कारिका (अनेकार्थस्य शब्दस्य) का यह एक व्याख्यान है। अप्पय का शाब्दी व्यंजना के संबंध में जो मत है वह दीक्षित जी की बुद्धि के अनुसार प्रकाशकार का अभिप्राय है। पंडितराज का विचार है कि प्रकाशकार की कारिका से दीक्षितसंमत सिद्धांत कभी नहीं निकल सकता। कारण यह है कि दीक्षित जी ने अप्राकरणिक अर्थ को भी अभिधेय मान लिया है और उसके अभिधेय हो जाने पर प्रकाशकार की नियंत्रण वाली (वाचकत्वे नियंत्रिते) उक्ति कैसे चरितार्थ होगी ? यह द्वितीय या अप्राकरणिक अर्थ ही है, जिसकी ओर अभिधा उन्मुख होती है, और उसका नियंत्रण संयोग आदि करते हैं। यदि वह अप्राकरणिक अर्थ भी अभिधेय रूप से वांछित हो तो अभिधा के नियंत्रण का फल ही क्या है ? इन दो अर्थों के अतिरिक्त एक तीसरा अर्थ 'उपमा' अवश्य है, पर वह शब्द की शक्ति अभिधा का विषय नहीं है, क्योंकि उपमा का वाचक कोई भी शब्द यहाँ गृहीत नहीं है। इस प्रकार इस स्थल के जो तीन अर्थ हैं—प्राकरणिक, अप्राकरणिक एवं उपमा, उनमें दो को अभिधेय होना है, तीसरे में अभिधा की गुंजाइश ही नहीं है; स्थिति के नियंत्रण का फल क्या है ? इसका फल तो तब होता, जब किसी अर्थ की प्राप्ति में अभिधा उन्मुख होती, और उसका उन्मुख होना वांछित न होता, पर यहाँ तो कोई ऐसी स्थिति ही नहीं संभव है। यह 'नियंत्रण' की उक्ति तब सार्थक होती, जब द्वितीय अर्थ को अभिधेय न मानना हो, पर अप्पय दीक्षित इस मान्यता के विरुद्ध हैं। फलतः उनकी बुद्धि से प्रकाशकार का जो अभिप्राय लगाया गया है, वह कभी भी ठीक नहीं है। प्रकाशकार की कारिका की संगति तभी लग सकती है जब अप्रकरणिक अर्थ को अभिधेय न मानकर व्यंग्य ही माना जाय।

इस प्रकार ध्वन्यालोककार की कारिका पर लोचन के जिन चार मतों द्वारा व्याख्यान उपस्थित किया गया है, प्रकाशकार की कारिका पर पंडित-राज द्वारा जिन दो व्याख्यानों एवं अप्पय दीक्षित का अभिप्राय चर्चित किया गया है, रसगंगाधरकार की नवीन कारिका द्वारा जो व्यंजना-परक व्याख्यान टंकित किया गया है, उन सबकी सांगोपांग समीक्षा द्वारा अंत में नानार्थक स्थलों से प्राप्त अप्राकरणिक अर्थ तथा उपमा को शाब्दी-व्यंजना का विषय समर्थित किया गया। यहाँ तक शाब्दी व्यंजना की सिद्धि एवं पूर्ण प्रतिष्ठा हुई।

———

पंचम परिच्छेद

अभिधामूला आर्थी व्यंजना

तृतीय परिच्छेद में व्यंजना के सामान्य स्वरूप पर विचार किया जा चुका है और उसके तीन प्रभेदों में से शाब्दी-व्यंजना की चर्चा भी पूर्व-अध्याय में हो चुकी। संप्रति, व्यंजना के द्वितीय प्रभेद 'आर्थी व्यंजना' का विचार इस परिच्छेद का विषय है। 'आर्थीव्यंजना' जिस व्यंग्यार्थ के उपयोग में आने वाली शक्ति है, वह नानार्थक शब्दों में रहने वाली नहीं है। ऐसे स्थलों के वाक्य श्लिष्ट तो होते ही नहीं और उनके साथ यह भी शर्त नहीं है कि उन्हीं शब्दों के रहने पर ('शाब्दी-व्यंजना' के स्थल की भाँति) व्यंग्यार्थ लब्ध हो सके। यहाँ के व्यंजक शब्दों में पर्याय का प्रयोग कर देने पर भी जब तक मूल शब्द का अर्थ बचा रहेगा, तब तक व्यंग्यार्थ की प्रतीति में कोई बाधा नहीं आ सकती। सारांश यह कि यहाँ के व्यंग्यार्थ का अन्वय-व्यतिरेक जितना अर्थ से है, उतना शब्द से नहीं। अतः नानार्थक स्थलों में जिस प्रकार व्यंग्यार्थ या व्यंजना का संबंध शब्द से होने के कारण उसे शाब्दी कहा जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी व्यंग्यार्थ एवं व्यंजना का संबंध अर्थ से होने के कारण इसे 'आर्थी व्यंजना' कहा जाता है। यहाँ की व्यंजना इसलिए भी 'आर्थी' कही जाती है कि वह अर्थ का व्यापार है।

इस 'आर्थी व्यंजना' के स्थलों में जो अर्थ व्यंजक होते हैं, उनमें व्यंजन सामर्थ्य का आधान कराने वाले कई तत्व होते हैं। इन सामर्थ्याधायक तत्वों की चर्चा करने से पूर्व व्यंजक अर्थ कितने प्रकार के होते हैं—यह देख लेना चाहिए। प्रकाशकार मम्मट ने कहा है कि प्रायः सभी प्रकार के अर्थ व्यंजक होते हैं। सभी प्रकार के अर्थों से हमारा तात्पर्य—वाच्य, लक्ष्य एवं व्यंग्य इन तीनों अर्थों से है। इन अर्थों में अन्य (व्यंग्य) अर्थ के बोधन की क्षमता पैदा करने वालों अर्थों में कुछ का परिगण आचार्यों ने किया है। उदाहरणार्थ—वक्ता, बोद्धव्य (श्रोता या जिसको लक्ष्य में रखकर वाक्य का उच्चारण किया जाता है) काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य का सान्निध्य, प्रस्ताव, देश, काल तथा चेष्टा का वैशिष्ट्य—ही उक्त प्रकार के अर्थों में वह सामर्थ्य पैदा करता है, जिससे वे अवांतर अर्थ पैदा कर पाते हैं। इन निमित्तों के होते हुए भी

'व्यंजना' उसी को अन्य अर्थ झलका सकती है, जो प्रतिभावान् है। तात्पर्य यह कि उक्त निमित्तों के वैशिष्ट्य के साथ विशिष्ट प्रतिभा भी व्यंजना के उल्लास में हेतु है। इन्हीं सहकारी कारणों से व्यंजक अर्थ द्वारा अन्य अर्थ के परिज्ञान में जो शक्ति काम करती है, उसे व्यंजना[२] कहते हैं।

एक उदाहरण से ऊपर के सारे सूत्र स्पष्ट हो जायँगे —

'गोदावरी कूल के कुंजों में रहता है जो मृगराज।
अरे पुजारी! उस केहरि ने मार दिया कुत्ते को आज।
जो सर्वदा तुम्हें करता था परेशान,
पर, अब निर्भय होकर इन गलियों में विचरो,
करो स्वाभिमत का संचय।

प्रसंग यह है कि किसी स्वैरिणी नायिका ने गोदावरी नदी के किनारे अपना संकेत स्थल बना रखा था। स्थान ऐसा था, जो पुष्पों एवं पल्लवों से गहागह भरा हुआ था। कोई एक पुजारी नित्य-प्रति अर्चन में अपेक्षित पुष्पों का चयन करने के लिए वहाँ नित्य आया करता था। इस कारण उस पुंश्चली की केलिक्रिया में विघ्न तो होता ही था, साथ साथ वह स्थल भी पुष्पों एवं पल्लवों के निरंतर ग्रहण से उत्तरोत्तर विरलछाय होता जारहा था। सो, इस हानिको असह्य मानकर स्वैरिणी नायिका के मन में यह विचार आया कि किसी प्रकार इसका (पुजारी का) कुंज में आगमन रोकना चाहिए। संयोग की बात है कि वह धार्मिक उसी गांव में भिक्षा मांगने जाया करता था। उस गांव की यह स्थिति थी, कि उसमें एक कटहा कुत्ता था, जो पुजारी को देखकर उसके पीछे पड़ जाता था, फलतः वह इतना उससे भीत हो गया था कि किसी प्रकार लुक छिपकर अपनी भिक्षा वृत्ति करता। वह स्वैरिणी नायिका पुजारी की इस भीत प्रकृति से खूब परिचित थी। एक दिन उस नायिका ने किया यह कि उस कुत्ते को

१—'सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यंजकत्वमपीष्यते'

का० प्र० द्वि० उ०।

२—'वक्तृ बोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसंनिधिः। प्रस्ताव देशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभा जुषाम्। योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा।'

का० प्र० तृ० उ०

घर में बांध दिया और उस दिन जब वह धार्मिक पुनः भिक्षा मांगने आया तो आज पहले से ही उसके ताक में थी। आते ही उसने उस पुजारी को संबोधन कर उक्त पदों का प्रयोग किया। जिसका भावार्थ यह है कि—'हे पुजारी ! अब निःशंक होकर आप भिक्षा वृत्ति निबाहें, वह कुत्ता जो आपको तंग किया करता था, एक मत सिंह के द्वारा मार डाला गया। आज कल वह सिंह गोदावरी नदी के जलप्राय तट पर एक कुंज में रहा करता है।'

इस स्थल का विश्लेषण करने पर उक्त सभी सूत्र या नियम स्पष्ट हो जायंगे। (१) पहली बात यह कि यहाँ का व्यंजक अर्थ वाच्यार्थ है। (२) दूसरी बात यह कि यहाँ के शब्दों का पर्याय भी रख दिया जाय, तो भी जब तक मूल वाच्यार्थ स्थिर रहेगा, वांछित व्यंग्यार्थ की प्राप्ति में कोई क्षति नहीं होगी। (३) तीसरे यह देखना चाहिए कि इस वाच्यार्थ में व्यंजना का सामर्थ्य उत्पन्न करने वाले कौन कौन से तत्व गृहीत हैं। यहाँ पाठक को व्यंग्यार्थ की प्रतीति तभी हो सकती है, जब वह प्रतिभावान् हो। इसके अतिरिक्त 'प्रस्ताव' अर्थात् 'प्रसंग' की विशेषता से परिचित हो। इतना ही नहीं, वक्ता (नायिका) की व्यभिचार-परायण वृत्ति की उसे पूरी जानकारी हो, साथ साथ उक्त वाक्य का प्रयोग जिस पुजारी (बोद्धव्य) को लक्ष्य करके किया जा रहा है, उसकी भीरु प्रकृति का भी उसे ज्ञान हो। यदि पाठक को इन तत्वों की विशेषताएँ ज्ञात न हो और ज्ञात होने पर भी वह सप्रतिभ नहीं हुआ, तो लाख सर पटकने पर भी उसे व्यंग्यार्थ की प्रतीति न हो सकेगी। इन विशेषताओं से परिचित होने पर ही प्रकरण विशेष को देखकर पाठक को वाच्यार्थ ज्ञान मात्र से परितोष नहीं होता, उसकी बुद्धि इधर-उधर दौड़ने लगती है और अंत में वह संतोष की सांस तब लेती है, जब प्रकरण में ठीक बैठ जाने वाला अर्थ झलक जाता है। यहाँ सभी की विशेषताओं पर बुद्धि दौड़ाने से स्पष्ट झलकता है कि पुंश्चली नायिका इस कुंज में मत्त सिंह का निवास बताकर प्रधानतः उसे यह भय पैदा कर देना चाहती है कि, वहाँ जाने पर सिंह उसे भी मार डालेगा। अतः इस भय से अब कुंज गमन कभी नहीं कर सकेगा। इस प्रकार यहाँ का व्यंग्यार्थ 'कुंज गमन के निषेध' में ही है।

तृतीय परिच्छेद में व्यंजना की जो सामान्य परिभाषा बताई गई है, उस दृष्टि से इस अर्थ की परीक्षा करें, तो भी यह अर्थ उस निकष पर पूरा पूरा उतर आता है। वहाँ कहा गया है कि व्यंग्यार्थ वही होता है, जो (!) केवल

शब्दों के द्वारा ही बुद्धि में उपस्थित हो पाया हो, (ii) दूसरे यह कि वह शब्द की भी अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य शक्ति से उपलब्ध न हो सका हो (iii) तीसरे यह कि वह अर्थ व्यंजक के सामर्थ्य से आया हो, मनमाना और हठात् न लाया गया हो। इन तीनों दृष्टियों से जब हम उक्त अर्थ की परीक्षा करते हैं (१) तो हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस अर्थ की प्राप्ति स्वैरिणी नायिका द्वारा प्रयुक्त शब्दों से ही हुई है, (२) दूसरे यह कि इस अर्थ में उक्त शब्दों का संकेत न होने के कारण अभिधा तो काम कर नहीं सकती। 'तात्पर्य केवल दो या अनेक अभिधेय पदार्थों के पारस्परिक संबंध को बोधित करती है, और यह अर्थ दो अभिधेय पदार्थों का संबंध नहीं है, अतः व्यंग्यार्थ तात्पर्य वृत्ति का भी साध्य नहीं है। वाच्यार्थ में किसी प्रकार का 'बाध' आदि न होने से अपने कारण के अभाव में लक्षणा भी नहीं हो सकेगी (३) तीसरे यह कि वाच्यार्थ की सामर्थ्य है इस व्यंग्यार्थ के बोधन में, ऐसा नहीं कि हठात् खींचा गया हो। अतः किसी अर्थ को 'व्यंग्य' होने में जितनी शर्तें अपेक्षित हैं, वे सब वहाँ उपस्थित हैं। इसी अर्थ में उपयोगी शक्ति 'व्यंजना' शक्ति है।

इस व्यंजना वृत्ति के द्वारा रस, वस्तु एवं अलंकार–तीन प्रकार के अर्थ लाए जाते हैं। जहाँ तक 'रस' की बात है वह वाचक शब्दों द्वारा अर्थात् शब्दों की अभिधा शक्ति से किसी तरह प्राप्त नहीं हो सकता। कारण यह है कि 'रस' की प्रतीति न तो उसके समान्याभिधायी 'रस' शब्द के प्रयोग से हो पाती है और न तो विशेषाभिधायी 'शृंगार, वीर' आदि शब्दों के ही प्रयोग से हो पाती है। 'रस' की प्रतीति तो तभी हो सकती है, जब उसके विभाव, अनुभाव एवं संचारियों का प्रयोग हो। ये विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी रस के व्यंजक कहे जाते हैं, वाचक नहीं। जहाँ कहीं इन व्यंजक उपकरणों के साथ 'रस' आदि शब्दों का प्रयोग हो भी जाता है, वहाँ भी इस रस की प्रतीति रसादि वाचक शब्दों की महिमा से नहीं होती, बल्कि उक्त व्यंजक सामग्री से ही उसकी प्रतीति हो पाती है। इस प्रकार 'रस' की सत्ता का (अन्वय व्यतिरेक या) होना न होना विभावादि व्यंजक सामग्री के होने न होने पर निर्भर है। अतः तीन प्रकार के व्यंग्यार्थों में से रस तो कभी भी अभिधेय नहीं हो सकता, रहे वस्तु और अलंकार। ये वाच्य भी होते हैं और व्यंग्य भी।

इन तीनों प्रकार के प्रतीयमान अर्थों की सत्ता एवं उनकी प्रतीति में अपेक्षित व्यंजना के प्रति विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार की आपत्तियाँ

उठाई हैं, यद्यपि इन आपत्तियों में से कुछ व्यंजना वादियों के अपने मस्तिष्क की मौलिक या संभावित उपज भी हैं। इस अध्याय में इन सबका सांगोपाङ्ग विचार होगा।

आनंदवर्द्धन ने प्रधानतः व्यंग्य अर्थ के निराकरण में तीन मतों का उल्लेख किया है—(i) अभाववाद (ii) भक्तिवाद (iii) अनाख्येयवाद। इनके अतिरिक्त साहित्यदर्पण, लोचन, काव्य प्रकाश में भी कुछ भिन्न भिन्न प्रकार की आपत्तियाँ संगृहीत हैं। स्वयं ध्वन्यालोक में उक्त तीन विचारों के अतिरिक्त भी तृतीय उद्योत में व्यंजना के विरोध में कई एक तर्कों का संकलन है। भट्ट नायक, कुंतक, महिम भट्ट भी प्रधान व्यंग्य (ध्वनि) को अतर्क-प्रतिष्ठ बताते हैं। दार्शनिकों में मीमांसक, वेदान्ती नैयायिक एवं कुछ वैयाकरण भी व्यंजना में पूर्णतः अरुचि व्यक्त करते हैं। क्रमशः इन सभी लोगों के विचारों को देखा जायगा और विचार के अनंतर सिद्धांत मत की प्रतिष्ठा की जायगी।

(१) सबसे पहले हम 'अभाववाद' की ही चर्चा छेड़ते हैं। अभाववादियों का कहना यह है कि (प्रधान रूप से) व्यंग्य (ध्वनितत्व) कोई वस्तु ही नहीं है। क्योंकि यदि यह कुछ होता और उसका काव्य से संबंध होता, तो निश्चय ही काव्य की चारुता के संपादकों में वह भी एक होता। इन लोगों ने विचारपूर्वक यह स्थिर किया है कि चारुताधायक तत्व सब दो ही हैं—अलंकार एवं गुण। बात यह कि चारुता शब्दार्थमय काव्य में दो प्रकार[1] की ही हो सकती है—(i) शब्दार्थ के स्वरूप में रहने वाली (ii) या उनकी संघटना में रहने वाली। वे तत्व जो शब्द एवं अर्थ के स्वरूप को चारु बनाते हैं, उन्हें क्रमशः शब्दालंकार या अर्थालंकार कहा जाता है। इनकी संघटना में चारुता के आधायक जो तत्व हैं, उन्हें गुण कहा जाता है। वामनाचार्य के मत से ये गुण भी दो प्रकार के होते हैं—शब्द गुण एवं अर्थगुण। यद्यपि इन दो तत्वों से अतिरिक्त वृत्ति एवं रीति का नाम भी चारुताधायक तत्वों में सुना जाता है, तथापि विचारतः उनमें से रीति तत्व का अन्तर्भाव अलंकारों में एवं वृत्ति तत्व का अंतर्भाव गुणों में कर लिया जाता है। इस प्रकार चारुताधायक तत्वों में केवल गुणों तथा अलंकारों का ही काव्य से संबंध है। ध्वनि नाम की ऐसी कोई वस्तु आजतक नहीं सुनी गई। अतः ध्वनि यदि काव्य से संबद्ध एवं चारुताधायक तत्व के रूप में ध्वनिवादियों की

१—द्विविधं हि चारुत्वम्-स्वरूपनिष्ठं, संघटनानिष्ठं च। ध्व० लो० लो०।

कोई चीज है, तो वह उक्त पद्धति से कुछ नहीं है। ऊपर के विचार से स्पष्ट है कि गुण एवं अलंकार से भिन्न ऐसी कोई वस्तु सर्वथा नहीं है।

(२) इन अभाववादियों का एक दूसरा पक्ष भी है, जो केवल परंपरा की दुहाई देने वाला है। इन लोगों का कहना यह है कि यदि 'ध्वनि' कोई वस्तु होती, तो आज तक इतने तीव्र प्रतिभा संपन्न लक्षणकार हो चुके, क्या किसी की बुद्धि में यह बात न आती ? कहीं तो किसी ने किसी रूप में उसकी चर्चा की होती ? ध्वनिवादियों का काव्य-स्वरूप परंपरा से आते हुए प्रसिद्ध-प्रस्थान का अतिक्रमण करता है और उन लोगों द्वारा निर्धारित काव्य के सामान्य रूप की भी परिधि में नहीं आता। परंपरा स्वीकृत काव्य-सामान्य के लक्षण का ही लक्ष्य जब ध्वनिवादियों का काव्य नहीं हो पाता, अर्थात् जब वह सामान्यतः काव्य ही नहीं हो सकता, तो वह काव्य[1]-विशेष (काव्य का उत्तम प्रकार) कैसे हो सकता है। जो मनुष्य के सामान्य लक्षणों का ही विषय नहीं है, वह मनुष्य का विशेष—ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि—कैसे हो सकता है ? यही स्थिति ध्वनि काव्य की भी है।

(३) अभाववादी एक ढंग से और सिद्ध करते हैं कि ध्वनि कोई वस्तु नहीं। वे कहते हैं कि यद्यपि नाम और नामी नित्य संबद्ध हैं, अर्थात् एक के अभाव से दूसरे की कल्पना ही संभव नहीं और इसलिये 'ध्वनि' नाम को देखकर किसी न किसी नामी अर्थात् वस्तु की कल्पना करनी ही पड़ती है, तथापि वह वस्तु यदि कुछ है तो उक्त चारुता-धायक तत्वों में से ही एक हो सकती है। उसी में से किसी अलंकार का नाम 'ध्वनि' मान लिया जा सकता है। फिर भी जिस रूप में ध्वनि (प्रधान व्यंग्य) ध्वनिवादियों के द्वारा स्वीकृत है, उस रूप में ध्वनि तत्व कोई वस्तु नहीं, उसका काव्य से कोई संबंध नहीं। अथवा और आगे बढ़े तो यह कह सकते हैं, न हो 'ध्वनि' संज्ञा किसी पुराने अलंकार का नाम, वह नवविष्कृत ही हो, जिसकी संज्ञा ध्वनि है, पर है वह सर्वथा अलंकार ही। अलंकार से भिन्न कुछ नहीं। इस प्रकार अभाववादियों के ये तीन विकल्प हैं।

आनंदवर्द्धन ने इन तीनों विकल्पों का खंडन किया है। प्रथम विकल्प के संबंध में उनका उत्तर यह है कि ध्वनि तत्व है और काव्य में उसका वही

१—यत्रार्थः शब्दोवातर्थमुपसर्जकृतस्वार्थौ। व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथित। ध्व० आ० प्र० उ०।

स्थान है जो प्राणियों के शरीर में आत्मा का। आत्मस्थानीय होने के कारण वह आत्मा के उपस्कारक गुणों एवं अलंकारों से सर्वथा भिन्न है। वह काव्य में कुछ आवरणों से अवगुण्ठित रह शरीर में लावण्य की भाँति सभी प्रसिद्ध अवयवों से पृथक् एक रमणीय तत्त्व है। जैसे मोटी बुद्धिवालों में सूक्ष्म तत्त्व आत्मा के पहचानने की शक्ति का अभाव होने के कारण वे उस आत्मतत्त्व का या तो अभाव ही कहेंगे, अथवा जो कुछ बाहर चर्म-चक्षु-गोचर है, उसी को आत्मा कह देंगे, वही स्थिति इन अभाववादियों की भी है। ये लोग या तो प्रसिद्धि का मुँह देखते हैं, अर्थात् लोक जैसा कहता है, वैसा ही कह देते हैं, अथवा जो कुछ अपनी बाह्य आँखों से देखते हैं, उसे ही सर्वस्व मान लेते हैं। इन लोगों में अंतर्निहित निगूढ़ तत्त्वों के साक्षात्कार की प्रातिभचक्षु नहीं होती। चार्वाक् जिस प्रकार शरीर को ही सर्वस्व मानते हैं, पर उस शरीर पर झलकते हुए सौंदर्य के मूल में रहने वाली वस्तु का नाम नहीं लेते, उसी प्रकार कुछ मोटी बुद्धि के विचारक ध्वनितत्त्व की अवहेलना करते हैं। मोटे तौर पर ध्वनि या प्रतीयमान परस्पर पर्याय ही हैं। ध्वनि की सत्ता न मानते हुए ये लोग प्रतीयमान या व्यंग्य का अभाव ही तो सिद्ध करते हैं। विचार किया जाय तो प्रतीयमान की सत्ता अवश्य सिद्ध है। इतना तो सुनिश्चित है कि शब्द के वाच्य अर्थ से प्रतीयमान अर्थ सर्वदा भिन्न है। विचार करने की बात है कि कोई विशेष अर्थ ही क्यों सहृदय-श्लाध्य कहा जाता है, सब अर्थ क्यों नहीं सहृदय श्लाध्य कहे जाते ? आखिर, वाच्यार्थ ही शब्दों का एक मात्र अर्थ होता, तो ऐसी विषम दृष्टि क्यों होती ? वे ही अर्थ हमें वेद एवं लोक में प्रयुक्त होने वाले शब्दों से सर्वदा मिलते हैं, पर उनकी श्लाघा सहृदय जन नहीं करते। काव्य में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों से निवेदित वाच्यार्थ में आखिर ऐसा क्या सुर्खाब का पर लगा है, कि उसकी श्लाघा सहृदय जन मुक्त-कंठ से करते हैं। इस वैषम्य से इतना निश्चित है कि लौकिक एवं वैदिक शब्दों से काव्य शब्दों (या वाच्यार्थों) का अवश्य कोई तत्त्व भेदाधायक है। इन दोनों प्रकार के शब्दों से समर्पित वाच्यार्थों के अंतराल में रहने वाला अवश्य कोई वैशिष्ट्य या तत्त्व है, जो एक के साथ रहने से से उसे सहृदय श्लाध्य बनाता है और दूसरे के साथ न रहने से उसे सहृदय श्लाध्य नहीं बना पाता। यही वैशिष्ट्य प्रतीयमान है। काव्य में जब शब्दों का प्रयोग किया जाता है, तो सर्वदा इस तत्त्व पर ध्यान दिया जाता है, लोक और वेद प्रायः वाच्यार्थ-प्रवण शब्दों का ही प्रयोग करते हैं। वे शब्दों के अतिरिक्त अर्थ पर ध्यान नहीं देते,

जब कि काव्य का ध्यान प्रायः उसी पर रहता है। एबर क्रांबे ने कितना बढ़िया कहा है—'Poetry is electrification of language with extra meaning' अर्थात् शब्दों में अतिरिक्त अर्थ भरने वाली भाषा ही कविता है। ग्रियर्सन ने भी कहा है—'Poetry has over tone' अर्थात् कविता वाच्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ पर बल देती है। प्रकाशकार ने भी कहा है 'स्याद्वाचकोलाक्षणिकः[1] शब्दोऽत्र व्यंजकास्त्रिधा'। अर्थात् वाचक लाक्षणिक शब्द तो सर्वत्र हो सकते हैं, परंतु 'व्यंजकोऽत्र अर्थात् 'व्यंजक' शब्द तो (अत्र) काव्य में ही हो पाते हैं। विवेकसंपन्न सहृदय समाज इसी अर्थ को काव्य की आत्मा मानता है। होता यह है कि वह प्रतीयमान वाच्यार्थ से ऐसा संवलित रहता है, कि उसे पृथक् करके कम ही लोग समझ पाते हैं और अविवेकी लोग तो इसमें इतना व्यामुग्ध हो जाते हैं, कि उस तत्व की पृथक् सत्ता ही में विवाद खड़ा कर देते हैं।

इस प्रतीयमान के अस्तित्व के पक्ष में एक तर्क और है और वह है औचित्य निर्द्धारण का। अमुक शब्द ही इस प्रसंग में उचित है अमुक नहीं इस औचित्यविवेक का मूल क्या है ? उदाहरणार्थ 'पंत' जी की एक पंक्ति है—

'विपुल कल्पना से त्रिभुवन की,
विविध रूप धर भर नभ अंक,
तम फिर क्रीड़ा कौतुक करते,
छा अनंत उर में निःशंक[2]।'

प्रस्तुत पद्य में 'अनंत' शब्द का वाच्यार्थ 'आकाश' है। कोशकार अमर ने स्पष्ट लिखा है—'नभोऽन्तरिक्षं गगनमनंतं सुरवर्त्म खम्।' यदि वाच्यार्थ से अति रिक्तअर्थ देने की क्षमता इस पद में न होती, तो इसकी जगह 'गगन' आदि चाहे कोई भी पर्याय प्रयुक्त कर सकते थे। परंतु यह शब्द इस प्रसंग में जितना उचित है, उतना 'अनंत' शब्द के अन्य पर्याय नहीं। विचार करना चाहिए कि इसका कारण क्या है ? यहाँ, बादल अपनी कहानी कहता, कहता यहाँ तक आता है और कहता है—'अनंत' के उर में छाकर हम निःशंक क्रीड़ा करते हैं—'निःशंक क्रीड़ा वहीं हो सकती है, जहाँ कोई प्रतिरोधक तत्त्व न हो,

---

१—का० प्र० द्वि० उ० पृ० २५ का० १।

२—आ० क०, पंत, २०१० पंचम संस्करण, 'बादल' शीर्षक कविता।

आकाश यद्यपि ऐसा है, तथापि 'अनंत' शब्द के प्रयोग से जो उसकी 'अनंतता' स्पष्ट झलकती है, वह चीज गगन एवं आकाश के प्रयोग में नहीं है। यद्यपि औचित्य का प्रयोजक यह एक वाच्यधर्म भी है, पर इसके साथ साथ 'प्रतिरोधक का अभाव' जो इंगित है, वह सर्वथा व्यंग्य है। यह व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ 'अनंत' शब्द के औचित्य का निर्णायक है। इसी प्रतीयमान से संवलित 'अनंत' में बादल निःशंक टहल सकता है। अतः औचित्य की दृष्टि से भी प्रतीयमान का निश्चय किया जा सकता है। इसी प्रकार एक उदाहरण 'गुप्त[1]' जी का लीजिए।

मुझे फूल मत मारो,
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।
होकर मधु के मीत मदन तुम.........।

—साकेत

यहाँ 'अबला' तथा 'मधु' शब्द इसी प्रकार के उचित प्रयोग हैं। विरहिणी प्रार्थना करती है कि कुसुमायुध ! मेरे ऊपर पुष्पास्त्रों का प्रहार न करो। मैं अबला हूँ। इत्यादि'—यहाँ अबला शब्द का सामान्यतः वाच्यार्थ है स्त्री। पर इस शब्द के वाच्यार्थ की सामर्थ्य से निर्बलता के साथ सौकुमार्य, असहन शक्ति आदि न जाने कितने अर्थ व्यंग्य रूप से प्रतीत होकर वाच्चार्थ को काव्योपयोगी बना देते हैं। इसी प्रकार 'होकर मधु के मीत' में मधु शब्द भी ऐसा ही है। 'मधु' शब्द का सामान्यतः अर्थ 'वसंत' तो है ही, एक अर्थ मधु-शहद भी है। तात्पर्य यह कि इतनी मीठी वस्तु की मैत्री प्राप्त होने पर भी तुम्हारे हृदय में मिठास नहीं है, विपरीत इसके क्रूरता एवं काठिन्य है? इस अर्थ के व्यंग्य होने से उपालम्भ अर्थ सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार चारुता भले ही गुण एवं अलंकार के योग से आती हो, पर रमणीयता, श्लाघ्यत्व एवं औचित्य तो सदा इसी प्रतीयमान के ही योग से आ पाते हैं। इसी प्रतीयमान के संपर्क से शब्दों या उनके अर्थों में लोक एवं वेद के शब्दों एवं अर्थों से वैशिष्ट्य आ जाता है और वे शब्द काव्योपयोगी कहे जाने लगते हैं। ध्वनिवादी तो इस तत्त्व को इतनी महत्ता देते हैं कि इसे आत्मस्थानीय ही मान लेते हैं।

अब स्पष्ट है कि जो अर्थ काव्य की आत्मा है, वह गुणों एवं अलंकारों में कैसे समा सकता है? भला कहीं आत्मा भी (काव्य) शरीर (शब्दार्थ)

१—साकेत, पृष्ठ २२७।

का अलंकार होता[1] है ? वह तो स्वयं अलंकार्य एवं गुणी है। आत्मा स्वयं चारु है और चारुता का प्रकाश स्थूल (शरीर) करता है। स्थूल के माध्यम से ही सूक्ष्म अपनी ज्योति विकीर्ण करता है। इस प्रकार आत्मस्थानीय प्रतिमान या ध्वनि का गुण एवं अलंकारों में अंतर्भाव उचित नहीं है।

(२) अभाववादियों की द्वितीय कोटि यह है कि ध्वनि तत्त्व सर्वथा है ही नहीं। यदि वह कुछ होता तो उसकी प्रसिद्धि होती और प्रसिद्धि होती तो लक्षणग्रंथकारों ने उसका उल्लेख अवश्य किया होता। वस्तुतः अभाववादियों का यह कथन ठीक नहीं है। यह पक्ष तो डंके की चोट से जो अपनी विशेषता व्यक्त करता है, वह यह कि इन लक्षणकारों में यह प्रतिभा ही नहीं थीं, जो इस सूक्ष्म तत्त्व का उन्मीलन एवं विश्लेषण कर पाती। उसके साथ साथ प्रतीयमान रसतत्त्व रामायण तथा महाभारत जैसे ग्रंथों में अनेकत्र शतधार होकर बहता दिखाई पड़ता है, सहृदयों ने इसका अनुभव भी किया है। ऐसी स्थिति में यह रस तत्त्व सहृदय सिद्ध है, पर यदि कुछ अविवेकांध एवं स्थूल बुद्धिवालों को प्रतिपत्ति फिर भी न हो, तो क्या ऐसे ही लोगों के अविवेक को प्रमाण मानकर ध्वनि तत्त्व का अभाव मान लिया जाय ? निस्संदेह कभी नहीं। उल्टे उन्हीं अभाववादियों का कर्त्तव्य है कि वे उस तत्त्व को उचित रीति से पहचानें और उसकी सत्ता स्वीकार करें।

(३) तृतीय कोटि वालों का कहना है कि यदि ध्वनि तत्त्व हो भी, तो यह प्रसिद्ध चारुता संपादक गुणों एवं अलंकारों के प्राचीन एवं नवीन आविष्कृत प्रभेदों में से ही किसी का नाम होना चाहिए। इन तत्त्वों से पृथक् ध्वनि नामक कोई वस्तु नहीं। वस्तुतः इस सिद्धांत का भी जनक अविवेक ही है। जो आत्मा स्वयं अलंकार्य एवं गुणी है, वह कहीं अलंकार एवं गुणस्वरूप हो सकती है ? दूसरी बात यह है कि आत्मा अंगी है और गुण एवं अलंकार हैं अंग। भला कहीं, अंगों से अंगी का अभेद हो सकता है ? अंग और अंगी में सदा से भेद रहता आया है।

भक्तिवाद और उसका खंडनः—

भक्तिवादी यद्यपि ध्वनि या व्यंजना का अभाव स्पष्टतः तो नहीं कहते, पर व्यंजना की ओर से जो उनकी गजनिमिलिका है, उस आधार पर यह संभावना की जा सकती है कि कदाचित् यह व्यापार उन्हें मान्य न हो।

१—ध्वन्यालोक द्वि० उ०। "न ह्यात्माऽऽत्मनश्चारुत्वहेतुः"।

अथवा इन लोगों का आशय यह भी हो सकता है कि शब्दों के अर्थ दो प्रकार के ही हो सकते हैं—मुख्य एवं अमुख्य। मुख्यार्थ में शब्द की जो शक्ति कार्य करती है, वह अभिधा है और अमुख्यार्थ में जो शक्ति काम करती है, वह लक्षणा। इन दो अर्थों से पृथक् न तो कोई अर्थ है और न इन दोनों व्यापारों से अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार। इस प्रकार ये लोग अभिधा से पृथक् व्यंजना को मानते भी हों, तो भक्ति से पृथक् उसकी सत्ता नहीं मानते। 'भक्ति' शब्द लक्षणा वृत्ति का पर्याय है। भक्ति या लक्षणा से व्यंजना का पृथक् अस्तित्व नहीं है—यही इस मत का सारांश है।

भक्तिवादी जब व्यंजना का भक्ति में अंतर्भाव करते हैं, तो इससे उनके तीन प्रकार के विकल्प संभावित हो सकते हैं। वे भक्तिवादी चाहे (१) ध्वनि या व्यंजना को भक्ति या लक्षणा का पर्याय मानते हों। (२) अथवा भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानते हों (३) अथवा भक्ति को ध्वनि का उपलक्षण मानते हों। यदि लक्षणा में ध्वनि या व्यंजना का अंतर्भाव करना है, तो उसके ये ही तीन रास्ते संभव हैं। यदि इनमें से तीनों पक्ष तर्क सहिष्णु न हों, तो समझना चाहिए कि भक्तिवादियों का कथन सर्वथा अनुपयुक्त है।

प्रथम पक्ष का खंडन करते हुए ध्वनिकार कहते हैं कि लक्षणा एवं ध्वनि या व्यंजना परस्पर पर्याय हैं, तो पर्याय शब्दों की भाँति उनका परस्पर एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग होना ही चाहिए। किंतु शक्तिविद् ऐसा करते हुए कभी देखे नहीं जाते। निरूढ़ लक्षणा के स्थान पर न तो हम व्यंजना का प्रयोग करते हैं और न रस स्थल में अपेक्षित व्यंजना की जगह लक्षणा का। यदि दोनों शक्तियां पर्याय होतीं, तो ऐसा कभी न होता। इस प्रकार प्रथम विकल्प तो सर्वथा दूषित है। इसी प्रकार वे द्वितीय विकल्प को भी मान्यता प्रदान नहीं करते और ऐसा करते हुए उनका तर्क यह है कि लक्षणा ध्वनि का लक्षण या असाधारण धर्म तब होती, जब वह ध्वनि स्थल में रहती और ध्वनि स्थल से अतिरिक्त स्थानों में न रहती। अर्थात् लक्षणा के लिए आवश्यक यह है कि वह लक्ष्यमात्र में रहे और लक्ष्य से अतिरिक्त अर्थात् अलक्ष्य में न रहे। भक्ति या लक्षणा में 'लक्षण' की दोनों शर्तें नहीं हैं, न तो वह ध्वनिस्थल मात्र [विवक्षितवाच्य ध्वनि एवं अविवक्षित वाच्य ध्वनि] में ही है और न अलक्ष्य (निरूढ़ालक्षणा स्थल) में नहीं ही है। अर्थात् उक्त दोनों विशेषताएँ इसमें नहीं हैं और जब नहीं हैं, तो इसे (भक्ति) हम लक्षणा कैसे कह सकते हैं।

तृतीय विकल्प में ध्वनि को [1]उपलक्षण या परिचायक कहा गया है। उपलक्षण न तो लक्षणीय वस्तु का पर्याय ही होता है, न अवयव ही, बल्कि कदाचित् कभी लक्षणीय के साथ संनिकृष्ट रहकर उसका अन्य सजातीय पदार्थों से भेद अवश्य बता देता है। उदाहरणार्थ यदि हम अपने किसी मित्र के साथ उसके घर जांय, और उसके गांव में प्रवेश करने से पूर्व हम उससे पूछे कि 'भाई' तुम्हारा घर कौन सा है ?'—और वह गांव के अन्य गृहों से अपने गृह का अंतर बताने के उद्देश्य से यह कहे—"जिस पर मयूर बैठा हुआ है, वही हमारा घर है," तो स्पष्ट ही यहां इस स्थल में मयूर न तो घर का स्वरूप ही है, और न अवयव ही, बल्कि एक ऐसा तटस्थ चिन्ह है, जो उसके गृह का परिचय बता देने में समर्थ है। ठीक वही स्थिति इस प्रकरण में 'भक्ति' या 'लक्षणा' की है। वह भी न ध्वनि का स्वरूप ही है और न अवयव ही, बल्कि ध्वनि के एक अंश (अविक्षित वाच्य ध्वनि) में कभी स्थिर रहती है और उसका परिचय करा देती है, बस इतने मात्र में ही वह उपलक्षण है। इस पक्ष के विरुद्ध ध्वनिकार के दो तर्क हैं। एक तो यह कि यह ऐसा उपलक्षण नहीं है, जो ध्वनि मात्र का किसी भी रूप से परिचय दे सके, बल्कि परिचय देता भी है तो केवल उसके एक अंश का—अविवक्षित वाच्य ध्वनि का। उपलक्षण तो ऐसा होना चाहिए कि वह लक्ष्य मात्र का परिचय दे सके। पर यह सामर्थ्य इस उपक्षण में कतई नहीं है। विरोध में दूसरा तर्क यह है कि यदि इसे उपलक्षण मान भी लें थोड़ी देर के लिए तो ऐसा कहना कभी उचित नहीं है कि अब ध्वनि-लक्षण की कोई आवश्यकता नहीं अर्थात् जो प्रयोजन लक्षण से सिद्ध हो सकता है, वह उपलक्षण से कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता। कारण यह है कि उपलक्षण लक्ष्य का एक चलते ढंग से मोटा परिचय करा देता है, पर लक्षण विशेपरूप से परिचय कराता है, जिसके फलस्वरूप अब वह कभी भी लक्ष्य के रूप में व्यामुग्ध नहीं हो सकता। इतना तो स्पष्ट है कि उपलक्षण

१—संस्कृत शास्त्रों में किसी भी लक्ष्य के परिचय में तीन तत्वों की चर्चा प्रायः आती रहती है—विशेषण, उपाधि एवं उपलक्षण। ये तीनों धर्मों की विशेषता बताकर उसका ज्ञान प्राप्त करा देने में उपयोगी होते हैं। विशेषण लक्ष्य वस्तु का अवयव होता है, उपाधि अवयव नहीं होती पर रहती साथ साथ है। उपलक्षण न तो अवयव ही है और न सदा साथ ही रहने वाला है, पर लक्ष्य के ज्ञान में उपयोगी अवश्य है।

लक्ष्य की किसी स्थायी एवं असाधारण विशेषता को नहीं बताता। उदाहरणार्थ, यदि विभिन्न पदार्थों का सामान्य रूप से [पदार्थ हैं-मात्र इस रूप से] परिज्ञान हो जाने पर भी जैसे उनके विशेष रूप से परिज्ञान की आकांक्षा बनी ही रहती है और यही कारण है कि उनका सामान्यतः ज्ञान होने पर भी विशेषतः परिचय प्राप्त करने के लिए लक्षण की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार "भक्ति" रूप उपलक्षण के द्वारा सामान्य रूप से परिचय होने पर भी उसके विशेष ढंग के परिचय के लिए लक्षण अपेक्षित है ही। अतः यह तृतीत विकल्प भी व्यर्थ है। इस प्रकार यह भक्तिवाद भी ध्वनि या उसके आधारभूत व्यंजना के खंडन में किसी प्रकार समर्थ नहीं है।

३—अनाख्येयवाद एवं उसका खंडनः—

ये अनाख्येयवादी यह नहीं कि ध्वनि तत्व को न मानते हों, मानते हैं, पर ऐसा मानते हैं कि वह तत्व आख्येय नहीं है—वह तत्व सूक्ष्म मति-संवेद्य है अर्थात् अनुभव तो उसका होता है, पर उसकी सारी विशेषताएं क्रमशः बुद्धि की पकड़ में आ नहीं पाती, जिससे कि उनकी सहायता से हम उस तत्व का विश्लेषण करें और सबके समक्ष उसे उपस्थित कर सकें।

ध्वनिकार इन लोगों की इस अनाख्येयता का अभिप्राय दो तरह से लगाते हैं, एक तो यह कि ध्वनि को अनाख्येय कहकर अनाख्येय वादी केवल ध्वनि की महत्ता प्रकट करते हों। अर्थात् 'अनाख्येय' कहना केवल अर्थवाद है, प्रशंसा-पर्यवसायी मात्र है, अभिधेय-पर्यवसायी नहीं। अगर अनाख्येय वादियों का यही अभिप्राय है, तो यह ध्वनिकार का समर्थन ही है, फिर अपने इस रूप में अनाख्येयवाद खंडनीय नहीं है। पर जब अनाख्येयवाद का अर्थ बिल्कुल अभिधा की ही सहायता से किया जाय, अर्थात् यह मान लिया जाय, कि वस्तुतः वह ऐसा तत्व है कि उसका निर्वचन किया नहीं जा सकता, तब तो अवश्य खंडनीय है। अर्थात् जब ध्वनिकार ने ध्वनि का लक्षण करके ध्वनि का परिचय दे दिया, ऐसी स्थिति में उसे अनाख्येय मानना कहाँ तक समर्थनीय है।

इतने विवाद से सिद्ध यह हुआ कि ध्वनि[1] की सत्ता है, और वह अर्थ की दृष्टि से अभिधेय तथा लक्ष्य से और शक्ति की दृष्टि से अभिधा तथा लक्षणा से सर्वथा भिन्न है।

१—ध्वनि का लक्षण है—

इस प्रसंग में अपरिचित पाठक को यह जिज्ञासा सहज ही संभव है कि व्यंजना की स्थापना के प्रसंग में ध्वनि की सत्ता के प्रस्थापन से क्या प्रयोजन ? उक्त तीनों मतों की चर्चा एवं उनका खंडन ध्वनि के सत्ता-स्थापन से संबद्ध हैं, उनकी इस प्रसंग में चर्चा क्यों की जा रही है ? उत्तर में कहा जा सकता है कि ध्वनि और व्यंजना का अन्योन्याश्रित संबंध है। एक के अभाव में दूसरे की सत्ता पर आँच आना संभव है। दूसरे यह कि 'ध्वननं' ध्वनिः इस व्युत्पत्ति के बल पर 'ध्वनन' एवं 'व्यंजन' पर्याय भी हैं। अंतर इतना ही है, कि जब वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान व्यंग्य को लाने में व्यंजना काम करती है, तो उसे 'ध्वनन' व्यापार कहते हैं, अन्यथा व्यंजना। ध्वनि व्यंजना से पृथक् कोई वस्तु नहीं है, अंतर केवल अवस्था मात्र का है। प्रधान की अवस्था में वही व्यंजना ध्वनि के नाम से अभिहित की जा सकती है।

४—५ मीमांसकों में शक्ति के संबंध में ऐसे कई मतवाद हैं जिनसे व्यंजना का मेल नहीं बैठता और व्यंजना का तो वे नाम नहीं लेते। मीमांसकों में सबसे प्रमुख दल हैं—भाट्ट मत एवं गुरुमत। शब्द शक्ति के संबंध में भाट्ट मत 'अभिहितान्वयवाद' का समर्थक है, जबकि गुरुमत 'अन्विताभिधानवाद' का और इन दोनों वादों की चर्चा[1] पहले की जा चुकी है। इनमें से दोनों अभिधा शक्ति का स्वरूप जैसा निश्चित करते हैं, जितने अर्थ को उसका विषय बताते हैं, व्यंग्यार्थ उससे बहुत दूर की वस्तु है। एक की जो अभिधा शक्ति 'पदार्थ' मात्र तक ही रहती है, वह तो साधारण वाक्यार्थ तक भी नहीं जा पाती और अन्विताभिधान वादी अन्वयांश युक्त पदार्थ में यद्यपि शक्ति मानते हैं, तथापि वाक्यार्थबोध में जो 'विशेष संबंध' प्रतीत होते हैं, वहाँ तक इन लोगों की भी अभिधा नहीं पहुँच पाती। इस प्रकार दोनों की अभिधा जब साधारणतः प्रतीत वाक्यार्थ बोध तक ही नहीं पहुँच पाती, तो वाक्यार्थ

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।

'ध्वनि शब्द के व्युत्पत्तिभेद से ४ अर्थ-किए गए हैं। ध्वनि व्यंजक (ध्वनतीति), व्यंग्य (ध्वन्यतेऽसौ), ध्वनन या व्यंजन शक्ति (ध्वननमिति), तथा इनकी समष्टि जिस काव्य विशेष में हो (ध्वन्यत अस्मिन्निति) इन चारों को ध्वनि कहते हैं।

१—देखिए द्वि० प० 'तात्पर्य वृत्ति'।

प्रतीति के अनंतर प्रतीत होनेवाली व्यंग्यार्थ-प्रतीति तक वह कब और कैसे पहुँच सकती है ?

६—मीमांसकों का ही एक तीसरा दल है जो यह कहता है कि नैमित्तिक[1] अर्थात् कार्य के अनुसार ही निमित्त अर्थात् कारण की कल्पना की जानी चाहिए इस सिद्धांत के अनुसार 'गोदावरी कूल के'' 'जैसे (व्यंजक) में जो (गमन-निषेध) प्रतीत होता है, उस प्रतीति में विचारतः उन्हीं पूर्वोक्त पदों के ज्ञान को ही निमित्त मानना पड़ता है। ये शब्द एकमात्र अभिधाशक्ति संपन्न होकर ही निर्बाध ढंग से अर्थों की प्रतीति कराते हैं—यही इन लोगों की धारणा है। इस प्रकार कहें तो यह कह सकते हैं कि शब्द प्रयोग के अनंतर जितने अर्थ प्रतीत होते हैं, उनकी प्रतीति में एक मात्र अभिधा शक्ति संपन्न शब्द ही निमित्त होते हैं। अर्थात् जिन अर्थों को व्यंजनावादी व्यंजना शक्ति संपन्न शब्दों का कार्य मानते हैं, इनकी धारणा के अनुकूल वे सब अभिधाशक्ति से ही मिल जायँगे।

इस मत के विरोध में व्यंजनवादी की यह जिज्ञासा है कि उक्त (व्यंग्य) अर्थ में यदि शब्द निमित्त हैं, तो वे किस प्रकार के निमित्त हैं ?—कारक रूप या ज्ञापक रूप। निमित्त दो प्रकार के होते ही हैं। उत्पादक कारण को कारक कहते हैं और प्रकाशक को ज्ञापक। उदाहरण के लिए मिट्टी को हम घट का उत्पादक कारण मानते हैं, जबकि अंधकाराच्छन्न घट के प्रकाशक दीप को ज्ञापक। शब्द उक्त (व्यंग्य) अर्थों के कारक-स्वरूप निमित्त तो हो नहीं सकते। इन शब्दों के कारण पदार्थ मात्र उत्पन्न तो होते नहीं, हाँ संस्कार के रूप में पहले से अंतःकरण में पड़े रहते हैं और शब्द प्रयोग से उनकी स्मृति हो आती है। फलतः शब्द इन अर्थों के कारण नहीं, किंतु पहले ही से सिद्ध अर्थों के प्रकाशक अथवा ज्ञापक ही हो सकते हैं। अब प्रश्न यह है कि शब्दों की यह ज्ञापकता अर्थ-प्रकाशन की दृष्टि से निरवधि एवं अनियंत्रित है अथवा सावधि एवं नियंत्रित ? निरवधि एवं अनियंत्रित कहने से शब्द प्रयोग अव्यवस्था का घर हो जायगा। जिस किसी शब्द से जो चाहे जितना अर्थ निकाल सकता है। अतः आपत्ति से बचने के लिए यह आवश्यक है कि हम उस ज्ञापकता को सावधि, ससीम एवं नियंत्रित मानें। प्रश्न यह है कि इस सीमा या अवधि का निश्चय कैसे हो ? उत्तर निर्विवाद है कि जितने

१—नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ताम्।—का० प्र० प० उ०

अर्थ में शब्दों की ज्ञापकता या प्रकाशकता ज्ञात हो—संकेतित हो, उतनी सीमा में शब्द अर्थ के ज्ञापक हैं। अभिधा शक्ति संपन्न अर्थ केवल उतनी ही सीमा में ज्ञापक हो सकते हैं, जितने में संकेतित हों। इन तर्कों से सिद्ध है कि अभिधाशक्ति संपन्न केवल सकेतित अर्थ तक ही ज्ञापक है, संकेतित अर्थ के बाद प्रतीत होनेवाले असंकेतित अर्थों में अभिधायक शब्दों की ज्ञापकता काम नहीं कर सकती। अतः 'नैमित्तकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ताम्' इस न्याय के अनुसार तथाकथित व्यंग्यार्थ के प्रति अभिधायक शब्द निमित्त नहीं हो सकते।

उक्त न्याय (नैमिति०) के खंडन का सबसे सुंदर तर्क यह है कि व्यंग्यार्थ के प्रति शब्दों को निमित्त-ज्ञापक-मान लेना बहुत बड़ी सूझ की बात है। कम से कम ये लोग और लोगों की भाँति इसे शब्दार्थ-शब्द की शक्ति से प्राप्त-ही न मानते हों, कम से कम ऐसी बात तो नहीं न है। मानते तो वे लोग इसे शब्दार्थ ही हैं, विवाद केवल इस बात में है, कि ये अर्थ हैं किस शक्ति से प्राप्त हैं? इतना तो ऊपर वाले तर्क से ही निश्चित है कि व्यंजनावादी जिन अर्थों को व्यंग्य कहते हैं, वे संकेतित नहीं है और संकेतित न होने का अभिप्राय यह है कि वे वाच्य नहीं हैं। निर्बाध प्रतीत होने से वे लक्ष्य भी नहीं हैं। इस प्रकार सिद्ध यह हुआ कि तथाकथित (व्यंग्य) अर्थ वाच्य एवं लक्ष्य से भिन्न हैं, पर हैं शब्द के ही अर्थ। अब इस स्थिति में स्पष्ट पूछा जा सकता है, कि शब्द से अर्थ, शब्द की किसी न किसी शक्ति ही से मिलते हैं, तथाकथित (व्यंग्य) अर्थ वाच्य नहीं, अतः अभिधा शक्ति का कार्य नहीं हो सकता; लक्ष्य नहीं अतः शब्द की लक्षणा शक्ति का भी कार्य नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि इस अर्थ के लिए अभिधा एवं लक्षणा से अतिरिक्त कोई शक्ति माननी होगी। वही शक्ति व्यंजनावादियों के मत से व्यंजना है। वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का भेद रहते हुए भी यदि उनकी वृत्तियां या शक्तियों में परस्पर भेद न स्वीकार किया जाय, तो वाच्य एवं लक्ष्य में भी भेद रहते हुए वृत्ति स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। यह कहना कदाचित् कभी भी संभव न होगा कि शब्द स्वरूप निमित्त कारण व्यंग्यार्थ के लिए शक्ति की अपेक्षा ही नहीं करता। क्योंकि ऐसा स्वीकार करने का तात्पर्य यह होगा कि अशक्त शब्दों को भी अर्थवान् मानना पड़ेगा। और यदि शक्ति के बिना ही शब्द अर्थ देने लगें, तो अभिधा तथा लक्षणा को भी तिलांजलि दे देना चाहिए।

(७) मीमांसकों का एक अन्य (चौथा) मत भट्टलोल्लट-प्रमुख लोगों का भी है। इसके अनुसार भी व्यंजना की जड़ कट जाती है। ये लोग शब्द का एक ही व्यापार मानते हैं और उसी से सब प्रकार के अभिप्रेत अर्थों की उपलब्धि कर लेते हैं। इन लोगों का कहना यह है कि जैसे सशक्त पुरुष के द्वारा प्रयुक्त वेगवान बाण के एक व्यापार से वेध्य व्यक्ति का वक्षो-विदारण, वर्म-भेदन, एवं प्राण-हरण-तीनों काम हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार शब्द श्रवण के अनंतर जितने भी अर्थ प्रतीत होते हों, सबके विषय में सशक्त प्रयोक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द का एक ही व्यापार सारे अर्थों की प्रतीति करा डालता है। इन्हीं सब बातों को मन में रखकर उन लोगों का बनाया हुआ एक न्याय है—'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः—अर्थात् वह शब्द व्यापार बाण के व्यापार की तरह दीर्घ दीर्घतर होता है। इस न्याय के अनुसार ये लोग सभी अर्थों को शब्द की एक ही शक्ति का कार्य मानते हैं। जिससे 'अतिरिक्त शक्ति' व्यंजना पर पर्याप्त आँच आती है।

व्यंजनावादियों का इस पर आक्षेप है कि इस न्याय का अर्थ तो यह हुआ कि शब्द-प्रयोग की परवर्ती जितनी प्रतीतियाँ हैं, वे सब की सब शब्दार्थ ही हैं और शब्द की एक ही शक्ति के कार्य हैं। इस न्याय के प्रकाश में 'परार्थानुमान'[1] में शब्दात्मक अनुमान वाक्यों के प्रयोग के अनंतर जो अनु-मिति-स्वरूप परोक्ष-प्रतीति होती है, वह भी शब्द का ही अर्थ कहा जाना चाहिए। क्योंकि यह प्रतीति शब्द प्रयोग की परवर्ती प्रतीति है और उक्त न्याय का विषय है। किंतु अनुमेय अर्थ को परार्थानुमान से प्राप्त अर्थ यद्यपि शब्द-प्रयोग की परवर्ती प्रतीति है, तथापि वह मुख्यतः अनुमान प्रमाण से प्राप्त अर्थ है, इसीलिए उसे शब्द का अर्थ नहीं कहा जा सकता। शब्द का अर्थ वही होता है, जो शब्द-प्रमाण मात्र से प्राप्त है। शब्द का अर्थ होने के लिए

१—अनुमान एक प्रमाण है। यह दो प्रकार का होता है स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। स्वार्थानुमान स्वयं बोध में उपयोगी है और परार्थानुमान दूसरों के लिए होता है। एक वह व्यक्ति जिसको अनुमेय अर्थ की प्रतीति हो गई रहती है, जब दूसरे को भी स्वानुमित अर्थ की प्रतीति कराना चाहता है, तब अनुमान वाक्यों का प्रयोग करता है। इस अनुमान वाक्य के पाँच अवयव होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन। इन्हीं वाक्यों के प्रयोग द्वारा वह अनुमान करा पाता है। ऐसे अनुमान को परा-र्थानुमान कहते हैं।

इतना ही आवश्यक नहीं है, 'कि वह शब्द प्रयोग का परवर्ती हो, बल्कि यह भी आवश्यक है वह अन्य प्रमाण से प्राप्त न हो। कहा ही गया है कि 'अनन्यलभ्योहि शब्दार्थः'—जो अनन्य लभ्य हो जो मात्र अपने आप से ही लभ्य हो शब्द से ही लभ्य हो वही शब्दार्थ है। परार्थानुमान से प्राप्त अर्थ ऐसे नहीं हैं अतः वे शब्दार्थ नहीं हैं। सारांश यह कि उक्त न्याय निर्दोष है, उसे मानना चाहिए और उस आधार पर शब्द की अतिरिक्त शक्तियों का निषेध कर देना चाहिए।

व्यंजनावादी उक्त न्याय के विरोध में दूसरा तर्क यह देता है कि अनुमेय अर्थ शब्द-प्रमाण के द्वारा न प्राप्त होने के कारण शब्दार्थ नहीं हैं, तो न हों, पर लक्ष्यार्थ तो शब्दार्थ प्रमाण द्वारा प्राप्त अर्थ है, अतः कम से कम उक्त न्याय के अनुसार उस अर्थ को तो शब्द के एक ही व्यापार अभिधा का विषय मानना उचित है, उसके लिए आप लक्षणा व्यापार की अलग से कल्पना क्यों करते हैं? मीमांसक इस प्रश्न का उत्तर यह देते हैं कि अभिधा व्यापार लक्ष्यार्थ की प्रतीति तब करा सकता, जब बीच में वह रोका जाकर अशक्त न होता। बाण का व्यापार ही यदि बीच में रोक दिया जाय, तो क्या कभी भी वह वांछित लक्ष्य का भेदन कर सकता है। कभी नहीं। अतः लक्ष्यार्थ की प्रतीति के लिए अभिधा से अतिरिक्त (लक्षणा) व्यापार की कल्पना करनी पड़ती है, पर ध्वनिवादी जिसे व्यंग्यार्थ कहते हैं, वह तो शब्द की शक्ति से निर्बाध प्रतीत होने वाला अर्थ है, अतः वहाँ तक अभिधा के पहुँचने में कोई आपत्ति नहीं, वह तो अभिधा से आ ही जायगा।

उक्त न्याय के खंडन में व्यंजनावादी का तीसरा तर्क यह है जहाँ तक शब्द व्यापार एवं उनसे प्राप्त अर्थों की बात है, वहाँ यदि उक्त व्यापार को मान्यता दे दी जाय, तो उन्हीं के द्वारा मान्य एक और सिद्धांत है, जिसका खंडन हो जायगा। सिद्धांत है—'श्रुतिलिंग वाक्य प्रकरण स्थानसमाख्यानां पूर्व पूर्वबलीयस्त्वम्। कर्मकांडोपयोगी जितने मंत्र हैं, उनमें से कुछ का विनियोग तो ऋषियों ने स्पष्ट निर्दिष्ट कर दिया है, पर जिनके विषय में कोई निर्देश नहीं है, ऐसे मंत्रों का विनियोग कैसे हो और कहाँ हो? यह समस्या खड़ी ही रह जाती है। महर्षि जैमिनी ने इस समस्या का सदा के लिए निपटारा करते हुए उक्त सिद्धांत का निर्माण किया और बताया कि कौन सा मंत्र किसका अंग हो, इसका निर्णय करने के लिए इन प्रमाणों-श्रुति, लिंग, वाक्य, स्थान, प्रकरण एवं समाख्या—का उपयोग करना चाहिए। यदि इन

छहों से किसी मंत्र की अंगता निर्णय में यदि कई प्रमाणों की प्राप्ति हो और वे सब परस्पर विरोधी अंगता बतायें तो वहाँ उत्तरउत्तर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व को बलवान समझना चाहिए। अर्थात् प्राप्त-प्रमाणों में जो सबसे पूर्व हो उसी की मान्यता देकर उसी के द्वारा अंगता का निर्णय कर लेना चाहिए। उत्तरोत्तर प्रमाणों की अपेक्षा पूर्व-पूर्व प्रमाणों की बलवत्ता का कारण यह है कि उत्तरोत्तर प्रमाणों को अंगता निर्णय स्वरूप अपना कार्य करने में पूर्व पूर्व प्रमाणों की कल्पना करनी पड़ती है, वे अंगता निर्णय में स्वतंत्र नहीं होते। यदि पूर्व-पूर्व प्रमाणों की स्वीकृति मिल जायगी, तभी उत्तर प्रमाण अंगता के निर्णय में क्षम हो सकते है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि अंगता निर्णय में पूर्व पूर्व के प्रमाण क्रमशः परवर्ती प्रमाण-निरपेक्ष हो जाते हैं, अतः उत्तरोत्तर की अपेक्षा अपना कार्य कुछ शीघ्रता से परिपूर्ण कर लेते हैं, इसीलिए वे उत्तरोत्तर प्रमाणों की अपेक्षा बलवान होते हैं। इस स्थिति में यदि उक्त न्याय को स्वीकार कर लिया जाय, तो सभी प्रकार के शब्द-प्रयोग, चाहे वे श्रुति, वाक्य आदि में से कोई भी हों अपनी अभिधा से पार्यन्तिक अर्थ बोध में स्वतंत्र है ही, फिर एक दूसरे की मुखापेक्षिता क्यों करेंगे? और जब नहीं करेंगे, तो सब समान बलवाले ही हैं, क्यों कोई किसी से छोटा या बड़ा होगा? तात्पर्य यह कि उक्त न्याय एवं 'श्रुति-लिंग' का सिद्धांत परस्पर विरोधी हो जायेंगे, अतः इन दोनों में उक्त न्याय का ही भंग ठीक है। मीमांसक इस आपत्ति का भी निराकरण करता हुआ यह कहता है कि शब्द अर्थ निवेदन में केवल अभिधा की सहायता लेते तब तो उक्त आपत्ति ठीक थी, पर ऐसी बात नहीं है, शब्द अभिधा वृत्ति के साथ साथ वाच्यार्थ बोध के लिए अभिप्रेत अर्थ को बताने के लिए, आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा एवं तात्पर्य की भी सहायता लेते हैं। यदि इन सहायक तत्वों की प्राप्ति में विलंब हो तो अभिधा से भी अर्थ प्राप्ति में आपेक्षिक विलंब हो सकता है। इसी प्रकार श्रुति, लिंग आदि प्रमाण-वाक्यों से पार्यन्तिक की प्राप्ति में अभिधा को पूर्व अन्य सहकारियों की भांति पूर्व-पूर्व प्रमाणों की अपेक्षा करनी पड़ती है, जब पूरी सामग्री इकट्ठी हो जाती है, तब जाकर अभिधा अपना कार्य कर पाती है। अतः पूर्व पूर्व के प्रति उत्तरोत्तर प्रमाणवाक्यों की दुर्बलता ठीक ही है। इस दृष्टि से उक्त 'न्याय' तथा 'सिद्धांत' में कोई विरोध नहीं है। अतः उस 'न्याय' सहारे फिर भी शब्द की अतिरिक्त शक्ति (व्यंजना) नहीं मानी जा सकती।

व्यंजनावादी फिर उक्त न्याय के खंडन में एक चौथा तर्क यह देता है कि ये मीमांसक अन्विताभिधानवादियों के ही अनुयायी हैं। अतः इन लोगों की

अभिधा अन्वित पदार्थों में ही रहती है, निरन्वित पदर्थों में नहीं । इनके अनुसार ऐसा अर्थ जो अन्वित नहीं हैं, वह पदों की अभिधाशक्ति से प्रतीत ही नहीं हो सकता और निर्बाध प्रतीत होने वाले अर्थों में अभिधा के अतिरिक्त दूसरी शक्ति होती नहीं । इस स्थिति में 'चलंडामर' जैसे 'संसंधि पद-समुदायों से एक अश्लील अर्थ की झलक होती है, और सारा सहृदय समाज उसे विरसता-जनक स्वीकार करता है; वह अर्थ शब्द की किस शक्ति का विषय होगा ? वाच्यार्थ में वह अन्वित है नहीं है, अतः शब्द की अभिधा से आ नहीं सकता । लक्ष्यार्थ की भांति यहां के पदों के मुख्यार्थ संबंध बाधित हैं नहीं, कि लक्षणा से उनकी प्रतीति हो जायगी । यह प्राकरणिक वांछित वाच्यार्थ से सर्वथा पृथक् एवं निर्बाध प्रतीत होने वाला अर्थ है । अर्थात् यह इस स्थिति में है, कि न तो हम उसे अभिधा का कार्य कह सकते हैं और न लक्षणा का । तीसरी शक्ति मीमांसक मानते नहीं, तो इस अर्थ की प्रतीति में उपाय क्या है ? शब्द से अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण द्वारा वह अश्लील अर्थ बुद्धि पथ में उपारूढ़ होता हो, यह तो किसी प्रकार संभव ही नहीं है, फिर कैसे इसकी उपपत्ति बिठाई जाय ? उक्त न्याय का समर्थक मीमांसक इसका कोई उत्तर नहीं दे सकता, जब तक वह शब्द से निर्बाध प्रतीत होने वालों अर्थों में एक अतिरिक्त शक्ति स्वीकार न कर ले । अंततः इसे उक्त न्याय के विरोध में अतिरिक्त शक्ति माननी ही पड़ेगी । वाण के व्यापार की भांति शब्द का एक ही व्यापार सब कार्य नहीं कर सकता । उक्त न्याय के खंडन में एक दूसरा तर्क यह भी सामने आता है कि वाण के व्यापार से शब्द के अभिधा व्यपार की तुलना करनी ठीक नहीं है । शब्द के व्यापार तभी काम कर पाते है, जब श्रोता को वे ज्ञात हों, वाण-व्यापार के लिए यह आवश्यक नहीं है, उल्टे यही कहा जा सकता है कि यदि वाण-व्यापार लक्ष्य व्यक्ति को ज्ञात हो जाय, तो वह व्यक्ति उस व्यापार को अपने कार्य में निष्फल कर सकता है । इस प्रकार दृष्टांत एवं दार्ष्टांतिक परस्पर नितांत बेमेल है ।

यों अभिधा से व्यंजना को भिन्न करने वाले तो बहुत से तर्क हैं । एक सामान्य सी बात है कि सहृदयों ने कुछ काव्य दोषों (च्युतसंस्कृतित्व) को नित्य कहा है और कुछ (श्रुतिकटुत्व) को अनित्य । दोषों की यह नित्यता और अनित्यता 'रस' तत्व के अपकर्ष और अनपकर्ष पर निर्भर है । जिन दोषों से रस तत्व का सर्वथा विघात होता ही हो, वे नित्य कहे जाते हैं और जिनसे कभी विघात होता हो और कभी न होता हो, उन्हें अनित्य दोष कहा जाता

है। स्पष्ट है कि दोनों की यह नित्यता और अनित्यता रस तत्व पर ही निर्भर है और यह रस तत्व बिना व्यंजना माने नहीं हो सकता। यह कार्य अभिधा से नहीं हो सकता। अभिधा और व्यंजना भिन्न भिन्न वृत्तियाँ हैं।

अभिधा से व्यंजना के भेद सिद्ध करने वाले तो अनेक तर्क हैं। अभिधा से जो अर्थ प्रतित होते हैं, उन पर देश, काल, प्रकरण तथा व्यक्ति-वैशिष्ट्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जबकि व्यंजना से प्राप्त होने वाले अर्थ पर इन सबका प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि एक ही वाक्य का वाच्यार्थ हर स्थिति में एक ही हो सकता है, पर व्यंग्यार्थ के लिए यह शर्त कभी भी नहीं लग सकती। व्यंग्यार्थ निरंतर बदलता रहता। एक ही वाक्य से प्रकरण, वक्ता, बोद्धव्य आदि की भिन्नता होने पर अनेक प्रकार के व्यंग्यार्थ निकल सकते हैं। अतः अभिधा से व्यंजना का काम चला लेना तीनों काल में संभव नहीं है।

मीमांसकों का एक पाँचवाँ दल भी है जो शब्दार्थ के विषयमें यह स्वीकार करता है कि वस्तुतः शब्द[1] का मुख्य अर्थ वही है, जिस अभिप्राय से वक्ता ने वाक्य का या शब्दों काप्र योग किया है। उस अभिप्रेत अर्थ के अतिरिक्त जितने भी अर्थ प्रतीत होते हों, वे सब मुख्यार्थ की प्रतीति में वैसे ही उपाय हैं, जैसे वाक्यार्थ की प्रतीति में पदार्थों की प्रतीति। पदार्थों की प्रतीति होने पर ही वाक्यार्थ की प्रतीति हो सकती है, इसी प्रकार व्यंननावादी या ध्वनिवादी जिस अर्थ को विवक्षित या अभिप्रेत होने से व्यंग्य या ध्वनि कहते हैं, वस्तुतः वह शब्दों का मुख्यार्थ है, और उससे भिन्न सभी प्रकार के मध्यवर्ती अर्थ उपाय मात्र ही हैं। इस प्रकार इस मुख्यार्थ की प्राप्ति में शब्दों का जो व्यापार है, वह मुख्य व्यापार या अभिधा व्यापार है। उसके लिये व्यंजना नाम की एक अतिरिक्त शक्ति मानने की आवश्यकता ही क्या है? यह तो निश्चित है कि वाक्य चाहे किसी तरह का हो, अर्थात् वह चाहे पौरुषेय हो या अपौरु-षेय—उनका विवक्षित या अभिप्रेत अर्थ तो कुछ न कुछ होगा ही और वह चाहे जिस जिस स्तर का हो, वही मुख्यार्थ है। अन्य सब प्रकार के अर्थ उसकी प्रतीति में उपाय हैं। फिर उस मुख्यार्थ के लिये जब पहले से सर्व संमत अभिधा शक्ति निश्चित है, तो क्या आवश्यकता है कि हम निरर्थक एक शक्ति की कल्पना करें। इस प्रकार ये लोग भी व्यंजना का खंडन ही करते हैं।

१—'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'—का० प्र०।

व्यंजनावादियों का उक्त मत के निरास में कहना यह है कि वह मत वस्तुतः जिस प्रसंग में जिस प्रयोजन से कहा गया है, उसकी पूर्वोक्त व्याख्या से कोई संबंध ही नहीं है 'यत्परः'-इत्यादि न्याय का उपर्युक्त व्याख्यान केवल अपने मन की एक कपोल कल्पना है, उससे अधिक इस व्याख्यान का कोई महत्व नहीं है। उस 'न्याय' का जो वास्तविक अर्थ है वह यदि खोलकर सामने उपस्थित कर दिया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि उससे और व्यंजना से कोई संपर्क ही नहीं है।

वस्तुतः उक्त न्याय तो केवल यह बताता है कि वेदवाक्यों का कितने अंश में प्रामाण्य है। उक्त न्याय वाले कहना यही चाहते हैं कि वेद वाक्यों या वैदिक शब्दों का उतना ही अपना अर्थ है, जितने अर्थों में उनका तात्पर्य निर्णीत हो। वैदिक शब्दों का तात्पर्य केवल विधेयांश में होता है और उतने ही अर्थ की दृष्टि से उन शब्दोंका प्रामाण्य है। शेष अर्थ तो लौकिक प्रमाणों से भी हमें ज्ञात हो जाते हैं, अतः उन अर्थों के बोधनमें वैदिक शब्दों का प्रामाण्य नहीं है। लौकिक अर्थोंकी प्रतीति कराने में वे शब्द केवल अनुवादक हैं, प्रमाण नहीं। प्रामाण्य और है क्या? अज्ञात अर्थ की ज्ञापकता ही तो? इसे हम यों कह सकते हैं कि जितना अर्थ विधेय होता है, उतने ही वैदिक शब्दों का तात्पर्य होता है और जितने में तात्पर्य होता है, उतने ही शब्दों का प्रामाण्य है। इस विधेयांश का बोधक कोई न कोई शब्द उस वाक्य में अवश्य गृहीत होता है। इसी गृहीत वाचक शब्द का वह विधेयांश वाच्य होता है। अतः तात्पर्य किसी न किसी गृहीत शब्दों के ही अर्थों में होता है, अगृहीत शब्दों में नहीं। इस प्रकाश में जहाँ तक व्यंग्यार्थ की बात है, वह वाक्य में गृहीत शब्दों का अर्थ नहीं होता। अतः तात्पर्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ स्पष्ट अंतर है। एक गृहीत शब्द का अर्थ है दूसरा अगृहीत। जब तात्पर्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ में अंतर है, तब यह स्पष्ट सिद्ध है कि दोनों के लिये शब्दों के व्यापार भी भिन्न भिन्न होंगे।

हाँ, दशरूपककार ने जिस 'तात्पर्य वृत्ति' की चर्चा की है, वह अवश्य इस प्रकार की मानी गई है कि उससे व्यंजनाशक्ति की गतार्थता हो जाती है। दशरूपककार ने अन्वयबोध के लिये कल्पित 'अन्विताभिधानवादियों' की तात्पर्यवृत्ति को ही बढ़ाया है। इनका कहना है कि तात्पर्य को अन्वयबोध तक ही परिमित मानना ठीक नहीं, वस्तुतः 'तात्पर्य' शक्ति को तो वहाँ तक जाने वाली मानना चाहिए, जहाँ तक वक्ता या श्रोता को अर्थ की दृष्टि से

पूर्ण विश्रान्ति मिलती हो। उनका कहना है कि 'तात्पर्य न तुला' धृतम्' तात्पर्य वृत्ति तराजू पर रखकर तौली हुई नहीं है कि वह नियत अर्थ तक ही जाने की सामर्थ्य रखती हो या अन्वयांश बोध तक ही जाने में शक्त हो। उसकी दौड़ विवक्षित अर्थ तक है और व्यंजना भी वही है। युक्ति तो है ही, इसके अतिरिक्त लाभ यह है कि एक अतिरिक्त वृत्ति (व्यंजना) की कल्पना नहीं करनी पड़ती। और जहाँ तक 'तात्पर्यवृत्ति' की बात है, वह तो अन्वयांश के लिये व्यंजनावादी को भी स्वीकृत है। अंतर इतना ही है कि वह उसे यहीं तक सीमित मानता है।

साहित्यदर्पणकार ने इस तात्पर्यवृत्ति का खंडन करते हुए कहा है कि व्यंजनावादी अभिधा, लक्षणा एवं अन्वयबोध में उपयोगी तात्पर्य वृत्ति से सर्वथा विलक्षण एक चौथी शक्ति भी मानते हैं, नाम चाहे उसका जो कुछ रखा जाय। व्यंजनावादी नाम के विषय में आग्रह नहीं करना चाहते, वे तो केवल एक ऐसे अर्थ की सिद्धि में ग्रहिल हैं, जो अभिधा, लक्षणा एवं अन्वय-बोध मात्र में उपयोगी तात्पर्यवृत्ति से पृथक् हैं। उनका अभिनिवेश संज्ञी में है, संज्ञा में नहीं, नामी में है, नाम में नहीं। जितने अंश में दशरूपककार की तात्पर्यवृत्ति उक्त तीनों वृत्तियों का अतिक्रमण करती है, उतने अंश में वह व्यंजना है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि यदि व्यंजनावादी को नाम में आग्रह नहीं है तो वह 'तात्पर्य' संज्ञा को ही उस चौथी (अतिरिक्त वृत्ति) वृत्ति के लिये स्वीकार क्यों नहीं कर लेता? व्यंजनावादी का विचार है कि व्यंजना नाम कोई आग्रहवश नहीं, औचित्य के अनुरोधवश रखा गया है। व्यंजना का शब्दार्थ है 'प्रकाशन' यह पहले ही बताया जा चुका है। व्यंजक शब्द अन्य शब्दों के वाच्यार्थ का प्रकाशन ही तो करते हैं। अतः अन्यार्थ-प्रकाशन में तत्पर शक्ति को 'तात्पर्य की अपेक्षा' व्यंजन कहें, तो इस अनुभव सिद्धता का अपलाप कौन कर सकता है। विदग्धों की परिषद् में रहस्य की बातें सदा इसी वृत्ति से तो समझी जाती हैं। अतः इस वृत्ति को जो कोई भी स्वीकार न करेगा, कि वह विदग्धों के बीच उपहास का पात्र ही होगा।

तात्पर्य वृत्ति से व्यंजना को पृथक् मानने में एक तर्क और भी है। तात्पर्य वृत्ति तो उसी अर्थ के लिये स्वीकृत हो सकती है, जो वक्ता का विवक्षित

१—दशरूपक, च० प्र०।

अर्थ हो। जो अर्थ वक्ता को विवक्षित न हो, किंतु अप्रधान रूप से श्रोता को निर्बाध झलक जाय, तो उसके लिये शब्द का कौन सा व्यापार होगा ? उदाहरणार्थ-सायंकाल का वर्णन विवक्षित हो और उसी अभिप्राय से वक्ता ने कहा हो कि 'राग-पूर्ण चंद्र प्राची के मुख का चुंबन कर रहा है' तो यहां पर वक्ता का मुख्य रूप से विवक्षित अर्थ इतना ही है कि पूर्व दिशा में अरुण चंद्र उदित हो रहा है। अतः यही अर्थ तात्पर्य वृत्ति का कार्य माना जायगा। पर इसी वाक्य से जार एवं परकीय नायिका का जो श्रृङ्गार झलक रहा है, वह किस व्यापार का कार्य हो ? यहाँ ऐसा कोई वाचक शब्द है नहीं, जिसकी अभिधा से इस गौण अर्थ की प्रतीति मानी जा सके। निर्बाध प्रतीत होने के कारण लक्षणा भी नहीं है। तात्पर्य तो है ही नहीं, फिर इसके लिए तो शब्द की किसी न किसी अतिरिक्त वृत्ति को मानना पड़ेगा। यही शब्द की चौथी वृत्ति है। इसे व्यंजना कहते हैं।

इस प्रकार व्यंजना के विरोध में मीमांसकों द्वारा जो नाना आपत्तियाँ उठाई जाती हैं, उनका समाधान करने के अनंतर अब तार्किकों की व्यंजना के संबंध में क्या धारणा है, यह देखना चाहिए।

तार्किक एवं आर्थी व्यंजना

नैयायिकों या तार्किकों का व्यंजना के संबंध में प्रतिष्ठित मत यह है कि व्यंजना का स्वरूप भिन्न भिन्न विचारकों ने भिन्न भिन्न ढंगों से निश्चित किया है। किसी ने उसे 'संस्कार', किसी ने 'संबंध' एवं किसी ने 'ज्ञान' स्वरूप बताया है। जैसे इस शक्ति के सब रूप के संबंध में कोई एक निश्चित मत नहीं है, उसी प्रकार इसके आश्रय के संबंध में भी निश्चित नहीं है। वह शब्द, अशब्द, राग, चेष्टा, दीप आदि न जाने कितने प्रकार के प्रकाशकों में रहती है। इस कारण इसका एक निश्चित स्वरूप ही नहीं है, जिसे बुद्धि में रखकर उसका एक सामान्य लक्षण स्थिर किया जाय। जिसका लक्षण द्वारा स्वरूप ही स्थिर नहीं हुआ, वह वस्तु कैसे स्वीकार की जा सकती है[1] ?

आलंकारिक इस आक्षेप का समाधान यह देते हैं कि शक्ति चाहे अपना एक निश्चित स्वरूप न देती हो, पर उसका कार्य नियत रूप से सहृदयजन बराबर अनुभव करते हैं, तो उसका अपलाप कैसे किया ज.य ?

१—लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तु सिद्धिः।

नैयायिक या उनके प्रतिनिधि एक ढंग से और व्यंजना का नाश करना चाहते हैं। वे लोग करते यह हैं कि व्यंग्यार्थ को अनुमेय और व्यंजना को अनुमान से पृथक् स्थान ही नहीं देते। आलंकारिकों में इस आशय के मत का दो स्थानों पर उल्लेख है, एक तो 'ध्वन्यालोक' में और दूसरे 'व्यक्ति विवेक' में। क्रमशः हम दोनों का विचार करेंगे।

ध्वन्यालोककार का संक्षेपतः विचार यों है—सतर्क एवं अप्रमत्त व्यक्ति द्वारा उच्चरित शब्द सदैव किसी न किसी अभिप्राय के प्रकाशक होंगे और प्रकाशक तथा व्यंजक पर्याय हैं। ये प्रकाशक शब्द जब सदैव वक्ता के अभिप्राय के प्रकाशक हैं, तो इससे यह सिद्ध है कि अभिप्राय एवं प्रकाशक (अथवा व्यंजक) परस्पर नियमतः संबंध रखते हैं। शब्दप्रकाशन और अभिप्राय नियत संबद्ध हैं। जो दो पदार्थ नियत संबद्ध होते हैं, धूप एवं अग्नि की भाँति उनके पारस्परिक संबंध को 'व्याप्ति' कहते हैं। ''व्याप्ति' का अर्थ ही 'नियत साहचर्य' है जिन दो अर्थों में व्याप्ति होती है, उन्हें अनुमापक और अनुमाप्य कहते हैं। इस दृष्टि से यदि शब्द अनुमापक हुए, तो अभिप्राय अनुमाप्य। अब हम जब शब्द को व्यंजक, प्रकाशक एवं अनुमापक कह सकते हैं, तो इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वे तीनों पर्याय हैं और जब ये तीनों पर्याय हैं तो व्यंग्य, प्रकाश्य एवं अनुमेय या अनुमाप्य भी पर्याय ही हुए। इसी प्रकार अनुमाप्यानुमापक भाव या व्यंग्य व्यंजक भाव भी एक ही वस्तु हुई और तब अनुमान और व्यंजना को भिन्न मानने का कोई कारण नहीं। क्योंकि अनुमेय की प्राप्ति में जो साधन है, वह अनुमान कहा जाता है और व्यंग्य की प्राप्ति में जो साधन है उसे व्यंजना कहा जाता है। जब साध्य एक दूसरे के पर्याय हैं, तो साधन भी पर्याय ही हुए।

व्यंजनावादी का इस पर यह विचार है कि यह ठीक है कि मानव मात्र के हृदय में पहले पहल कोई भाव या विचार अभिप्राय के रूप में अंकुरित होता है। फिर विचारक उन भावों, विचारों या जो कुछ भी अभिप्राय के रूप में हो, उसके प्रकाशन की इच्छा से अनुकूल शब्दों का चयन करता है और फिर उसका प्रकाशन करता है। पर इस प्रकार की प्रकाशकता तो शब्द मात्र के साथ रहने वाली है, कुछ वैसे ही शब्दों के साथ नहीं, जिन्हें ध्वनिवादी विशेष रूप से व्यंजक कहते हैं।

निश्चय ही इस तरह की व्यंजना या अनुमापकता तो शब्द मात्र के साथ

है। इस दृष्टि से तो संपूर्ण शब्द ही अनुमापक या व्यंजक हैं। पर इस प्रकार की अनुमापकता, प्रकाशकता या व्यंजकता से व्यंजनावादी का कुछ बन बिगड़ नहीं सकता। इस तरह के अभिप्राय में शब्दों की जो प्रकाशकता या व्यंजकता है वह तो व्यंजनावादी को भी अनुमान रूप से अभिमत है। इसमें उसको भी कोई आपत्ति नहीं है।

वस्तुतः तार्किक ने व्यंजनावादी के 'अभिप्राय' का अभिप्राय ही नहीं समझा और उसका घोलमेल एक ऐसे विचित्र अर्थ से कर दिया कि जिससे व्यंजनावादी जो कुछ कहना चाहता है, वह स्पष्ट आ ही नहीं सका। वस्तुतः इन लोगों के 'अभिप्राय' में और तार्किकों के पूर्वचर्चित 'अभिप्राय' में मौलिक भेद है। इससे यों समझे कि शब्द जितने प्रकार के अर्थों को प्रकाशित कर सकते हैं वे दो ही प्रकार के हो सकते हैं—अनुमेय एवं प्रतिपाद्य। अनुमेय रूप अर्थ तो तार्किकों द्वारा पूर्व चर्चित वक्ता का अभिप्राय है। यह अभिप्राय वक्ता की विवक्षा है। यह विवक्षा भी दो प्रकार की होती है—शब्द प्रकाशनेच्छा एवं अर्थ प्रकाशनेच्छा। प्रथम तो प्राणिमात्र में संभव है, पर द्वितीय केवल अप्रमत्त मनुष्य में ही। यह 'विवक्षा' रूप 'अभिप्राय' तो सबके मत से अनुमेय है। पर अभिप्राय का दूसरा रूप भी है, जो शब्दों का 'प्रतिपाद्य' है, यह अनुमेय अर्थ से भिन्न है। यह प्रतिपाद्य अर्थ भी जब शब्दों से निर्बाध रूप में प्रतीत होते हैं, तो वे भी दो प्रकार के होते हैं—संकेतित एवं असंकेतित। 'संकेतित' तो शब्द की अभिधा शक्ति से प्राप्त होती है। रहा, असंकेतित अर्थ। व्यंजनावादी 'अभिप्राय' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ के लिये करते हैं। असंकेतित अर्थ का एक प्रकार और भी है, पर उसकी प्रतीति मुख्यार्थ बाध के अनंतर होती है, और वह अर्थ लक्ष्य कहा जाता है। अस्तु। व्यंजनावादी जिस निर्बाध प्रतीत होने वाले अर्थ के लिये 'अभिप्राय' शब्द का प्रयोग करते हैं, वे व्यंजना व्यापार से लाए जाते हैं। व्यंजना अपने इस रूप में अनुमान के समकक्ष नहीं हो सकती। अतः उक्त मत भ्रममूलक ही था।

महिम भट्ट दूसरे पैंतरे से आक्षेप करते हैं। इनका विचार है कि शब्द की एक ही शक्ति है और वह है—अभिधा। इसके अतिरिक्त शब्द की कोई शक्ति नहीं। शब्द से अभिधेय अर्थ के अतिरिक्त जितने प्रकार के अन्य अर्थ (लक्ष्य,

व्यंग्य) मिलते हैं, वे सब अनुमेय ही हैं। उनका कहना है–[1]अर्थो द्विविधः वाच्योऽनुमेयश्च। अर्थात् अर्थ दो प्रकार के होते हैं–वाच्य एवं अनुमेय। भट्ट जी व्यंग्यार्थ को अनुमेय सिद्ध करने में तीन युक्तियों का सहारा लेते हैं (१) प्रथम युक्ति वह हैं कि शब्द का उसके किसी भी प्रकार के अर्थ से व्यंग्य व्यंजक भाव संबंध हो ही नहीं सकता। व्यंग्य व्यंजक भाव वहीं और उन्हीं पदार्थों में होता है, जो एक साथ प्रकाशित हों। उदाहरणार्थ–दीपक एवं उसके प्रकाश्य। दीपक अपने स्वरूप का प्रकाशन करता हुआ साथ ही सन्निहित पदार्थों को भी प्रकाशित कर देता है। पर यह स्थिति शब्द एवं किसी भी प्रकार के अर्थ के साथ नहीं है। यहाँ तक कि जिस स्वर के अर्थ को व्यंजनावादी व्यंग्य कहते हैं: वह भी शब्द द्वारा वस्तुतः व्यंग्य नहीं हैं। क्योंकि शब्द अपने स्वरूप के प्रकाशन के साथ व्यंग्यार्थ का प्रकाशन नहीं करता। शब्द को छोड़िए, जिस वाच्यार्थ को व्यंजनावादी प्रकाशक कहते हैं, वही यहाँ अपने स्वरूप के प्रकाशन के साथ ही व्यंग्यार्थ का प्रकाशन करता है। यहाँ तो शब्द एवं अर्थ पहले स्वयं प्रतीत हो लेते हैं, तो उसके पश्चात् अभिप्रेत अर्थ का प्रकाशन करते हैं। इनमें प्रकाशन की दृष्टि से सहभाव नहीं, किंतु पूर्वापरीभाव है। अतः ऐसे स्थानों को व्यंजना या प्रकाशन व्यापार मानना किसी भी प्रकार युक्ति सह नहीं है। हाँ, यह प्रश्न हो सकता है कि यदि उसकी प्रतीति व्यंजना व्यापार से नहीं होती, तो आखिर होती कैसे है ? भट्ट जी का विचार है कि जहाँ प्रकाशक पहले स्वयं प्रतीत होकर प्रकाश्य के प्रकाशन में संबंध ज्ञान को माध्यम बनाता हो, वहाँ अनुमान प्रमाण का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ, धूम पहले स्वयं प्रकाशित होता है; और वह्नि के साथ जो उसका नियत सबंध है, उसकी स्मृति होती है (यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः) और तब फिर कुछ अवांतर व्यापार के बाद प्रकाश्य वह्नि का प्रकाशन या ज्ञान होता है। इसी प्रकार शब्द या अर्थ रूप व्यंजक जिस व्यंग्यार्थ का प्रकाशन करते हैं, वहाँ भी अनुमान प्रमाण से ही प्रकाशन होता है। ऐसे स्थलों में समर्थ वाच्यार्थ द्वारा ही हम विवक्षित अर्थ का अनुमान कर पाते हैं। निष्कर्ष यह कि ऐसे स्थलों में विचार करने पर व्यंजना व्यापार की जगह अनुमान प्रमाण का ही उपयोग और व्यवहार युक्तियुक्त है।

(२) दूसरी युक्ति यह है कि एक शब्द अपनी अभिधा शक्ति से वाच्यार्थ मात्र का उपस्थापन कर सकता है, शेष अन्य अर्थों की जो प्रतीति होती है,

---

१ – व्य० वि० पृ०

वह शब्द के बल से नहीं, किंतु अन्य सामग्री के बल से। और अर्थ तो और हैं, स्वयं अभिधेयार्थ की भी उपस्थिति तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि उसके अनुकूल सामग्री न हो। 'आंचल में है दूध'—'यहाँ लाख सर पटका करे पर 'आंचल' शब्द, कभी भी वह अपना अभिधेयार्थ नहीं दे सकता। यहाँ उसका अर्थ 'स्तन' ही है। यहां ऐसी सामग्री है, जो उस शब्द को बाध्य करती है, इसी अर्थ के उपस्थान के लिये। 'आंचल' शब्द जो वाच्यार्थ नहीं दे पाता, उसका मुख्य कारण वाच्यार्थ बोध के अनुकूल सामग्री का अभाव है। अभिप्राय यह कि किसी भी अर्थ का बोध तभी संभव है, जब उसके अनुकूल सामग्री हो। उदाहरणार्थ, लक्ष्यार्थ ही है, इस अर्थ की प्रतीति तभी हो सकती है, जब मुख्यार्थ बाध, मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ का संबंध तथा रूढ़ि एवं प्रयोजन में से कोई एक हो। महिम भट्ट का विचार है कि अभिधेयार्थ के अतिरिक्त, जितने अर्थ हैं, वे सब अभिधेयार्थ के बाद प्रतीत होने वाले हैं और उन सबकी प्रतीति कराने वाली कुछ सामग्री होती है। यही सामग्री वस्तुतः उन अतिरिक्त अर्थों को अनुमित कराने में साधन है। अतः सामग्री अनुमापक तथा अर्थ अनुमेय हुआ। इस प्रकार सभी अतिरिक्त अर्थ अनुमान प्रमाण से ही लब्ध होने वाले हैं। उसके लिये लक्षणा, व्यंजना जैसे शब्द-शक्तियों के स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

३—*तीसरी युक्ति यह है कि जिन अर्थों से व्यंग्य अर्थ मिलते हैं; उनका परस्पर कोई संबंध नहीं—वे दोनों परस्पर असंबद्ध हैं—यह बात कुछ ठीक जँचती नहीं। कारण यह है कि यदि सर्वथा असंबद्ध वाक्यार्थ से हम व्यंग्यार्थ निकालें, तो चाहे जिस किसी वाक्य से मनमाना व्यंग्यार्थ हम प्रतिपादित कर सकते हैं। अतः यही मानना उचित है कि जिन अर्थों का व्यंग्यार्थ से संबंध होता है उसी से व्यंग्यार्थ का संपादन उचित और व्यवस्थापूर्ण जान पड़ता है। यह संबंध भी अनियत एवं नियत दो प्रकार का हो सकता है। यदि व्यंजक अर्थ का व्यंग्यार्थ से कोई नियत संबंध नहीं है, तब तो इसका अभिप्राय यह है किसी प्रकार से अनियत-मनमाना-ढंग से संबद्ध वाच्यार्थों में भी व्यंग्य-व्यंजक भाव संबंध स्वीकार कर लिया जाय और फिर यही करना हो, तो सर्वथा असंबद्ध वाला प्रथम विकल्प ही क्यों न मान लिया जाय? स्थति तो दोनों जगह की एक ही है, अर्थात् मनमानी दोनों जगह करनी हैं, अव्यवस्था उभयत्र है। अतः इन अव्यवस्थाओं से मुक्ति पाने के लिए आवश्यक है, कि व्यंजक एवं व्यंग्य अर्थों में नियत-संबंध मान लिया जाय। नियत संबंध या नियत साहचर्य 'व्याप्ति' ही है और जिन दो पदार्थों की 'व्याप्ति' होती हैं,*

उनमें से एक अनुमापक तथा दूसरा अनुमाप्य होता है। यहाँ अनुमान प्रमाण द्वारा ही अनुमाप्य या अनुमेय अर्थ की प्राप्ति होती है। उक्त पद्धति से व्यंजक ही अनुमापक है और व्यंग्य अनुमेय। इस अनुमेय अर्थ की प्राप्ति के लिए व्यंजना व्यापार नहीं, किंतु अनुमान प्रमाण को ही माध्यम मानना चाहिए। अथवा 'व्यंजना' माननी भी हो, तो उसे अनुमान प्रमाण से भिन्न नहीं कहना चाहिए।

ऊपर की तीनों युक्तियों से जो बात सिद्ध है, वह यही है कि व्यंजक अर्थ अनुमापक है और व्यंग्यार्थ अनुमेय। व्यंग्यार्थ के किसी भी एक स्थल को लेकर उक्त लक्ष्य की अप्रमाणिकता स्थिर की जा समती है। यह सत्य है कि व्यंजक एवं अनुमापक सामग्रियों ये एकता जान पड़ती है, पर यह एकता आपाततः ही जान पड़ती है, विचार करने से यह आपाततः ही प्रतीत एकता विनष्ट हो जाती है। व्यंजक अनुमापक कभी एक नहीं हो सकते। जहाँ अनुमापक अपने अनुमेय का असाधारण चिन्ह होता है, वहाँ व्यंजक के लिये यह आवश्यक नहीं है। व्यंजक का संबंध अनेक से हो सकता है, पर अनुमापक में यह बात नहीं है। अनुमान का लक्ष्य वास्तविक ज्ञान उत्पन्न करना है, व्यंजक का लक्ष्य चमत्कार मात्र उत्पादन करना है, उनको सत्य एवं असत्य से कोई प्रयोजन नहीं। अनुमापक को हर तरह से सत् एवं प्रामाणिक होना चाहिए, व्यंजक के लिये वह आवश्यक नहीं है। इस प्रकार व्यंजक वस्तुतः अनुमापक से सर्वथा भिन्न है। एक उदाहरण लीजिए—

'कुच के तट चंदन छूट्यो सबै, अधरानहुं पै न रहे अरुनाई।
दृग-कंजन कोर निरंजन भे, तनु अंगन में पुलकावलि छाई।

नहिं जानत पीर हितून की तूं, अरी बोलिबो झूठ कहाँ पढ़ि आई।
इतसों गई न्हाइवे वापी ही तूं, न गई तिहिं पापी के पास तहाई।।

प्रसंग यह है कि कोई मदन-विह्वल कामिनी थी, उसने अपनी दूती को नायक के पास इस उद्देश्य से भेजा कि वह उसके पास जाकर सारी स्थिति का निवेदन कर दे, ताकि नायक दयार्द्र होकर उसके साथ ही चला आवे। दूती ऐसी स्वार्थपरायण निकली; नायिका की स्थिति का निवेदन तो एक तरफ हो रह गया, वह स्वयं नायक से संभुक्त होकर अकेले लौट आई और नायक को साथ न ला सकी। नायिका ने खाली लौटी हुई दूती से जब नायक के न आने का कारण पूछा, तो निरुत्तर दूती को देखकर उस विदग्धा नायिका ने

सब रहस्य ताड़ लिया और कहा तुम 'तुम वस्तुतः यहाँ से वापी स्नान करने के लिए चली गई थी, नायक के पास गई ही नहीं क्योंकि वापी स्नान के सभी चिह्न तुम्हारे शरीर पर एक एक करके लक्षित हो रहे हैं—इत्यादि ।'

अब विदग्धा नायिका के इस कथन से व्यंग्य यह हो रहा है—'दूती नायक के ही पास रमण करने के लिये गई हुई थी।' इस अर्थ की प्राप्ति में वापी स्नान के समर्थक जिनके कारण कहे गए हैं, वे ही व्यंजक अर्थ हैं, और उनकी सहायता से 'पापी' पद उक्त व्यंग्यार्थ के व्यंजक में और सहायक है। कारण यह है कि यदि विदग्धा नायिका का उक्त कथन वस्तुतः वाच्यार्थ का ही बोध कराने वाला होता तो इसका अर्थ स्पष्ट यही होता कि दूती वापी-स्नान के ही लिये गई थी। ठीक है, पर नायक को वह अभी-अभी पापी क्यों कर रही है ? जिसके प्रति उसका इतना अनुराग था कि स्वयं दूती को उसके पास भेजा था, अभी इतनी ही देर में उसे पापी कहने का कारण क्या है ? दूसरे यह कि दूती की इस तरह की क्रिया उसने कई बार देखी थी, इसलिये उसकी आकृति देखकर वह विदग्धा भाँप गई, कि उस दुष्ट ने अपनी आदत फिर से दुहराई है और नायक इस पाप कृत्य में संमिलित होने से परितृप्त हो गया इसीलिये हमारी प्रार्थना पर आया नहीं। पर इस तथ्य को बड़े वैदग्ध्य पूर्ण ढंग से नायिका प्रकाशित करती हैं, क्योंकि वह विदग्ध है, अन्यथा अभिधा वृत्ति में ही सारी बात कह देती। उसने संभोग के संपूर्ण चिह्नों को वापी स्नान का कार्य बताया और उपालंभ दिया कि तुम्हें जितना अपने स्नान समय की बेला के अतिक्रमण का भय है, उतना हमारी पीड़ा का नहीं। अर्थात् तुम बड़ी स्वार्थ-परायण हो।' इस वैदग्ध्यपूर्ण ढंग से उसने सारी बातें दूती से कह दीं। दूती को काटो तो बदन में खून नहीं। अस्तु, विचार करना है कि यहाँ जो व्यंजक सामग्री है, क्या वह अनुमान के अनुकूल हैं ? अनुमापक हेतु की सभी शर्तें इस व्यंजक में हैं ?

अनुमापक होने की पहली शर्त यह है (१) कि वह अपने अनुमेय या साध्य से ही एकमात्र संबद्ध हो। प्रस्तुत व्यंजक में यह स्थिति नहीं। वापी स्नान के जो अर्थ हैं—(क) कुचस्थल का चंदन झड़ जाना (ख) अधरों की ललाई हट जाना (ग) दृगंचल का अंजन विहीन हो जाना (घ) अंग अंग में रोमांच हो आना। वे व्यंजक होते हुए एक मात्र व्यंग्य 'दूती-संभोग' के ही चिन्ह नहीं हैं, वापी स्नान के भी चिन्ह हैं। अतः अनुमापक होने की पहली शर्त इसमें सर्वथा नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि वक्ता ऋजु प्रकृति का

होता और दूती सती होती, तो लाख सर पटकने पर भी ये हेतु 'संभोग' को व्यक्त न कर पाते। कहने का तात्पर्य यह कि अनुमापक चिन्ह को अपना कार्य करने में वक्ता एवं प्रकरण आदि के वैशिष्ट्य की अपेक्षा नहीं है, जबकि व्यंजक का इनके बिना स्वरूप ही नहीं बन सकता। इस प्रकार यह सिद्ध है कि जिस प्रकार अनुमाप्य एवं अनुमापक का स्वाभाविक नित्य संबंध है, उसी प्रकार व्यंजक का स्वभावतः व्यंग्य ही से नित्य संबंध नहीं है और नित्य या नियत संबंध का न होना व्याप्ति का न होना एक ही बात है। अतः व्यंग्य एवं व्यंजक में 'व्याप्ति' न होने से वे अनुमाप्य एवं अनुमापक नहीं हो सकते और तब व्यंग्य का ज्ञान अनुमान प्रमाण से होना सर्वथा दूर है।

दूसरे यह कि वस्तु तथा अलंकार जहाँ व्यंग्य होते हैं, वहाँ हठात् अनुमान मान भी लिया जाय, तब भी 'रस' स्वरूप व्यंग्यार्थ तो कभी भी अनुमेय नहीं हो सकता। किसी तथ्य का अनुमान हो जाना अन्य बात है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव होना दूसरी बात है। 'रस' का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, कुछ अनुमिति स्वरूप परोक्ष-अनुभव नहीं। एक अन्य बात यह है कि जो वस्तु अनुमित होती है, वह अनुमान करने वाले में ही नहीं होती, वल्कि अन्य में होती है। वह अन्य चाहे, नट हो और चाहे अनुकार्य। इस प्रकार जहाँ एक ओर सारा सहृदय समाज उस 'रस' को 'स्वयं अपने में अनुभूत मानता है, वहाँ अनुमितिवादियों के मत से वह वस्तुतः अन्यदीय ही सिद्ध होगा। निष्कर्ष यह कि व्यंग्यार्थ किसी भी प्रकार अनुमेय नहीं माना जा सकता और न व्यंग्यार्थ के लिये साधन-स्वरूप व्यंजना अनुमान प्रमाण ही। व्यंजना अनुमान प्रमाण से पृथक् है।

वेदांती और वैयाकरण तथा व्यंजना :—

वेदांती एवं स्फोटवादी वैयाकरण जब पारमार्थिक दृष्टि से विचार करते हैं, तो कहा करते हैं कि वाक्य 'अखंड हुआ करते हैं और जैसे वाक्यों में किसी प्रकार का कोई खंड नहीं, वैसे ही वाच्यार्थ भी अखंड[1] होते हैं। अखंड से तात्पर्य यह है कि न तो वाक्य में विभिन्न प्रकार के कारक एवं क्रिया स्वरूप कई खंड हैं और न वाक्यार्थ के भीतर ही क्रिया एवं कारक रूप से खंड-

---

१—संसर्गासंगिसंबंधी हेतुता या गिरामियम्। उक्ताखंडार्थता यद्वात-त्प्रातिपदिकार्थता। वे० प० प्र० परि० पृ० १०१।

खंड पदार्थों की स्थिति है । यह तो हुई वैयाकरणों की धारणा । भर्तृहरि[1] ने इसकी पुष्टि में कहा है कि सामसिक पदों में जैसे उसके प्रत्येक अवयव निरर्थक होते हैं, पर पूरे समुदाय का एक अखंड अर्थ होता है, उसी प्रकार पूरे वाक्य के पृथक् पृथक् खंडों का कुछ भी अर्थ नहीं होता, बल्कि निखिल वाक्य से एक अखंड अर्थ प्रतीत होता है ।

इसी प्रकार वेदांतियों का कहना है कि परमार्थतः एक ब्रह्म ही सत्य है, वही अखंड पदार्थ है । सारे वेद वाक्य अखंड रूप से एक मात्र अखंड पदार्थ (ब्रह्म) का ही बोध कराते हैं । बीच की पद-पदार्थ-कल्पना मायिक होने के कारण असत्य हैं ।

इस प्रकार दोनों ही मतों में न तो विभिन्न प्रकार के पद और न विभिन्न प्रकार के अर्थों की ही कल्पना सत्य मानी गई है । और शक्तियों की कल्पना इन्हीं विभिन्न पद पदार्थों के ही ऊपर निर्भर है । जब विभिन्न प्रकार के पद-पदार्थ ही नहीं, तो विभिन्न शक्तियों की कल्पना अपने आप निरर्थक सिद्ध हो जाती है । व्यंजना का अस्वीकार इस ढंग से स्पष्ट सिद्ध है ।

उक्त विचार शुद्ध पारमार्थिक दृष्टि से किया गया है, व्यावहारिक दृष्टि से नहीं किया गया है । अतः उक्त विचार से व्यंजना के विचार का सच पूछिए, तो कोई विरोध ही नहीं है । कारण यह है कि व्यंजना व्यवहार दशा की वस्तु है, परमार्थिक दृष्टि से तो उसका विचार ही नहीं है । वे ही वैयाकरण एवं वेदांती जब व्यवहार दशा में उतरेंगे, तब अभिधा के पैरों पर लोटेंगे । वाच्यार्थ मात्र समझनेवाली मोटी बुद्धि के लोगों से सूक्ष्म बुद्धि संपन्न विदग्ध जनों का अंतर सिद्ध करने के लिये व्यंजना को अगत्या स्वीकार करेंगे ही । दूसरे वेदांती के लिए तो प्रसिद्ध ही है कि वे लोग व्यवहार दशा में भाट्ट दर्शन के अनुयायी[2] हैं । भाट्ट मतानुयायी मीमांसकों को भी व्यंजना माननी पड़ती है, यह 'मीमांसक और व्यंजना' वाले प्रसंग में अच्छी प्रकार सिद्ध किया जा चुका है । और जब वहाँ व्यंजना भाट्ट मतवालों को मान्य है, तो व्यवहार दशा में उनके अनुयायी वेदांतियों को भी वह बात मान्य ही हैं ।

१—ब्राह्मणार्थो यथानास्ति कश्चिद्ब्राह्मणकम्बले ।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः । वा० प० ।

२—'व्यवहारे भाट्टनयः ।'

वैयाकरणों को तो व्यवहार दशा में वाक्य में पदों की ही नहीं, पदों में भी प्रकृति एवं प्रत्यय की कल्पना करनी पड़ती है। पदों के साथ साथ पदार्थ और पद-पदार्थ की विभिन्न रूपता स्वीकार कर लेने पर नाना प्रकार की शक्तियां भी माननी पड़ती हैं। उसी बीच व्यंजना की चर्चा उन्हें करनी ही पड़ती है। यद्यपि यह प्रकृति, प्रत्यय, पद एवं पदार्थ असत्य ही हैं फिर भी इनके बिना हम मूल सत्य अर्थ तक पहुँच ही नहीं पाते। सारा संसार मिथ्या है, सभी कर्म मिथ्या हैं, तथापि उन्हीं के द्वारा हम 'सत्य' की प्राप्ति कर पाते हैं।[1] भर्तृहरि ने स्वीकार किया है कि सत्य के ज्ञान में असत् का भी सहारा लेना पड़ता है। इसीलिये व्यवहार दशा में वाध्य होकर दोनों को पद-पदार्थों एवं उनकी शक्तियों की कल्पना चाहे भले ही वे मिथ्या हों—करनी ही पड़ती हैं।

भट्टनायक की भावना तथा भोग और व्यंजना—

भट्टनायक ने भी व्यंजना व्यापार न मानकर[2] अभिधा, भावना एवं भोग नाम की तीन शब्द शक्तियों की चर्चा की है। इन शक्तियों का सामान्यतः परिचय प्रथम परिच्छेद में दिया जा चुका है। भट्टनायक का स्थान रसवादी आचार्यों में है। केवल रस की ही दृष्टि से इन्होंने काव्यशब्दों की तीन शक्तियाँ स्वीकार की हैं। इनकी दृष्टि से काव्य में सर्वत्र रस ही प्रधानतः काव्य के उपकरणों का साध्य होता है। भट्टनायक ने उन स्थलों में भी (गोदावरी कूल के कुंजों) में जहाँ प्रधानतः वस्तु ध्वनि है, इस ध्वनि ही स्वीकार करते हैं। व्यंजनावादियों के समान भट्टनायक की •रस को वाच्य नहीं कहते, परंतु वे शब्द श्रवण के अनंतर अभिधा से निवेदित 'विशेष रूप में प्रतीत पदार्थों' को रसोपयोगी बनाने के लि भावनाये व्यापार की कल्पना करते हैं। यह भावना व्यापार असाधारण रूप से अभिहित पदार्थों को साधारणी कृत रूप में ले आते हैं। फिर इन्हीं साधारणीकृत पदार्थों के माध्यम से

१—उपायाः शिक्ष्यमाणानां बालानामुपलालनाः। असत्येवर्त्मनि स्थित्-वाततः सत्यं समीहते।

२—व्यापारास्त्रिविधो बुधैरभिमतः काव्येऽभिधा भावना,
भोगोत्पादकतात्मना तदधिको नास्ति ध्वनिर्नामतः।
सिद्धाद्या व्यवहारभूमिषु विभावाधर्मसाधारणी—कारात्मा त्वपरा निरर्गल रसास्वादात्मिकै वान्तिमा।

'भोग' व्यापार द्वारा रसानुभूति होती है। यद्यपि रस यहाँ वाच्य नहीं है, फिर भी उसे व्यंजना का कार्य भट्टनायक ने न स्वीकार कर एक प्रकार से व्यंजना का खंडन ही किया है।

अभिनव गुप्त भट्टनायक की उक्त दोनों शक्तियों को व्यंजना से पृथक् नहीं स्वीकार करते। अभिनव गुप्त यह भी कहते हैं कि भट्टनायक की भावना ध्वनिवादियों को भी स्वीकृत है। "यह भावना यदि काव्य का व्यापार है, तो वह अंततः काव्य में 'समुचित गुणों एवं अलंकारों का परिग्रह' रूप ही होगा। काव्य की भावकता आखिर क्या है ? यही न कि वह समुचित गुण एवं अलंकार आदि चारुताधायक तत्वों से संपन्न हो और संपन्न होकर रस का भावक हो। बिना समुचित गुणों एवं अलंकारों के परिग्रह से शब्दार्थ मय वाक्य में रस की भावकता कभी हो ही नहीं सकती। यह भावकता उचित गुणों एवं आलंकारों से समन्वित मिलित शब्द एवं अर्थ में है। ध्वनिकार ने स्पष्ट ही कहा है 'यत्रार्थः शब्दोः वा व्यंक्तः' अर्थात् जहाँ शब्द एवं अर्थ किसी परम चारु अर्थ की अभिव्यक्ति करते हों। शब्द एवं अर्थ की अभिव्यंजकता भावना ही तो है। भावना और व्यंजना भिन्न नहीं हैं।

अथवा यों विचार करें कि भावना अपनी समग्रता में त्रिधा विभक्त है साधन, साध्य एवं इतिकर्तव्यता (प्रोसीजर) साध्य है रस और साधन है व्यंजना तथा गुण सब अलंकारों का औचित्य है आंतरालिक प्रक्रिया, जो साध्य की सिद्धि में हस्तावलंब देती है। इस प्रकार भावना अपनी समग्रता में त्रिधा विभक्त होते हुए भी साधनांश में व्यंजना से अभिन्न ही है।

बचा 'भोग' नामक व्यापार। वह भी रसविषयक होने से व्यंजनास्वरूप ही है, केवल नाम मात्र का ही भेद है। भोग केवल शब्दों से नहीं होने वाला है। 'भोग' के लिये आवश्यक यह है कि इससे पूर्व आनंदांश पर पड़ा हुआ चिरंतन अज्ञान का आवरण विगलित हो। अनावृत आनंदांश के साथ विभावादि से संवलित होकर भाव एवं चैतन्य का जो साक्षात्कार है, यही भोग है। पर यह सार साक्षात्कार अनावृत चैतन्य पर ही निर्भर है और यह अनावृत चैतन्य 'व्यक्ति' या [1]व्यंजनाही तो है। भोग यदि रसानुभूति का साधन है, तो वह 'व्यक्ति' से भिन्न नहीं है।

१—हि० व० जी० पृ० १६३।

भट्ट नायक के मत में अभिनव गुप्त ने एक आपत्ति यह बताई है कि काव्य को रस के प्रति भावक कहने से भट्ट लोल्लट का 'उत्पत्ति पक्ष' पुनः जी जायगा। *शब्दार्थ की दृष्टि से भावन एवं उत्पादन पर्याय ही हैं।* इस स्थिति में काव्य रस का भावक है—अर्थात् काव्य रस का उत्पादक है। काव्य से रस की 'उत्पत्ति' होती है—यह तथ्य भट्ट नायक को भी स्वीकार करना होगा, जब कि भट्टनायक स्वयं कहते हैं 'नोत्पद्यते'[1]—वह रस उत्पन्न नहीं होता। इस विरोध के कारण भट्ट नायक को 'भावना' की चर्चा करनी ही नहीं चाहिए।

कुन्तक एवं व्यंजनाः—

'वक्रोक्ति' वाद का जन्म महिम भट्ट के अनुमितिवाद की भाँति ध्वनिवाद की प्रतिक्रिया में हुआ। 'काव्यात्मवाद के विरुद्ध देहवादियों का यह अंतिम और विफल विद्रोह था। काव्य के जिन सौंदर्य भेदों की आनंदवर्द्धन ने ध्वनि के द्वारा आत्म-परक व्यख्या की थी, उन सभी को कुंतक ने अपनी अपूर्वमेधा के बल पर वक्रोक्ति के द्वारा वस्तुपरक विवेचना प्रस्तुत करने की चेष्टा की। इस प्रकार वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुगत परिकल्पना की थी।'

शब्द एवं अर्थ को अलंकार्य बताते हुए कुंतन ने कहा है, कि इन दोनों का एक ही अलंकरण है और वह है 'वक्रोक्ति'। 'वक्रोक्ति' स्वयं क्या है ? इसका परिचय देते हुए उसे '*प्रसिद्ध अभिधान से भिन्न विचित्र प्रकार की अभिधा*' बताया है। इन्होंने काव्य के क्षेत्र में शब्द, अर्थ एवं उनकी शक्ति को और ही स्वीकार किया है। महिम भट्ट की भाँति ये भी शब्द की एक ही शक्ति मानते हैं—अभिधा। पर यह 'अभिधा' शक्ति लोकप्रसिद्ध अभिधा नहीं है, यह 'विचित्रैव अभिधा'—विचित्र या विशिष्ट अभिधा है। महिम भट्ट की 'अभिधा' *लोकप्रसिद्ध अभिधा से विलक्षण नहीं है। इनकी विशिष्ट अभिधा में लक्षणा* तथा व्यंजना सब का अंतर्भाव है, महिम की अभिधा में यह बात नहीं है। जिस प्रकार शक्तियों के बीच कुंतक ने एक ही प्रकार की शक्ति मानी है, उसी प्रकार शब्दों एवं अर्थों के बीच एक ही प्रकार का शब्द एवं एक ही प्रकार के अर्थ की भी [2]कल्पना की है। अर्थात् इनके मत से शब्द मात्र एक ही प्रकार

१—'कोऽसौ ? वक्रोक्तिरेव। वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा' वही पृ० ५१।

२—वाच्योऽर्थः वाचकः शब्दः प्रसिद्धाविति यद्यपि।
तथापि काव्यमार्गे स्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः॥ हि० व० जी०, पृ० ३७

के होते हैं और वे वाचक ही कहे जाते हैं, इसी प्रकार अर्थ भी एक ही प्रकार के होते हैं और उनको वाच्य ही कहते हैं। ये वाचक और वाच्य यद्यपि लोक में भी प्रसिद्ध हैं, तथापि काव्य के वाचक और वाच्य कुछ और ही होते हैं। यहाँ पर्यायवाची अन्य शब्दों के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक शब्द ही वस्तुतः शब्द कहलाता है अर्थात् अनेक पर्याय वाचक शब्दों के होते हुए भी उन सबकी अपेक्षा विलक्षणारूप से जो अर्थ को प्रकाशित कर सके, केवल वही शब्द काव्य मार्ग में शब्द कहा जाता है। इसी प्रकार सहृदयों को आनंदित करने वाले अपने स्वभाव से सुंदर पदार्थ ही काव्य मार्ग में वस्तुतः अर्थ कहा जा सकता है। लक्षण एवं व्यंजनों का वाचक शब्द में और लक्ष्य तथा व्यंग्यार्थ का वाच्य अर्थ में ही समावेश करते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि वस्तुतः जिस प्रकार वाचक शब्द में 'अर्थप्रतीतिकारिता' है, उसी प्रकार लक्षक एवं व्यंजक में भी, अतः 'अर्थप्रतीतिकारिता'—इस साधर्म्य के कारण औपचारिक रूप से लक्षक एवं व्यंजक को भी वाचक के ही भीतर समेट लेना चाहिए। इसी प्रकार 'प्रत्येयत्व' रूप समान धर्म के बल पर लक्ष्य एवं व्यंग्य अर्थों को भी वाच्य के परिवेश में ही समझना चाहिए [1]। इस प्रकार व्यंग्य, व्यंजक एवं व्यंजना को कुंतक ने हड़प कर डाला है।

कुंतक के उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यंजना उनके अंतर में काफी भीन उठी है, वे उसे पचा न पाने पर भी केवल शब्दच्छल से उसे छिपा जाते हैं। कुंतक यह नहीं कहते कि व्यंजक या व्यंग्य नहीं हैं, वे तो उसे स्वीकार करते हैं और 'वाचक' शब्द से ही लक्षणा वृत्ति के सहारे उसे लखा देते हैं। व्यंग्य है भी तो ऐसा जो लखाया मात्र ही जा सकता है। आलोककार ने अपनी जिस प्रतिभा के 'आलोक' में वाच्यार्थ से अवगुंठित व्यंग्य को लक्षण से, उदाहरण से पृथक् करके स्थिर किया, कुंतक ने फिर उसे ढँक दिया, पर ढँका ही, स्वयं लोप कर देने का साहस उन्हें भी नहीं हुआ। दूसरे यह कि जो काव्यमार्गी 'शब्द' का स्वरूप निर्देश किया है, वह ध्वन्यालोककार के

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुंदरः॥ वही पृ० ८३

१—'ननु च द्योतकव्यंजकावपि शब्दौ संभवतः। तदसंग्रहान्नाव्याप्तिः। यस्मादर्थ—प्रतीतिकारित्वसाम्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव। एवं द्योत्यव्यंग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यदुपचाराद्वाच्यत्वमेव—व० जी० पृ० ३७।

व्यंजक शब्द का ही स्वरूप तो है। ध्वन्यालोककार ने व्यंजक शब्द उसी को कहा है जो 'उक्त्यन्तरेण'[1] अशक्त चारुता का संपादक हो और कुंतक ने भी काव्य मार्गीय शब्द उसी को कहा है जो विवक्षित चारुता के संपादन में केवल एक हो। तीसरे यह कि कुंतक ने 'प्रतीयमान' तत्व की चर्चा अपने ग्रंथ में अनेकशः की है। 'विचित्र, मार्ग का सोदाहरण विवेचन करते एक स्थल पर उन्होंने स्पष्ट बताया है कि वाच्य तथा वाचक की वृत्ति से व्यतिरिक्त व्यंग्यार्थ की प्रतीति इस मार्ग में उन्मीलित होती[2] है। इस प्रकार अन्यत्र भी प्रतीयमान तत्व का उल्लेख मिलता है।

चौथे यह कि स्वयं महिम भट्ट ने वक्रोक्ति के खंडन में कहा है कि जो वक्रोक्ति काव्य की आत्मा मानी गई है, उसकी यदि चीर फाड़ की जाय, तो वह व्यंजना से भिन्न नहीं हो सकेगी। वस्तुतः काव्यमार्गीय शब्दों का लोक एवं शास्त्र में परम्परा से प्रयुक्त शब्दों से जो वैलक्षण्य है, वही वक्रता है। विचारणीय यह है कि इस वैचित्र्य या वक्रता के आधान का कारण क्या है? अथवा स्वयं यह वैचित्र्य है क्या? यह वैचित्र्य रस की दृष्टि से या तो शब्दार्थगत 'औचित्य' होगा (जो लोक एवं शास्त्र के शब्दार्थों में नहीं होता) अथवा 'प्रतीयमानार्थपरता'[3]। लोक एवं वेद के शब्द केवल वाच्यार्थ मात्र में प्रायः प्रवण दिखाई देते हैं, बहुत हुआ तो लक्ष्यार्थ तक चले जाते हैं। अतः लोक एवं शास्त्र के शब्दों से काव्यमार्गीय शब्दों की ये ही दो प्रकार की विचित्रताएँ हैं—रस की दृष्टि से औचित्य का निर्वाह अथवा प्रतीयमान अर्थों की ओर उन्मुख रहना। संक्षेप में यह वैचित्र्य 'औचित्य' अथवा 'प्रतीयमानपरता' ही हो सकती है। इन दोनों में से भी प्रथम पक्ष अर्थात् 'औचित्य' को तो 'वक्रता' का पर्याय नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि इनका 'काव्यमार्गीय' शब्द आलोककार का 'ध्वनि' ही है। जैसे व्यंजना युक्त विशेष शब्द ध्वनि है, उसी प्रकार 'वक्रोक्ति' से अलंकृत विशेष शब्द काव्यमार्गीय शब्द है। अतः जिस प्रकार 'आनंद' का 'ध्वनि' विशेष काव्य है, उसी प्रकार

१—उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्। शब्दोऽभिव्यंजकतांबिभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्॥ ध्व० आ० पृ० १४६, १५ वीं कारिका।

२—प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्यनिबध्यते। वाच्यवाचकवृत्तिभ्यामतिरिक्तस्य कस्याचित्। व० ज० पृ० २२५, का० ४०।

३—व्यक्ति विवेक, प्रथम विमर्श।

इनकी वक्रोक्ति समन्वित उक्ति भी विशेष काव्य है अर्थात् 'वक्रता' काव्य सामान्य से विशेष काव्य का व्यावर्तक धर्म है। इसी प्रकार 'प्रतीयमानपरता' भी सामान्य काव्य से विशेष काव्य का व्यावर्तन करती है। अब, 'औचित्य' का संबंध तो काव्य सामान्य से है। बात यह है कि काव्य वही हो सकता है, जो रसमय हो। रसमयता विभावादि की औचित्यपूर्ण योजना पर निर्भर है। अतः 'औचित्य' का संबंध काव्य-सामान्य से होने के कारण वह 'वक्रता' का पर्याय नहीं हो सकती, बल्कि काव्य-विशेष का चिन्ह जो 'प्रतीयमानपरता' है, 'वक्रता' कुछ वही है। इस प्रकार वक्रोक्तिकार को व्यंजना माननी ही पड़ती है। आर्थी व्यंजना का सप्रपंच विचार यहीं समाप्त होता है।

षष्ठ परिच्छेद

लक्षणामूला व्यंजना

तृतीय परिच्छेद के अंत में शाब्दी व्यंजना के जो भेद किये गए थे, उनमें से अभिधा मूल व्यंजना का विचार तो हो चुका, संप्रति, लक्षणा मूला व्यंजना का विचार आरंभ किया जा रहा है। तृतीय अध्याय से पूर्व द्वितीय अध्याय में लक्षणा शक्ति का सामान्य परिचय देते हुए यह बताया गया है कि लक्षणा दो प्रकार की होती है—निरूढ़ा तथा प्रयोजनवती। लक्षणामूला व्यंजना का संबंध केवल प्रयोजनवती लक्षणा से है। वाचक शब्द ही जब जिस किसी विशेष प्रयोजन वश लक्षक का रूप धारण कर लेते हैं, तो उसी प्रयोजानांश की प्रतीति व्यंजना व्यापार के द्वारा मानी जाती है। इस व्यंजना के उल्लास में लक्षणा ही मूल है, अतः इसे लक्षणामूला व्यंजना कहा जाता है। एक उदाहरण लीजिये—'पढ़ना हो तब तो काशी ही दौड़ आती है, पर हमारी विपत्ति में न कोई आता है और न कम से कम यही पूछता कि—'भाई! आप हैं कैसे? भयंकर स्वार्थ संसार के पोर पोर में भरा है।' यह किसी परोपकारी एवं विपन्न काशी के पंडित का वाक्य है। इसमें 'काशी' 'संसार के पोर' और उसमें 'स्वार्थ' आदि ऐसे अभिधायक पद हैं, जो इस प्रसंग में अपनी अभिधायकता या अभिधावृत्ति का परित्याग करके किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए 'लक्षक' बन जाते हैं और 'लक्षणा' व्यापार से वांछित अर्थ की निष्पत्ति कराने लगते हैं। 'काशी' पद का अभिधेय अर्थ है, 'काशी नगरी'। यह स्वयं जड़ है और हाथ, पाँव से विहीन, अतः उसका दौड़ कर आना सर्वथा संभव नहीं है। अतः निश्चित है कि यहाँ 'काशी' पद कुछ ऐसे लोगों का बोध कराता है, जिन्हें हाथ, पाँव हैं। इस प्रकार काशी पद अपनी अभिधावृत्ति के निष्फल होने पर लक्षणा की सहायता से काशी वासियों का बोध कराता है। यद्यपि 'काशीवासी' अर्थ का वाचक शब्द है, फिर भी वांछित अर्थ के अवाचक शब्द का प्रयोग क्यों किया जाय? विपन्न पंडित कहसकता था 'अपने स्वार्थ से काशी के लोग चले आते हैं, और विपत्ति पर नहीं।' पर इस ऋजु कथन से काशी के अधिक से अधिक लोगों की स्वार्थवृत्ति पर जो रोप है, वह व्यक्त न हो पाता। वाचक शब्द से स्वार्थियों की संख्या गत

अधिकता न व्यक्त हो पाती, जो लक्षक शब्द से व्यक्त हो सकी है। 'स्नाथियों की इसी अधिकता' की प्रतीति कराना ही इस स्थल में लक्षणा का प्रयोजन है। यह प्रयोजनांश व्यंजनावादियों के मत से व्यंजना व्यापार का फल है।

अब कुछ ऐसे लोग हैं; जो व्यंजना के उक्त स्वरूप पर कुठाराघात करने के लिए बद्ध परिकर हैं। इस स्थल की व्यंजना का जो लोग खंडन करते हैं, उनके मुख्यरूप से दो ही तर्क हैं (i) एक तो यह कि 'काशी' पद की लक्षणा से 'काशीवासी' अर्थ की प्रतीति हो और फिर 'काशीवासी' अर्थ की लक्षणा से प्रयोजनांश की प्रतीति हो। उत्तरोत्तर लक्षणा वृत्ति ही दोनों अर्थों की प्रतीति करादे, क्यों ? (ii) और दूसरा यह है कि एक ही बार में 'काशी' पद की लक्षणा शक्ति प्रयोजनांश से युक्त (लक्ष्य) अर्थ को विशिष्ट रूप में (पृथक् पृथक् नहीं) उपस्थित कर दे। उक्त रीति से प्रथम पक्ष के दोनों स्तर के अर्थों को पृथक् पृथक रखकर क्रम से लक्षणा का बोध्य बनाना चाहता है, जब कि अंतिम पक्ष दोनों को एक साथ जोड़कर विशिष्ट रूप में एक ही बार लक्षणा शक्ति से प्राप्त करा देना चाहता है। दोनों पक्षों में व्यंजनावादी दोष का उद्घाटन करता है।

प्रथम पक्ष का कहना है कि जिस प्रकार वाच्यार्थ के अनंतर वांछित अन्वयोपयोगी अर्थ लक्षणा से आता है, उसी प्रकार इसके बाद प्रयोजनांश को भी लक्षणा से ही प्रतीत होना चाहिए। पर देखना यह है कि जिस प्रकार अन्वयोपयोगी (काशीवासी) अर्थ की प्राप्ति के लिए लक्षणा जिन उपकरणों की अपेक्षा रखती है, वे सबके सब उपस्थित हैं ? क्या वही स्थिति प्रयोजनांश की में भी है ? कदापि नहीं। अन्वयोपयोगी (काशीवासी) अर्थ की उपलब्धि से पूर्व लक्षणा के तीनों उपकरण उपस्थित हैं—'काशी' पद का वाच्यार्थ अन्वयानुपयोगी है, अतः मुख्यार्थ (के अन्वय का) बाध है ही, मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ में आधाराधेय भव संबंध भी है और उपर्युक्त प्रयोजन तो निःसंदिग्ध है ही, इस प्रकार यहाँ तीनों उपकरण है। परंतु अन्वयोपयोगी काशीवासी अर्थ की उपलब्धि के अनंतर न तो (१) अन्वय की अनुपपत्ति ही है। (२) न 'काशीवासी' से प्रयोजनांश का कोई सहृदय संमत संबंध ही है और न 'काशीवासी' अर्थ की प्रयोजनांश के लिए स्वीकार की जाने वाली लक्षणा में कोई अवांतर प्रयोजन ही लक्षित होता है। दूसरे यह कि 'काशीवासी' स्वरूप यदि मुख्यार्थ होता तब उसका बाध मुख्यार्थबाध कहा जाता। 'काशीवासी' तो लक्ष्यार्थ है।

इसे हठात् मुख्यार्थ मान भी लें, तो भी उसका अनुपयोग नहीं है। सारांश यह कि प्रयोजनांश की प्राप्ति के लिए लक्षणा के उल्लासक तीन कारणों में से जब कोई भी कारण नहीं है, तो बलात् कैसे मान लिया जाय कि 'काशीवासी' अर्थ की लक्षणा शक्ति से ही प्रयोजनांश की उपलब्धि हुई है और अकारण यदि कोई बात मान ली जाय, तो सारी व्यवस्था शिथिल हो जाती है। अतः ऐसी बात जिससे एक व्यवस्थित पद्धति भी चली जाय और उसका कोई फल भी न हो, क्यों स्वीकार की जाय ?

द्वितीय तर्क है, 'प्रयोजनांश' से विशिष्ट 'अन्वयोपयोगी अर्थ में लक्षणा मान ली जाय। इससे एक 'व्यापार' कम करना पड़ेगा। पर यह पक्ष भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि 'काशीवासी' अर्थ लक्षणा का विषय है और 'आधिक्य' लक्षणा का फल। कुछ प्राचीन मीमांसक तथा मंमट आदि आलंकारिक लक्षणा को 'ज्ञान' स्वरूप मानते हैं। इस प्रकार यहाँ लक्षणा ज्ञान रूप है। और 'काशीवासी' उसका विषय। आधिक्य की प्रतीति उसका फल है। जिस प्रकार ज्ञान से ज्ञान का विषय भिन्न होता है उसी प्रकार ज्ञान से ज्ञान का फल भी। उदाहरण के लिए नैयायिकों की दृष्टि से प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय घट आदि [विषय] हैं और उस ज्ञान का फल है अनुव्यवसाय[1] मीमांसक इसी प्रत्यक्ष ज्ञान का फल 'संवित्ति'[2] को मानते हैं। इन स्थलों में भी ज्ञान से ज्ञान का फल भिन्न है और उनकी प्रतीति भी भिन्न भिन्न काल में होती है। जब इन विषयों तथा फल की प्रतीतियां भिन्न भिन्न काल में होती हैं तो निश्चय ही उनके कारण भी भिन्न भिन्न होने चाहिए। क्योंकि यदि दोनों प्रतीतियों का कारण एक ही माना जायगा तब उसके कार्य रूप दोनों प्रतीतियाँ भी साथ ही होने लगेंगी और इससे होगा यह कि अनुभव साक्षिक क्रम नहीं बन पायगा। फलतः 'विशिष्ट' में लक्षणा स्वीकार करने वाला पक्ष भी अयुक्तियुक्त ही है। 'तीर ज्ञान' एवं उसके फल 'शैत्यादि ज्ञान' में भेद स्थिर रखने के लिए दोनों को भिन्न-भिन्न शक्ति का कार्य मानना चाहिए।

सारांश यह कि प्रयोजनांश में शब्द (या अर्थ) का व्यंजना नामक व्यापार ही कार्य करेगा, लक्षणा किसी भी प्रकार उस कार्य में शक्त नहीं है।

१—'अनुव्यवसाय'—द्रष्टा के अंतःकरण में किसी विषय के ज्ञान अनंतर उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है। प्राथमिक ज्ञान का यह फल है।

२—'संवित्ति'—मीमांसक 'ज्ञान' का फल द्रष्टा में नहीं, दृश्य विषय में मानते हैं। इसे वे लोग 'प्रकटता' के नाम से भी पुकारते हैं।

इस अध्याय एवं पूर्व के अध्यायों में व्यंजना के जितने प्रकार चर्चित हुए है, एक तरफ यदि उन्हें रखें और दूसरी ओर अन्य शक्तियों को, तो इस दृष्टि से भी व्यंजनामात्र अभिधा एवं लक्षणा से कई माने में भिन्न ठहरती है। अभिधा एवं लक्षणा दोनों को अपना आश्रय बनाने के कारण व्यंजना इन दोनों से भिन्न होगी। दूसरी बात यह है कि अभिधा एवं लक्षणा सदैव शब्दाश्रित रहनेवाली शक्तियाँ हैं, व्यंजना तो केवल शब्दों में ही रहती हो सो नहीं, उससे आगे बढ़कर वह चेष्टा एवं राग आदि में भी रहती है। अतः इन दोनों की अपेक्षा व्यंजना एक व्यापक शक्ति है। इसका कार्य सहृदयों को निरंतर अनुभूत होता रहता है। इसी व्यंजना के बल पर विदग्धों की गोष्ठी में अविदग्धों की कलई खुल जाती है। अतः न तो व्यंजना का अपलाप किया जा सकता है और न अन्य शक्तियों में अंतर्भाव ही। व्यंजना एक स्वतंत्र शब्दशक्ति है—इस सिद्धांत में लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

यहाँ तक व्यंजना के तीनों रूपों—अभिधामूला शाब्दी व्यंजना, आर्थी व्यंजना तथा लक्षणामूला व्यंजना—का उपपत्तियों के साथ सांगोपांग विचार समाप्त हुआ।

सप्तम परिच्छेद

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र और व्यंजना

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग से कुछ पूर्व तक योरुपीय साहित्यशास्त्र का संबंध मुख्य रूप से परंपराग्रस्त एवं रूढ़ विषयों—जैसे, शब्दों का चुनाव, रीति रचना आदि से ही था। फलतः साहित्यशास्त्र के सूक्ष्म प्रश्न अछूते ही रह गए, व्यवहार में उनका अवतार कत्तई न हो सका। तात्पर्य यह कि उन दिनों साहित्य का बाह्य पक्ष ही लोगों की विवेचना का विषय बना रहा, अतः आंतर पक्ष अनुद्घाटित ही रहा। फिर भी आरंभिक वाद विवादों में कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनसे व्यंजना का संबंध स्थिर किया जा सकता है।

काव्य के आधार शब्द हैं। काव्य शब्दों का उपयोग इस तरह करता है कि उनकी सहायता से हमारे भाव और विचार हमारी कल्पना में इंद्रियोत्तेजक अनुभवों के रूप नाचने लगते हैं। रचना कौशल द्वारा काव्य भाषा को आंतरिक अनुभव के समशील होने के लिये विवश कर देता है। भाषा की यह शक्ति कविता में अधिक दृष्टिगोचर होती है।

कविता भाषा में आंतरिक अनुभव का प्रतिरूप देती है, और इस उद्देश्य को वह शब्दों के अर्थतत्व एवं संगीत तत्व के मेल से पूर्ण करती है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों का विचार है कि शब्दों के दो तरह के अर्थ होते हैं Grammatical (Logical) and Emotive (or Suggestive) सरल एवं प्रतीयमान। इन लोगों के विचार से किसी शब्द का सरल अर्थ वही है, जिसे हम अपने शब्द कोष में पाते हैं। भारतीय दृष्टि से ये अभिधेयार्थ हैं। कविता शब्दों का उनके सरल अर्थों में भी प्रयोग करती है, परंतु यह शब्दों के असरल मूल्यों पर अधिक एकाग्र होती है। शब्दों का असरल या काव्यात्मक मूल्य उनके अर्थ की असामान्य योग्यता के अतिरिक्त कोई दूसरी चीज नहीं है। यह असामान्य योग्यता विशिष्ट साहचर्यों में संदर्भ से व्यंजित होती है। शब्द को मूल्य देने में कवि उस शब्द को उसके सरल अर्थ से हटाकर उसे ऐसे अर्थ का व्यंजक करता है, जिससे

वह शब्द वैयक्तिक शक्ति और विशिष्ट ज्ञान पा जाता है। शब्दों के मूल्य का स्रोत है अनुभव। किसी शब्द का मूल्य जीवन के व्यापारों के संबंध में उसके प्रयोग से आता है। जीवन के कोई दो व्यापार एक से नहीं होते परन्तु उनको व्यक्त करने के लिये शब्द एक से हो सकते हैं। जीवन का कोई कार्य व्यापार अपने को नहीं दुहराता, पर भाषा अपने को दुहराती है। इसी कारण थोड़े थोड़े भिन्न कार्यों और व्यापारों के सम्बन्ध में प्रयुक्त होते होते शब्द अनेक विभिन्न अर्थों के सूचक हो जाते हैं। फिर, किसी शब्द से चिह्नित कोई कार्य दूसरे अनुभूत कार्यों से फँसा हुआ पुनः उपस्थित हो सकता है। इस प्रकार किसी शब्द की विभिन्न-व्यंजना एक ही कार्य से संबद्ध नहीं रहती, परंतु दूसरे अनुभवों से संबद्ध अवस्थाओं और परिस्थितियों तक बढ़ जाती है और धीरे धीरे उस शब्द में व्यंजकता की एक अद्भुत राशि इकट्ठी हो जाती है। ऐसे समृद्ध शब्दों में ही सौंदर्य की राशि पुंजीभूत रहती है। साहित्य सौंदर्य का उपासक है और वह इस कार्य में ऐसे शब्दों को ही माध्यम बनाता है।[1]

अरस्तू: व्यंजना

यों तो कवि को सभी शब्द प्रिय होते हैं, पर सुंदर शब्द अधिक प्रिय होते हैं। पुरातन आलोचक लाञ्जिनस ने कहा है कि सुंदर शब्द भावों और विचारों के प्रकाश हैं। कवि ऐसे ही सुंदर शब्दों के साथ रहता है। वह उनके सांसारिक एवं बाह्य गुणों से पूर्णतया परिचित होता है। कवि का जीवन आनंद ही शब्दमयी अभिव्यंजना है। ऐसे शब्द जो जीवन के विभिन्न कार्यों से संबद्ध होकर समृद्ध हो जाते हैं; पाठक को काव्यरस का आस्वाद कराते हैं। कवि कभी कभी शब्दों को उन्हें थोड़े से बदले हुए अर्थ में प्रयोग करता है और ऐसा करके उसे ऊपर उठा देता है। अरस्तू ने कवियों को यह संमति दी है—'तुम्हें अपने वाक्यांश को strange रूप देना चाहिए, क्योंकि शैली के संबंध में मनुष्य ऐसे ही प्रभावित होते हैं, जैसे वे दूसरे देशों के नागरिकों से प्रभावित होते हैं। प्रायः प्रयोगप्रवाह में अक्षुण्ण पद आकर्षक होते हैं। इसका कारण यह है कि वे अपरिचित होने के कारण विचित्र या

१—डा० लीलाधर गुप्त—पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत।

लोकोत्तर जान पड़ते हैं और लोकोत्तरता आनंद का स्रोत है[1]। आचार्य ने यहाँ स्पष्ट ही लोकोत्तर भाषा के प्रयोग का आग्रह किया है। यह लोकोत्तरता भारतीयों की 'वक्रता' ही है। इसी प्रकार अरस्तू ने एक जगह और भी कहा है कि अपरिचित शब्दों के प्रयोग से काव्यरीति विशिष्ट और रसमय हो जाती है[2]। 'व्यक्तिविवेक' में महिम भट्ट ने 'वक्रता' की जो परिभाषा दी है, जान पड़ता है वह अरस्तू के (that deviates from the ordinary modes of speech इस वाक्य का अनुवाद ही है। भट्ट जी ने वक्रोक्ति की परिभाषा देते हुए कहा है—[3]लोक और वेद के प्रसिद्ध शब्दबंध से पृथक् शब्द बंधगत वैचित्र्य ही वक्रता है। ऐसे वैचित्र्य से समन्वित उक्ति वक्रोक्ति है। अरस्तू ने अपने (पोइटिक्स, परि० २१) ग्रंथ में काव्य में प्रयुक्त होनेवाले संज्ञापदों के जो आठ भेद स्वीकार किए हैं, उनमें से प्रथम दो Ordinary word and strange word पूर्व चर्चित सरल एवं असरल या वक्रता विशिष्ट शब्द ही हैं।

भट्ट जी ने इस वक्रता की चीर-फाड़ करते हुए आगे सिद्ध किया है कि कुंतक की यह 'वक्रता' आनंदवर्द्धन की 'व्यक्ति' ही है, उससे भिन्न कोई तत्व

---

1. "They admire most what they know least. Hence it is proper to invest the language with a foreign air, as we all admire any thing which is out of the way, and there is certain pleasure in the object of wonder.'

The Rhetoric of Aristotle (Translated by D. E. C. Wildon), page. 329.

2. The diction becomes distinguished and non-prosaic by the use of unfamiliar terms, i. e. strange words, metaphors, lengthened forms and everything that devices from the ordinary modes of speech.

Poetics' see 22, page 75.

३—'शब्दार्थौ सहितौ' इत्यादिना शास्त्रादि प्रसिद्ध शब्दार्थोपनिबंधव्यतिरेकि यद्वैचित्र्यं तन्मात्रलक्षणं वक्रत्वं नाम काव्यस्य जीवितमिति,—व्यक्ति विवेक, प्रथम विमर्श, पृ० १२५,।

नहीं। कारण यह है कि यह वक्रता या विलक्षणता दो ही प्रकार की संभव है या तो वह काव्य की दृष्टि से शब्दार्थगत औचित्य है और नहीं तो प्रसिद्धार्थ अभिधेयार्थ या सरल अर्थ से हटाकर असरल या प्रतीयमान अर्थ की ओर शब्द को मोड़ देने से जो विलक्षणता उत्पन्न होती है, वह है। सिवा इन दोनों रूपों के वक्रता नाम[1] की वस्तु का और कोई अर्थ नहीं हो सकता। जहाँ तक औचित्य के अर्थ में 'वक्रता' के प्रयोग की बात है, वह इसलिये स्वीकार्य नहीं है कि उसकी इस रूप में कोई उपादेयता नहीं है। यदि वह नहीं भी कहा जाता, तो भी केवल काव्य की चर्चा मात्र से उसकी सत्ता साथ साथ लगी चली आती। क्योंकि औचित्य तो एक ऐसा तत्व है जिसके बिना काव्यत्व ही नहीं आ सकता। काव्यत्व के साथ उसका अन्वय व्यतिरेक है, अतः उसको काव्य में विशेषाधायक के रूप में कहना निरर्थक हो जाता है। बात यह है कि काव्य शब्द का व्यवहार वहीं हो सकता है जहाँ सरसता हो—जहाँ रस हो और वह रस वहीं हो सकता है जहाँ औचित्य हो, क्योंकि अनौचित्य रस भंजक होता है,[2] अतः औचित्य, रस, काव्यत्व सब एक दूसरे के बिना रह ही नहीं सकते, अतः ये सब तो काव्य के स्वरूप ही हुए, उसकी विशेषता नहीं। कुंतक ने 'वक्रता' को काव्य की विशेषता के रूप में कहा है, इसलिये वह औचित्य का पर्याय नहीं हो सकता, बल्कि उसे 'प्रतीयमानपरक ही समझना चाहिए अर्थात् इसे ध्वनि का ही प्रकारांतर से लक्षण समझना चाहिए। इस प्रकार यह वक्रता या विचित्रता व्यक्ति के संस्पर्श से आनेवाली वस्तु सिद्ध हुई। यही विचित्रता चमत्कार पैदा करती है। तभी तो रस गंगाधरकार का कहना है कि[3] प्रतीयमान से असंस्पृष्ट रहकर कोई भी अर्थ

१—'यतः प्रसिद्धोपनिबन्धनव्यतिरेकित्वमिदं शब्दार्थयोरौचित्यमात्रपर्यवसायि स्यात्, प्रसिद्धाभिधेयार्थं व्यतिरेकि प्रतीयमानाभिव्यक्तिपरं वा स्यात्। प्रसिद्ध प्रस्थानातिरेकिणः शब्दार्थोपनिनंधनवैचित्र्यस्य प्रकारांतरासंभावात्। तत्राद्यस्तावत् पक्षोऽत्र न शंकनीय एव। तस्य काव्यस्वरूपनिरूपणसामर्थ्यसिद्धस्य पृथगुपादान वैयर्थ्यात्। द्वितीय पक्षपरिग्रहे पुनर्ध्वनेरेव लक्षणमनयाभंग्याभिहितं भवति, अभिन्नत्वाद्वस्तुनः।'

व्य० वि०, प्र० वि० पृ० १२६।

२—'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्'। ध्वन्यालोक, तृ० उ०।

३—'न तादृशोऽस्ति कोऽपि वाच्यार्थो यो मनागनामृष्ट प्रतीयमान एव स्वतो रमणीयतामाधातुं प्रभवति।'

रसगंगाधर, प्रथमानन, छठां संस्करण, पृष्ठ २३।

चमत्कारावह नहीं हो सकता। अभिनव गुप्त ने भी इस वक्रता को लोकोत्तरता (प्रसिद्ध से पृथक्) ही कहा है[1]। व्यक्तिविवेककार ने इसे पुनः और स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि प्रसिद्ध मार्ग को छोड़कर जो अन्यथाभिधान है वही वक्रोक्ति[2] है। सारांश यह कि यह वक्रता-विलक्षणता व्यक्ति या व्यंजना से ही सिद्ध है। जिसने इसकी चर्चा की, उसने जाने, अनजाने व्यंजना की सत्ता मान ली। (डा० द्विवेदी का कथन है कि) अरिस्टाटिल वक्रता समन्वित शब्दों के प्रयोग की धारणा के कारण अर्थों के स्पष्ट प्रेषणीय गुण या संक्रमण वैशिष्ट्य से संतुष्ट नहीं था। परंतु उसका लक्ष्य यह था कि प्रयोक्ता पाठक को लोकोत्तर, सामासिक पदावली, रूपकात्मक या आलंकारिक प्रयोगों के माध्यम से प्रभावित करे।

अरस्तू ने एक तरह से और व्यंजना की सत्ता मानी है। उसने 'स्टाइल' के दो गुणों एवं चार दोषों की चर्चा की है। वे दो गुण हैं—परसीपीक्यूटी (Perspicuity) एवं प्रोप्राइटी (Propriety)[3]। प्रथम का संबंध भारतीय 'प्रसाद' गुण से जान पड़ता है, जो सर्वरस साधारण है तथा दूसरे का संबंध 'औचित्य' से। इस औचित्य की चर्चा भी व्यंग्यार्थ के सद्भाव का समर्थन करती है। 'औचित्य' देखकर ही कवि शब्दों का चयन करता है। कवि किसी अर्थ को व्यक्त करने से पहले उसके तमाम पर्यायों पर दृष्टि डालता है और उनमें से किसी एक को चुन लेता है—उसमें वह अन्य पर्यायों की अपेक्षा कुछ और देखता है, बस उसे अपना लेता है। यदि सभी शब्द अभिधेयार्थ मात्र को ही देने वाले होते, तो 'कुछ और' का प्रसंग ही समाप्त हो जाता है और फिर चयन की कहानी खतम। 'अतः' 'प्रसिद्धावयवातिरिक्त' कुछ और मानना पड़ेगा, जो शब्दों की शक्ति से झलकता है। ऐसी ही शक्ति को आचार्यों ने व्यंजना कहा है। यद्यपि कुछ लोग इस 'अर्थतत्व' (कुछ और) के अभाव में औचित्य का निर्णायक संगीततत्व (पदगत वर्णों के

१—'शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता, लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्। लोकोत्तरतैव चातिशयः।' (ध्वन्यालोक) लोचन।

२—प्रसिद्धं मार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये।
अन्यथैवोच्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्तिरुदाहृता ॥व्यक्ति०वि० पृ० १२६।

३ - Rehotoric, Book III Chapter II p.

मेल से उत्पन्न) को मान सकते हैं, पर इससे अर्थतत्व की असाधारणता का तिरोधान नहीं होता, उसे तो मानना ही पड़ेगा।

लाञ्जिनस सब्लीमिटी : व्यञ्जना

प्रसिद्ध पुरातन आलोचक लांजिनस का विचार है कि कविता उसी को कहते हैं जो[१] हर्षोन्माद पैदा करे। १२ वीं शताब्दी में अरिस्टाटिल के शासनों के प्रति जो क्रांति फ्रांस में हुई थी, उस समय जूबर्ट ने इसे पुनः दुहराया था। लांजिनस की दृष्टि में काव्य का सर्वस्व है (सब्लिमिटी) औदात्य ? प्रश्न यह है कि 'सब्लिमिटी' का आविर्भाव कब होता है। जो[२] वस्तु साधारण से विलक्षण होती है वह श्रोताओं के मस्तिष्क को अनुकूल तथा ऋजु ही नहीं बनाती, प्रत्युत उसे आह्लाद मग्न कर देती है। और उसी समय इसी प्रभाव से औदात्य का अनुभव होता है। लेखक की यह उक्ति ऊपर वाली 'प्रसिद्धातिरिक्त' विचित्रता या वक्रता से मेल खाती है। अतः वे ही सारी बातें व्यंजना की दृष्टि से यहाँ भी कही जा सकती हैं।

लांजिनस के मत से वही काव्य महत्वशाली है जो ऐसी वस्तुओं से परिपूर्ण हो जो नवीन एवं विचारोत्तेजक हों और अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाती हों। औदात्य का यही निरूप है कि वह प्रसाद एवं प्रभाव का वास्तविक उपस्थापक हो[३]। विचार करें, तो एक तरह से यह वक्तव्य रस तत्व का निर्देशक है।

१—पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत, लीलाधर गुप्त, प्र० सं० पृ० सं० १३३२।

2—For what is out of the common leads an audiance, not to persuasion, but to ecstasy or transport" "On the Sublime"

3—"That is really great, which gives much food for fresh reflection, which is hard, nay impossible to resist, or which the memory is strong and indelible. You may take it that there are beautiful and genuine effects of sublimity which pleases always and which pleases all." "On the Sublime"

यद्यपि अरस्तू ने भी उक्त विशिष्ट[1] सुख का उल्लेख अपने यहाँ किया था, पर इसके उत्थापक को काव्य का निकष नहीं कहा था। लांजिनस ने इस पर ध्यान दिया। उसने लिखा है कि साहित्य में औदात्य भाषा की उच्चता एवं वैशिष्ट्य है।[2]

साहित्य में अत्युदात्तत्त्व पांच स्रोतों से आता है।[3] पहला तत्व है महान विचारों के सोचने एवं ग्रहण करने की शक्ति, जो ऊँची प्रतिभा का फल है। लांजिनस ने जो यह कहा है कि कोई कवि इसी गुण (सब्लिमिटी) के कारण महान् हो जाते हैं, उसका पूरा मेल ध्वन्यालोककार की इस उक्ति से हो जाता है कि 'उस अनिर्वचनीय तत्व को प्रवाहित करती हुई महाकवि की वाणी अलोक सामान्य प्रतिभाविशेष के परिस्फुरण को व्यक्त करती है, जिससे इस अति-विचित्र कवि परंपरावाही संसार में कालिदास प्रभृति केवल दो तीन या पाँच छह लोग ही महाकवि गिने जाते हैं।'[4] दूसरा तत्व है प्रबल एवं द्रुततर मनोवेग, जिसकी क्षमता भी प्रकृतिदत्त ही होती है। तीसरा तत्व है शब्दार्थालंकार का युक्तियुक्त प्रयोग। ध्वन्यालोककार की दृष्टि से इसे हम ध्वनि काव्य का 'अपृथग्यत्न निर्वर्त्य[5] अलंकार' कह सकते हैं। चौथा तत्व है पद रचना—वाक्यशैली। पाँचवाँ तत्व है चमत्कारक प्रणयन। इन सब गुणों से युक्त औदात्य की पहचान यह है कि इसका आस्वाद होने पर सहृदय की आत्मा सत्वोद्रेक से आनन्दमय हो उठती है। यह विवेचन रस निरूपण परक भट्टनायक के रस-प्रभाव का अविकल अनुवाद जान पड़ता है। उसने भी 'भोग'[6] का स्वरूप यही माना है।

१—देखिए पृ० ——— पं० ——— ।

२—"A Treatise concering sublimity."

३—On the Sublime

४—'सरस्वती स्वादुतदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्। अलोक सामान्यमभि व्यनक्ति परिस्फुरंतप्रतिभाविशेषम् '———ध्वन्या० पृ० ६१' येनातिविचित्रेऽस्मिन् कविपरम्परा वाहिनि संसारे द्वित्राः पंचषा वामहाकवयो दृश्यंते' लोचन।

५—ध्वन्यालोक, पृ० ६२

६—'सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसाविद्विश्रान्ति सतत्वेन भोगेन'—
काव्य प्रकाश, च० उ०, पृ० ९० ।

डा० रामावध द्विवेदी का विचार है कि लाञ्जिनस (Longinus) sublimity को शैली का वह उत्कर्ष अथवा पराकाष्ठा मानता है, जिससे लोकोत्तर आह्लाद की अनुभूति होती है। इस साध्य की प्राप्ति विशेष प्रकार के शब्द-प्रयोगों और उसके द्वारा परिगणित कुछ ललित तत्वों के योग से होती है और अंतिम विश्लेषण में वह उतना ही अव्याख्येय है, जितनी व्यंजना अनाख्येय वादियों के द्वारा स्वीकृत है।

इस पक्ष में तो व्यंजना का सर्वोत्तम साध्य 'रस' तत्व ही चर्चित है और उसका परिचायक भाषा का (सब्लिमिटी) औदात्य, भव्यता, सरसता आदि कही गई है। इस पक्ष में व्यंजना की सिद्धि किसी भी एक स्रोत को लेकर सिद्ध की जा सकती है। उदाहरणार्थ—पाँचवा तत्व ही ले लें—चमत्कारक प्रणयन, तो इसे पूर्व[1] चर्चित रसगंगाधरकार की उक्ति के आधार पर व्यंजना से भले मजे में जोड़ सकते हैं।

दाँते और व्यंजना

इसके अनंतर दाँते की स्थिति आती है। दांते ने अपनी पुस्तक में विचार किया है कि कवि को किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करना चाहिए? पहले शिक्षित लोगों लिये Grammatica (Latin) ही भाषा बनी रही, जिसमें लोग अपने को व्यक्त करते रहे, किंतु जब दांते के समक्ष भाषा का प्रश्न उठा, तो उसने बताया कि काव्य के लिये कोई Vulgar Tongue ही होनी चाहिए, हाँ इतना अवश्य है कि वह कुछ विशेषताओं के साथ हो। इसीलिये उसने अपनी अभिमत भाषा में 'Illustrious' विशेषण जोड़ा, जो उक्त अंतर का साधक है। उसको कभी अभिप्रेत नहीं था, कि उक्त भाषा सामान्य जनता की भाषा हो। उसने तो स्पष्ट कहा है कि ग्राम्य भाषा का परित्याग करना चाहिए। उसका सिद्धांत था कि काव्य एवं उसकी समुचित भाषा बहुत ही दुरूह एवं क्लिष्ट हो—'poetry and language proper for it are in elaboration with painful toil वह ऐसी होनी चाहिए, जिसे सभी प्रांतों के आगत साहित्यिक समझ सकें।

किसी दृष्टि से भाषा की दो विधाएँ पहले से भी थीं—Grammar and Vernacular or Vulgar पहली पाठशाला में सिखाई जाती थी और दूसरी का ज्ञान धाई से होता था। पर दांटे ने उन बर्बरों की भाषा को

१—De———Vulgari Eliquio

Vulgar tongue कहा था, जो तीसरी से छठीं शती तक योरुप को आतंकित किए हुए थे। उस समय योरुप भर की भाषा को चार भागों में विभक्त किया गया था—(a) Tutonic, (b) Serbionion group (c) Tutonic Tartar (d) Romance. डांटे को इन सब में 'Romance' ही पसन्द थी। इसकी उत्पत्ति या इसमें सौष्ठव का आघात उन बर्बरों की भाषा के सम्मिश्रण से उनके आने पर हुआ। इसका भी सबसे उत्तम अंश वह था, जो इटली में फ्लोरेंश के आस पास बोला जाता था। कोई भी Vulgar tongue निम्नलिखित चार गुणों के आ जाने से Illustrious हो जाती है, वे चार गुण निम्नलिखित हैं—(d) Cardinale लोच (a) Illusture कांति (b) Aulicum वकालत की भाषा का गुण (c) Curiale दरबारीपन।

इन गुणों में 'कांति' हमारा व्यंग्यार्थ ही है अर्थात् 'कांति' का आगमन व्यंजना के ही फलस्वरूप होता है। ध्वन्यालोककार ने—

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीसु महाकवीनाम्
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु'

इस कारिका में स्पष्ट ही प्रतीयमान को लावण्य के समान कहा है।

आगे उसने अपनी आदर्श भाषा की व्याख्या करते हुए कहा है कि Illustrious Vernacular के शब्द grandeur अर्थात् भव्य होने चाहिए। स्पष्ट ही उक्त विवेचन[1] के आधार पर इस भव्यता का संबंध शब्दगत व्यंजकत्व से है। ध्वन्यालोक की व्याख्या करते हुए एक जगह लोचनकार[2] ने बड़े श्रम से सिद्ध किया है कि 'भव्यता या सौंदर्य और व्यंजकत्व' अन्योन्य संबद्ध हैं। व्यंजकत्व के बिना सौंदर्य आ ही नहीं सकता।

१—देखिए, पृष्ठ

२—'शब्दविशेषाणामन्यत्रचान्यत्रचचारुत्वं यद्विभागेन दर्शितं तदपि तेषां व्यंजकत्वेनैवव्यवस्थितमित्यवगन्तव्यम्।
यत्रापि तत्सम्प्रतिनप्रतिभासते तत्रापि व्यंजके रचनान्तरे यद्दृष्टं सौष्ठवं तेषां प्रवाह पतितानां तदेवाभ्यासादद्धृतानामप्यवभासत इत्यवसातव्यम्।
कोऽन्यथा तुल्ये वाचकत्वे शब्दानां चारुत्वविषयो विशेषः स्यात्।'
—ध्व० तृ० उ० ३५६ पृ०

भारतीय सौंदर्य (इस तत्व) रसमयता ही है—इतना तो निर्विवाद ही है। पश्चिमी लोग रसमयता को असुन्दर नहीं कहेंगे। आलोककार भव्यता एवं व्यंजकत्व को मिलाते हुए कहते हैं—'शब्दविशेष[1] में' जो चारुता प्रतीत होती है, वह शब्द की व्यंजकता के ही कारण है। व्यंजकता एवं चारुता—दोनों का साहचर्य नियत है। यद्यपि व्यंजकत्व शब्द का धर्म है और चारुता (चारु—सुंदर—) रस का, अतः दोनों के आधार भिन्न हैं, तथापि परंपरया चारु के व्यंजक होने के कारण उन शब्दों को भी चारु कहते हुए हम बार बार लोक में सुनते हैं और उसी लौकिक व्यवहार की वासना से वासित होकर यहाँ चारुता को शब्द में भी देखते हैं। निश्चित है कि इन रसमय स्थलों में अर्थ सामर्थ्य से आक्षिप्त रस के व्यंजक होने के कारण ही वे शब्द चारु कहे गए हैं। कोई कह सकता है कि कुछ शब्द ऐसे हैं जो नीरस स्थल में भी प्रयुक्त होकर चारु प्रतीत होते हैं, उदाहरणार्थ शुद्ध प्रकृतिवर्णन परक कोई काव्य है, वहाँ कोई रस—निष्पादन इष्ट नहीं है और उस प्रसंग में भी प्रयुक्त शीतकिरण, चंदन, मलयानिल शब्द परम चारु जान पड़ते हैं, अथवा इन स्थलों में यदि आप किसी तरह रस-निष्पत्ति का सम्बन्ध जोड़ भी लें, तो भी जब हम इन शब्दों का एकदम बिना किसी रसमय प्रसंग के पृथक् पृथक् उच्चारण करते हैं, तब जो इनमें चारुता की प्रतीति होती है, वह व्यंजकत्व समनियत कहाँ है—वहाँ व्यंजकत्व कहाँ है ? कहने का तात्पर्य यह कि व्यंजकता रसपरक वाक्य में प्रयुक्त पद की एक शक्ति है, प्रसंगहीन पृथक् स्थित पद की नहीं। कारण यह है कि व्यंजकत्व व्यंग्यसापेक्ष एक शब्द है। व्यंग्य रसादि हैं और वे किसी न किसी वाच्यार्थ के सामर्थ्य से ही आ सकते हैं, वाच्यार्थ वाक्य से आ सकेगा और इस प्रकार उस स्थल में व्यंग्य की सत्ता रहने से परंपरया वाक्यगत भिन्न भिन्न पदों को हम व्यंजक कह सकते हैं। वाक्य से पृथक् पद में व्यंजकता इसलिए नहीं रह सकती, कि वहाँ व्यंग्य की संभावना नहीं। सारांश यह कि व्यंजकता और चारुत्व का साहचर्य परस्पर नियत नहीं है, अतः भव्यता व्यंजकत्व के साधक के रूप में जो ऊपर चर्चित है, वह ठीक नहीं है। इसका उत्तर देते हुए आलोककार ने कहा है कि ऐसे प्रसंग गर्भ शब्दों में हमें जो चारुता प्रतीत

१—'यत्रतु सा चारुव्यंग्यप्रतीतिहेतुस्तदपि व्यंजकत्वानुप्रवेशेनैव वाचकत्ववत्'

—ध्व० तृ० उ० ४३४ पृ०

होती है वह भी व्यंजकत्व के ही कारण है और वह यों है—इन उक्त शब्दों को रसमय प्रसंगों में शतशः सुनते सुनते इन शब्दों के प्रति उसी रस व्यंजक संस्कार की वासना ग्राहक में दृढ़ रहती है और जब जब हम इन शब्दों को सुनते हैं, तब तब वही रस व्यंजक संस्कार उभड़ पड़ता है, और उसी व्यंजकता के कारण यहाँ अर्थात् रस-निरपेक्ष स्थल में भी चारुता की प्रतीति होती है, अतः सिद्ध हुआ कि चारुता और व्यंजकता दोनों का साहचर्य नियत है। कुछ लोगों का इस पर भी विचार है कि भव्यता या चारुता बाह्य नहीं है, अर्थात् शब्द एवं अर्थ में नहीं है, यह ग्राहक के हृदय की विशेषता है, जिसके कारण सौंदर्य की प्रतीति होती है, कुछ शब्द की विशेषता नहीं है। अतः भव्यता का संबंध सहृदयता से है, शब्द द्वारा वैशिष्ट्य या व्यंजकत्व से नहीं। आलोककार इसका भी समाधान करते हुए कहते हैं—'यह सहृदयता है क्या[1]? वही न, जो (काव्यगत) चारुता का ग्रहण करा सके। प्रश्न यह है कि वह 'चारुता' क्या है? वह कोई पारिभाषिक पदार्थ है—अर्थात् कुछ सहृदयम्मन्य व्यक्तियों के हृदय की काल्पनिक उपज है अथवा सर्व संवेद्य रसात्मकता है। जहाँ तक प्रथम पक्ष की बात है, वह ठीक नहीं क्योंकि इस प्रकार चारुता रसमयता से भिन्न यदि कुछ व्यक्तिगत कल्पना का प्रसव है, तो उसका स्वरूप भिन्न भिन्न व्यक्तियों की भिन्न भिन्न कल्पना अनियत या अनियंत्रित मानसिक शक्ति के कारण भिन्न भिन्न ही होगी, वह चारुता एक रूप से सबको गृहीत नहीं हो सकती, अतः वह चारुता व्यक्तिगत कल्पना प्रसूत तो नहीं है, किंतु उसका रूप नियत है। इस रसात्मक चारुता के समर्पण का सामर्थ्य ही शब्दों का 'विशेष' है, जो उन शब्दों को सामान्यवाचक शब्दों से पृथक् कोटि में स्थान दिलाता है। यही शब्दों का विशेष 'व्यंजकत्व' है। इस प्रकार सिद्ध

१—"अन्य एवासौ सहृदय संवेद्य इति चेत्, किमिदं सहृदयत्वं नाम? किं रसभावानपेक्ष काव्याश्रित समयविशेषाभिज्ञत्वम्, उत रसादिमय काव्यस्वरूपपरिज्ञाननैपुण्यम्। पूर्वस्मिन् पक्षे तथाविध सहृदयव्यवस्थापितानां शब्दाविशेषाणां चारुत्वनियमो न स्यात्। पुनः समयान्तरेणान्यत्रापिव्यवस्थापनसंभवात्। द्वितीयास्मिंस्तु पक्षे रसज्ञतैव सहृदयत्वम्। तथाविधैः सहृदयैः संवेद्यो रसादि समर्पण सामर्थ्यमेव नैसर्गिकं शब्दानां विशेषः इति व्यंजकत्वाश्रय्येव तेषां मुख्यं चारुत्वम्"

ध्व० तृ० पृ० ३५६।

हुआ कि दान्ते ने 'भव्यता' की सत्ता स्वीकार करते हुए 'व्यंजना' की सत्ता को छूने का पूर्ण प्रयत्न किया है।

इसी प्रकार पश्चिमी साहित्य में, लगभग १७, १८ वीं शताब्दी के, फ्रांस में भाषागत एक आंदोलन हुआ और इसके फलस्वरूप भाषा में कुछ निखार हुआ। इस नव-प्रसूत वाग्वैदग्ध्य को वहां wit की संज्ञा दी गई। विट् ('wit') को 'Refinement of speech in manner 'कहा है। इसको स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह भी बताया है कि 'वह वाच्यार्थ के अप्रत्याशित एवं अंतर्निहित निगूढ़ आकूतों के प्रकाशन से संबद्ध है।' स्पष्ट है कि ये अंतर्निहित निगूढ़ आकूतों का प्रकाशन व्यंजना की ही करामात हैं।

यद्यपि 'विट' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है, किंतु प्रत्येक अर्थ में यह एक विशिष्ट प्रकार की चारुता से संबद्ध है। सामान्यतः इसका जो अर्थ ऊपर दिया गया है, उस अर्थ में 'विट' शब्द का प्रयोग १७ वीं से १८ वीं शती तक होता रहा है। A man of wit से यह आशा की जाती थी कि उसके व्यवहार वार्तालाप अथवा साधारणतया कह सकते हैं कि आत्म-प्रकाश में सुरुचि और वैशिष्ट्य परिलक्षित होगा। 'विट' के उक्त सामान्य अर्थ के अतिरिक्त उसका विशेष संबंध वाणी अथवा वार्तालाप के परिष्कार से था। इस परिष्कार के द्वारा चमत्कार तथा प्रभावोत्पादन की क्षमता की सृष्टि होती थी। अनेक दार्शनिकों तथा लेखकों ने अपने ढंग से विट के स्वरूप और स्वभाव पर प्रकाश डाला है। हाब्स ने फैंसी और जजमेंट के मध्य में 'विट' की स्थिति मानी है। फैंसी अथवा इमेजिनेशन ये दोनों शब्द हाब्स के लिए पर्यायवाची हैं। फैंसी संश्लेषणात्मक है। इनके मत में इमैजिनेशन फैंसी से भिन्न नहीं है, यह तो ऊपर कहा ही जा चुका है। जजमेंट का आधार है—तर्क और विश्लेषण। 'विट' दोनों ही के बीच है और इसमें संश्लेषण तथा विश्लेषण दोनों ही प्रक्रियाओं का समावेश रहता है। इस प्रकार 'विट' अपना प्रभाव उत्पन्न करता है। लाक ने 'विट' के स्वरूप का विशद विवेचन किया है। उसका कथन है कि विभिन्न तत्वों को एकत्र करके उनकी नियोजना इस प्रकार की जाय कि उनके पारस्परिक साम्य अथवा विरोध का आभास चमत्कार पूर्ण रीति से मिल सके। और श्रोता के मन में प्रसन्नता तथा कौतूहल का संचार हो सके। लाक के इस विवेचन की मान्यता बहुत दिनों तक बनी

रही और १८ वीं शताब्दी के प्रायः सभी विचारकों ने 'विट' की व्याख्या इसी दृष्टि से की। किंतु ध्यान देने की बात यह है कि यद्यपि सभी विचारक इस बात में एक मत हैं कि विट से एक विशेष प्रकार के सौंदर्य और प्रभाव की सृष्टि होती है तथापि किसी ने भी इस प्रभाव का स्पष्ट वर्णन नहीं किया है। केवल इस बात का संकेत दिया है कि यह अत्यंत चमत्कारपूर्ण और एक प्रकार के वैशिष्ट्य से समन्वित है। पोप ने अपने Essay on Criticism में 'विट' शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है और कतिपय विद्वानों का मत है कि उस काव्य में विट शब्द की व्याख्या छः या सात विभिन्न अर्थों में की जा सकती है, तब भी पोप का यह निम्नलिखित प्रसिद्ध वाक्य[1] विचारणीय है—

"True wit is nature to advantage dressed. What oft was thought but never so well expressed."

कवि का अभिप्राय यह है कि जब साधारण विचार एक ऐसे अद्वितीय एवं अनुपम ढंग से व्यक्त होते हैं कि उनमें चारुता स्फुरित होने लगे, तब उसमें विट का प्रकाशन मानना चाहिए।

इस दृष्टि से देखने पर विट और व्यंजना में आंशिक साम्य अवश्य दिखाई पड़ता है उक्त विवेचन में 'चारुता' ही विट की सत्ता का उत्पादक कही गयी है। अभिनव ने ध्वनि के अभाववादियों के प्रथम विकल्प को स्पष्ट करते हुए कहा है—[2] 'अथ शब्दार्थयोश्चारुत्वं स ध्वनिः। तथापि द्विविधं चारुत्वम्—स्वरूप मात्र निष्ठं, संघटनाश्रितं च। तत्र शब्दानां स्वरूप मात्र कृतं चारुत्वं शब्दालंकारेभ्यः, संघटनाश्रितं तु शब्दगुणेभ्यः एवमर्थानां चारुत्वं स्वरूपमात्र-निष्ठंमुपमादिभ्यः। संघटनापर्यवसितं तु अर्थगुणेभ्य इति न गुणालंकारेभ्यो व्यतिरिक्तं ध्वनिः' अर्थात् हमारे यहाँ चारुता दो प्रकार की कही गई है—शब्द एवं अर्थ के स्वरूप मात्र में रहने वाली और संघटना में रहनेवाली। शब्द के स्वरूप मात्र से होने वाली चारुता का संबंध शब्दालंकारों से तथा संघटनाश्रित चारुता का संबंध वामनसम्मत शब्दगुणों से है। इसी प्रकार अर्थ के स्वरूप मात्र में होने वाली चारुता का संबंध अर्थालंकारों से और संघटना में पर्यवसित होने वाले चमत्कार का वामनसम्मत अर्थ गुणों से हैं। सारांश

१—Essay on Criticism. Page 70

२—ध्व० आ०, लोचन, पृ० १६।

यह कि यहाँ अलंकार एवं गुण ही चारुता के आधायक माने गए। तात्पर्य यह कि इन्हीं चारुताधायक तत्वों की योजना में तत्पर अंतःकरण का एक विशेष प्रकार का व्यापार (विट) है।

अब प्रश्न यह है कि ऐसी स्थिति में व्यंजना से 'विट' का संबंध क्या है ? यदि 'विट' की साध्य चारुता अपने परिवेश में 'रमणीयता' का भी अंतर्भाव कर सके तो यह[1] 'रमणीयता' प्रतीयमान या व्यंग्य के संस्पर्श को सिद्ध कर सकती है और इस प्रकार किसी तरह इस प्रसंग में व्यंजना की चर्चा हो सकती है।

इसी प्रकार व्यंजक के समानांतर एक प्रयोग और पश्चिम में चलता है, जिसे Irony की समाख्या दी गई है। (Irony) आयरनी की परिभाषा निम्नलिखित है—As a form of destructive criticism that enforces an immediate judgement upon something by placing it without comment in a position to which it should not aspire"—अर्थात् यह एक निरासात्मक आलोचना प्रकार है, जिसमें आलोच्य को अज्ञात और अप्रत्याशित स्थिति में रखकर उसके प्रति कुछ निर्णय किया जाता हो – कुछ कहा जाता हो। वस्तुतः शुरू शुरू में रंगमंच से ही इस तत्व का विकास हुआ। अभिनेता की चेष्टाओं का अर्थ पीछे से एक पात्र इंगित करता रहता था—बताता जाता था। इस प्रकार यही संकेत धीरे धीरे 'आयरनी' के रूप में परिवर्तित हो गया। यह कोई आवश्यक नहीं है कि यह आलोचना सदा खंडनात्मक ही हो। शत्रुता या प्रतिद्वंद्विता प्रदर्शन का यह एक आवश्यक साधन नहीं है। यदि तटस्थ ढंग से इसका प्रयोग किया जाय तो यह औदार्य समन्वित भी हो सकती है। कोई आवश्यक नहीं है कि आयरनी का प्रयोग केवल सामाजिक नासमझियों को ही लक्ष्य कर किया जाय। मनुष्य के वैयक्तिक जीवन में बहुत सी (Amiable weeknesses) मधुरदुर्बलतायें और हास्यास्पद गलतियाँ हुआ करती हैं, जिसको लक्ष्य करके भी एक शिष्ट (Gentle) प्रसादपूर्ण व्यंग्य का

१—F. Mac. D, C. Turner, 'Irony in Pride and Prejudice'
नामक लेखक विनोद नारायण सिनहा। अप्रकाशित लेख से।

(Playful Irony) का उपहासात्मक ढंग से प्रयोग किया जा सकता है।[1] ब्रिटेनिकाकार ने भी इस तत्व पर ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ विचार प्रस्तुत किये हैं, जिसका सारांश यह है—'व्यंग्य वाणी का एक अर्थ है जिसके लियेप्रयुक्त शब्दों से वास्तविक अर्थ निगूढ़ अथवा विरोधी रूप में निकलता रहता है। इसका प्रयोग विशेषतः उपहास अथवा जुगुप्सा के लिये होता है।

इसके लिये प्रयुक्त ग्रीक शब्द का अर्थ एक प्रकार का दुराव (Dissimulation) होता था। इसका उदाहरणविशेष सुकरात के व्याज-अज्ञात में पाया जाता है जिसे उसने अपने विवादात्मक विधि (Diaectio Method) के लिये अपनाया था। सुकरात का व्यंग्य, पात्र के द्वारा ऐसे शब्दों के उपयोग कराने का ढंग था, जिसका अर्थ उसके लिये कुछ दूसरा हो, तथा वास्तविक स्थिति जाननेवालों के लिये अन्य हो।'

यह 'Irony' कई प्रकार की होती है, Dramattic Irony, Verbal irony आदि। यहाँ हमें Verbal Irony से प्रयोजन है। जैन आस्टन का लिखा एक उपन्यास है 'Emma' उससे एक उदाहरण लीजिए—

1—"Irony—a form of speech in which the real meaning is concealed or contradicted by the words used. It is Particularly employed for the purpose of mockery or contempt.

The greek word was used for an understatement in the nature of dissimulation, It is especially examplified in the assumed,ignorance which Socrate adopted as a method of dialectio, the 'socratic Irony' is the device for making a character use words which mean one thing to him and another to those acquainted with the real issue.

Encyclopeadia, Britanica, Volume 12 (1947) p. 643.

"He made no answer, nearly looked and bowed submission, and soon after said, in a lovely tone "well, I have so little confidence in my own judgement, that whenever I marry, I hope somebody will choose my wife for me, will you (turning to Emma) will you choose a wife for me I am sure I should like anybody fixed on by you. You provide for the family, you know, (with a smile at his father). Find somebody for me, I am in no hurry.'" (p. 339-340)

'उसने कोई उत्तर नहीं दिया, आसपास दृष्टिपात किया, नम्रता से झुका और फिर शीघ्र अत्यंत मधुर स्वर में कहा—'अस्तु मुझे अपने निर्णय पर इतना कम भरोसा है कि जब कभी मैं विवाह करूँ, आशा है कि कोई न कोई मेरे लिये एक पत्नी चुन देगा। (एमा की ओर मुड़कर) क्या आप ऐसा कर देंगी क्या आप मेरे लिये एक पत्नी चुन देंगी? मुझे इतना ज्ञान है कि जिस किसी को आप चुन देंगी, उसको मैं पसंद करूँगा। (अपने पिता की ओर मुस्कराकर) आप तो मेरे परिवार के लिये देती हैं, इसे भी आप जानती ही होंगी। किसी को मेरे लिये खोजिये। मुझे कोई शीघ्रता नहीं पड़ी है। (जेन आस्टेन–एमा–पृ० ३३९-३४०।)

स्थिति यह है कि कुछ शिष्ट व्यक्तियों का एक दल घूमने गया था। इसमें फ्रेंक चर्चिल एक नवयुवक है, जो उस समाज का प्राण है और एकाएक सुंदरी एवं शिष्ट युवती, जो फ्रेंक की ओर आकर्षित है, एवं तथोक्त उपन्यास की नायिका है। उन्हीं लोगों के साथ जेन फेयर फैक्स है, जो शिष्ट एवं सुंदरी लड़की है। उससे फ्रेंक चर्चिल का विवाह बहुत पूर्व से ही निश्चित हो चुका था, जिसे उन दोनों के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता था। उन दोनों के बीच अब कुछ कटुता एवं संदेह के अंकुर उग रहे थे। फ्रेंक चर्चिल के पिता और माता श्री वेस्टन तथा श्रीमती वेस्टन भी साथ ही थे। इन दोनों का विवाह एमा ने ही कराया था। उपर्युक्त सभी व्यक्ति इस वाक्य से संबंधित हैं। शेष व्यक्ति रहे जार्ज नाइटली, मिस बैट्स और मि० तथा मिसेज एल्टन। फ्रेंक चर्चिल एक ओर तो कह रहा है—कि उसे अपने निर्णय में विशेषतः विवाह-संबंध-विश्वास नहीं है,

और दूसरी ओर उसने बिना किसी से बताये हुए जेन फेयरफैक्स से विवाह तय कर लिया था। अतः यह अन्य लोगों को भ्रम में डालने के लिए हुआ। इस प्रकार के व्यंग्य को नाटकीय व्यंग्य (ड्रामेटिक आइरोनी) कहते हैं। फिर उसके इस वाक्य का भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न भिन्न अर्थ लगाते हैं। एमा समझती है कि फ्रैंक चर्चिल उसके मित्र हेरिट स्मिथ की ओर आकर्षित है और उससे विवाह करना चाहता है। इसी से वह उसे ही अपनी पत्नी चुनने को कहता है जेन फेयरफैक्स समझती है कि फ्रैंक उसके प्रेम के प्रति सच्चा नहीं है और इसीलिए दूसरी जगह अपना विवाह ठीक करना चाहता है। फ्रैंक के माँ बाप तथा अन्य व्यक्ति सोचते हैं कि फ्रैंक अपनी माँ पर ही हास्य करता हुआ, एमा को अपने प्रेम की सूचना दे रहा है। वह उसी से विवाह करना चाहता है। इधर फ्रैंक के मन में विनोदार्थ एक हास्यप्रद वस्तु के अतिरिक्त कोई बात नहीं है। अतः यह एक ही वाक्य विभिन्न अर्थ विभिन्न प्रसंगों से दे रहा है। यही व्यंग्य का वास्तविक स्वरूप है।

कल्पना व्यापार भी व्यंजना के व्यापार से तुलना के लिए सामने रखा जा सकता है। कल्पना के समान व्यंजना भी पदार्थ का प्रतिरूप मात्र नहीं उपस्थापित करती, प्रत्युत उसे एक नवीन आभा से दीप्त कर देती है।

'कल्पना' तत्व के संबंध में पश्चिमी साहित्यशास्त्र बड़ा मुखर है, वह बहुत दिनों से बहुत कुछ इस सम्बन्ध में कहता चला आ रहा है। अस्तु डा०[1] नगेन्द्र ने एक जगह लिखा है—'कल्पना का कार्य है मूर्तिविधान या चित्र-विधान। कवि अपने मन की इन मूर्तियों या चित्रों को पाठक के मन तक प्रेषित करने के लिए निसर्गतः चित्र भाषा का ही प्रयोग करना है। चित्र भाषा का कलेवर सांकेतिक और प्रतीकात्मक शब्दों से बनता है और ये दोनों व्यंजना की बिभूतियाँ हैं।'

डा० साहब के उक्त विचार के अतिरिक्त भी हमें यह विचार करना चाहिए कि कल्पना आखिर व्यंजना को कहाँ तक छूती है? इस प्रश्न का समाधान दोनों के 'स्वरूप' को स्पष्ट करके ही किया जा सकता है। 'कल्पना' के स्वरूप पर पश्चिम में 'साहित्य के सभी युगों ने कुछ न कुछ सोचा विचारा है, पर

१—ध्वन्यालोक, (हिंदी टीका का संस्करण) १६५२ वाला चौखंभा का संस्करण। पृ० ४८

प्रतिष्ठित मत उसी युग ने किया, जिसने 'कालरिज' को जन्म दिया। 'कालरिज' ने कल्पना की परिभाषा देते हुए कहा है—'वह[1] मार्मिक एवं समन्वय-कर्त्री शक्ति, जिसको हम लोगों ने पूर्णतः एवं उचित नाम कल्पना दिया है, अपने को परस्पर विरोधी एवं असंतुलित गुणों में संतुलन एवं संभावना के रूप में प्रगट करती है......' कालरिज की इन पंक्तियों का बड़ा व्याख्यान हुआ है, तरह तरह के अभिप्राय लगाए गए हैं। प्रसंग उस विवेचन की अपेक्षा नहीं करता है। आइ० ए० रिचार्डस कालरिज का बड़ा भारी पोषक है। उसने भी पुस्तक में (Principle of literary criticism) में कल्पना के छः अर्थ दिए हैं। जो आलोचनात्मक वाद-विवाद में प्रचलित हैं। उसमें भी छठा और अंतिम अर्थ कालरिज संमत ही रखा है। कल्पना एक मानस-वृत्ति है, जो राग-प्रेरित होकर संचित संस्कारों का उपयोग करती हुई एक ऐंद्रजालिक रूपावरण खड़ा कर देती है, एक ऐसी नई सृष्टि का जन्म देती है, जहाँ भौतिक विरोध और असंतुलन अपनी सत्ता खोए—खोए से पड़े रहते हैं।[2] ध्वन्यालोककार ने भी कवि की वाणी को इंद्रजाल ही कहा है, क्योंकि वह अपनी महिमा से कुछ का कुछ दिखाती है। यह Magical power ही तो है। भारतीय दृष्टि से विचार करने पर ऐंद्रजालिक सृष्टि के निर्माण में कविप्रजापति की अंतःकरण की चारों वृत्तियों का उपयोग होता है। क्योंकि इस सृष्टि में संस्कारों का जागरण, चुनाव के लिए संकल्प-विकल्प, एवं निर्णय का क्रम चलता है और तब एक विशिष्ट (व्यक्तिगत अहं वृत्ति के अनुरूप) आकार काल्पनिक सृष्टि को मिलता है। स्पष्ट है कि संस्कारों के जागरण में हृदय की अनुसंधानात्मिका[3] चित्त वृत्ति जागरूक रहती है, अनुसंधित संस्कारों में से किसे छोड़े और किसे ग्रहण करें—यह मन[4] की संकल्प-विकल्पात्मिका शक्ति है जिस पर निश्चयात्मिका बुद्धि हावी है,

---

१—Theat synthetic and magical power to which we have exclusively appropriated the name imagination, reveals itself in the balance or reconciliation of opposite or dicardent qualities.

२—Literaria Bigraphia, Second Edition P. 12.

३—अनुसंधानात्मकम् चित्तम्।

४—संकल्पविकल्पकात्मकं मनः।

उसी का निर्णय अंतिम निर्णय है। डा० रामअवध द्विवेदी के विचार से इस निर्णीत सामग्री की रागोत्तेजक रूप में योजना करने वाली शक्ति ही कल्पना है।

यह कल्पना शक्ति कर्ता और भावक दोनों में काम करती है, आचार्य शुक्ल के अनुसार कर्ता अपनी कल्पना का उपयोग विभाव-योजना में सर्वाधिक करता है और भावक उन शब्दाचित्रों द्वारा अर्थों के भावन में। भावक की यह शब्दार्थ-भावना भी कल्पना ही है। इस शक्ति के बल से चित्रों का जितना ही स्पष्ट और उज्ज्वल रूप अंतः पट पर उभड़ेगा, रागों को उत्तेजना उसी मात्रा में मिलेगी। कदाचित् इसी 'भावना' का अर्थ रसगंगाधरकार ने 'भावना च पुनः पुनरन्वुसंधानात्मा' कहा है। बारबार काव्यानुसंधान भावना का कार्य है। इस प्रकार भावक या ग्राहक के पक्ष से भावना और कल्पना समान ही हैं। भावना शब्द साहित्य शास्त्र में दो अर्थों में आया है। (क) भट्टनायक ने 'भावना' को शब्द की एक शक्ति बताई है, जो अभिधानीत 'विशेष' को 'साधारणीकृत' के रूप में अनुभव कराती हैं और अभिनवगुप्त ने स्पष्ट ही इस 'भावना' और 'भोग' को 'व्यंजना' में ही समेट लिया हैं। इस प्रकार कल्पना-भावना-व्यंजना एक हो जाती हैं। परंतु एक बात स्मरणीय है कि यद्यपि भावना भी पदार्थ को इस रूप में उपस्थित करती है, कि वह पदार्थ किसी की भी चित्तवृत्ति को उत्तेजित कर दे, रसदशा जगा दे और कल्पना भी यही करती है; पर एक ज्वलंत अंतर फिर भी दोनों में वर्तमान है। 'भावना' के लिए यह नियंत्रण है कि वह पदार्थ को 'साधारणीकृत' रूप में ही उपस्थित करे, पर 'कल्पना' एक सर्वथा स्वतंत्र शक्ति है, जो पदार्थ को किसी भी रूप में उपस्थापित कर सकती है, वह 'भावना' की भाँति नियंत्रित नहीं है। यद्यपि कुछ लोग इस अंतर को मिटाने का प्रयास करते हुए 'साधारणीकरण' शब्द के अर्थ पर यह विचार प्रस्तुत करते हैं कि 'साधारणीकरण' का अर्थ यह नहीं है कि जो पदार्थ अपनी अभिधेया वस्था में पहले असाधारण (शकुंतला-व्यक्तिविशेष की कालविशेष में रहने वाली पत्नी) रूप से प्रतीत होता था, वह सर्वसाधारण का प्रतीत होने लग गया, क्योंकि इस प्रकार की प्रतीति तो 'वेश्या' के ही संबंध में हो सकती है अर्थात् शृंगार का सर्वसाधारण विभाव 'वेश्या' ही है, इसीलिए उसे 'सामान्या' कहते भी हैं नायिका भेद की दृष्टि से, सो इस प्रकार 'साधारणीकरण' का अधिधेयार्थ नहीं लेना चाहिए, और न उसके बल पर 'कल्पना' तथा 'भावना' का अंतर

ही करना चाहिए। वस्तुतः 'साधारणीकरण' का तत्पर्यार्थ इतना ही लेना चाहिए कि अभिधानता पदार्थ का वह संस्कार साधारणीकरण या भावना है, जिसके कारण पदार्थ में सर्वसाधारण के प्रति रागोद्रेचकता उत्पन्न हो सके। चाहे वह जिस किसी प्रकार हो, इस पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं। इस प्रकार 'भावना' और 'कल्पना' दोनों का स्वभाव अनियंत्रित हो गया और फिर दोनों एक ही हो गए। कदाचित् इन्हीं सब कारणों से शुक्ल जी ने 'भावना या कल्पना कहा है। इसी द्वैध में पड़कर प्रकाशकार ने 'साधारणीकरण' की कुछ ऐसी व्याख्या की है, जैसे वे उसकी व्याख्या ही नहीं कर सकते हों, उसे अनिर्वचीय कहना चाहते हों। (२) भावना शब्द का अन्यत्र प्रयोग रस गंगाधर में है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। यह अर्थ भी तात्पर्यतः उक्त अर्थ के मेल ही में है।

तो क्या, यह मान लिया जाय कि कल्पना-भावना-व्यंजना पर्याय ही हैं? अनर्थान्तर ही हैं? कुछ लोगों का विचार यह कि 'कल्पना' मानस व्यापार है व्यंजना (कम से कम प्रस्तुत स्थल में) एक शब्द व्यापार, अर्थात् एक शब्द में रहता है और दूसरा मन में, फिर दोनों की एक रूपता किस प्रकार हो सकती है? और विचारणीय है यहाँ इन्हीं दोनों की एक रूपता अर्थात् क्या काव्य में व्यंजना और कल्पना भावक के पक्ष से एक ही पदार्थ है? विचार करने पर यह भेदक तत्व भी निस्सार जान पड़ता है, क्योंकि 'व्यक्ति' या 'व्यंजना' तो शब्द व्यापार, पर वह आन्तरिक भी है, तभी तो रस रूप आन्तरिक 'विभावादिसंवलित स्थायी भाव' और 'आत्मा का आनन्दांश' जो पहले अंधकाराच्छन्न घट की भाँति अज्ञात से आवृत्त रहता है, प्रकाशित हो पाता है। रसगंगाधरकार ने कहा है—'यथा' हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्नि वृत्तो संनिहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादीन्'—जिस प्रकार शराव से आच्छादित दीप शराव के हटा देने पर सन्निहित पदार्थों को प्रकाशित करता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है उसी प्रकार अज्ञानाच्छादित चिदंश भी प्रकाश्य-विषयक आत्मावरण के भंग हो जाने पर सन्निहित रत्यादि स्थायी भाव को प्रकाशित करता है। साथ ही वह योगाचार बौद्ध दार्शनिकों की भाँति अपने आप को अर्थात् 'आनन्दांश' को भी प्रकाशित करता है तब इसकी निष्पत्ति-प्रतीति होती है। यहाँ पर 'व्यक्ति' का अर्थ 'भग्नावरणाचित्' ही किया गया है। क्या यह 'चित्' शब्द का व्यापार है? नहीं यह भी कल्पना के समान

आंतरिक पदार्थ है। अतः दोनों कल्पना और व्यंजना एक ही हैं। पर यह पक्ष भी निर्दोष नहीं है, यहाँ तो कल्पना और व्यंजना आंतरिक होते हुए भी परस्पर सर्वथा भिन्न हैं, क्योंकि कल्पना हृदय वा अंतःकरण का एक व्यापार है और 'व्यक्ति' स्वयं चित् ही है, अतः दोनों का साम्य कैसा ?

कुछ लोगों का विचार है कि व्यंजना को कोई एक निश्चित रूप नहीं है, वह न जाने कितने रूपों में अपने को प्रकाशित करती है, अतः विचारणीय यह कि क्या किसी रूप में व्यंजना कल्पना के समकक्ष ठहरती है या नहीं ? कोई एक ऐसा स्थान चुनिए, जहाँ भावना, कल्पना और व्यंजना तीनों की सत्ता हो, और तीनों एक ही कार्य करती हों, यदि इस प्रकार का कोई स्थल मिल जाय, तो कहीं तो एक रूपता बन जाय। हाँ, स्थल है—एक वाक्य है 'सरोवर में इन्दीवर झूम रहा है'—इस वाक्य में प्रयुक्त इन्दीवर शब्द के दो प्रकार के अर्थों का उपस्थापन प्रातिभचक्षु के समक्ष हो सकता है एक तो सामान्य रूप में और दूसरे विशेष या प्रत्यक्षायमाण रूप में। किसी भी वस्तु के ये दो रूप होते हैं, प्रथम रूप परोक्षज्ञान और द्वितीय प्रत्यक्षज्ञान का विषय है। परोक्ष-ज्ञान के विषयों की असाधारण विशेषताएँ व्यक्तिगत विशेषताएँ बनावट, वर्ण, निर्माण संस्थान तिरोहित रहती हैं, पर प्रत्यक्ष ज्ञान में ये सभी धर्म समक्ष रहते हैं। इस प्रकार पदार्थ के दो रूप स्पष्ट हैं-सामान्य और विशेष। आचार्य शुक्ल के शब्दों में कहें, तो प्रथम प्रकार से 'अर्थग्रहण' अभिप्रेत है और द्वितीय से 'बिम्बग्रहण'। यद्यपि शब्दों से जो ज्ञान होगा, वह परोक्ष ही होगा, तथापि ग्राहक के वैशिष्ट्य से शब्द कभी कभी अपना प्रत्यक्षायमाण रूप आँखों के समक्ष झलका देते हैं। ऐसे ही स्थलों में जो चमत्कार होता है, उसका कारण 'स्वाभावोक्ति' अलंकार को माना गया है। व्यक्तिविवेककार[१] ने इसका बहुत ही अच्छा विचार किया है।

प्रश्न यह है कि ऐसे शब्दों से जो जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा रूप अर्थ ग्रहण होते हैं, वे तो अभिधा शक्ति के विषय भले ही हों, परन्तु 'बिम्बार्थ' यदि शब्द का अर्थ है, तो उसे शब्द की किस शक्ति से लाया जाय ? इसे भी अभिधा-निवेदित कहा जाय, यह किसी प्रकार युक्ति-सह नहीं है। कारण यह है कि यदि इस बिम्बार्थ को अभिधेयार्थ की कोटि में रखा जायगा, तो इस अर्थ की प्रतीति शब्द की शक्ति से सहृदय-असहृदय मात्र को अन्य सामान्य अभिधेयार्थ की भाँति अवश्य होनी ही चाहिए, पर ऐसा अनुभव सिद्ध नहीं।

१—व्यक्तिविवेक, द्वि० वि० पृ० ३६० ।

इस बिम्बार्थ की प्रतीति कराने के लिए शब्द कुछ और सहकारी कारणों की अपेक्षा करता है, वह सहकारी कारण क्या है ? यह है ग्राहक का संस्कार, जो कमल के अनुभव से संचित है, यदि वह उभड़ गया तो इसी प्रत्यक्षायमाण या बिम्बरूप से कमल की प्रतीति होगी, अन्यथा संभव नहीं। यहाँ ग्राहक की कल्पना शक्ति ही इस चित्र को उपस्थापित करती है, भावक की भावना का ही यह भावित रूप है यदि बिम्बार्थ कवि का विवक्षित नहीं है, तो ध्वनिवादी की दृष्टि से वह व्यंजना द्वारा ही गृहीत है। 'विवक्षित नहीं है' से तात्पर्य यह है कि यदि वह अवाच्यार्थ बिम्बार्थ विवक्षित होता, तब तो मुख्यार्थबाधित हो जाता और यह बिम्बार्थ लक्षणा शक्ति का ही फल होता। व्यंग्य अर्थ वही होता है, जो अभिधा से न प्रतीत हो, पर हो निर्बाध प्रतीत। प्रस्तुत स्थल का बिम्बार्थ ऐसा ही है कवि सामान्य रूप में अर्थ ग्रहण कराना चाहता है, पर ग्राहक को अपने व्यक्तिगत संस्कार के कारण विम्बार्थ की उपस्थिति होती है। प्रश्न हो सकता है कि शुक्ल जी के अनुसार काव्य जगत् के पद तो व्यक्ति की ही प्रतीति कराने वाले होने चाहिए। काव्य का सम्बन्ध सामान्य से होता ही नहीं, पदार्थ का सामान्य ज्ञान तो शास्त्रों में अपेक्षित है। उत्तर दिया जा सकता है कि 'व्यक्ति' का अर्थ क्या ? यही न, कि वह व्यक्ति हो—असाधारण धर्मों से विशिष्ट हो, पर क्या काव्य में असाधारण रूप से पदार्थ की प्रतीति होती है ? शायद नहीं, प्रत्युत साधारण रूप से ही प्रतीति होती है—और एक ओर उसे साधारणीकृत बनाएँ और दूसरी ओर 'व्यक्ति' कहें—यह कहाँ तक संभव है ? शुक्ल जी ने भी 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद'[1] में इस प्रश्न को उठाया है और उत्तर दिया है कि साधारणीकरण 'आलम्बनत्व धर्म' का होता है, व्यक्ति का नहीं अर्थात् व्यक्ति अपने असाधारण रूप ही में रहे अर्थात् असाधारण विशेषताओं से भरा रहे, फिर भी उसमें जो विशेषताएँ प्रतीत हों, वे साधारण हों—कितना विरोध है ? वह व्यक्ति भी हो और उसमें साधारण धर्म भी हो—यह 'व्यक्ति' में संभव नहीं, यह 'टाइप' में 'जाति' में सम्भव है—साधारण में सम्भव है ? सारांश यह कि व्यक्ति कभी कहीं भी, चाहे वह शास्त्र हो या काव्य, वाच्य नहीं हो सकता।

अस्तु। कहना यह है कि यह एक ऐसा स्थल है जहाँ कल्पना, भावना और व्यंजना एक दूसरे से एक रूप हो रही हैं। कहीं कहीं, इसी प्रकार,

---

१—चिन्तामणि, प्रथम भाग।

विधायक कल्पना, प्रतिभा और व्यंजना भी एक हो जाती हैं प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आचार्यों ने 'शिवा' को 'प्रतिभा' कहा है। यह प्रतिभा जैसे निरालम्ब विश्व का उन्मीलन रखती है, वैसे ही यह वि + अंजन भी। अतः पंडित महादेव शास्त्री जी ने एक बार इन दोनों को एक ही बताया था।

इतना साम्य इन उक्त तत्वों का होने पर भी, यह ध्यान में रखने की बात है कि ये सर्वथा पर्याय नहीं हैं। कहीं किसी विन्दु पर इनका मिलान हो जाता है।

डा॰ द्विवेदी का विचार है कि इधर हाल में साहित्य एवं साहित्यालोचन के क्षेत्र में बहुत ही अधिक सफल खोजें हुई हैं और कुछ सिद्धान्त सामने आये हैं, जो हमारी व्यंजना पर विशेष प्रभाव डालते हैं। इनमें से कुछ ये हैं।

इन सिद्धान्तों में हार्ट्‌ले एवं कालरिज द्वारा सर्वप्रथम प्रतिवादित एसोशियेशन (संसर्ग) का सिद्धान्त है, जिसकी चर्चा आज साहित्यिक वाद-विवादों में आए क्षण हो रही है।

साहचर्य का सिद्धान्त यह है कि चेतना का (कन्टेन्ट) सारभूततत्व सामान्य आणविकतत्वों में विश्लेषित किया जा सकता है और साहचर्य के सिद्धान्त से इन तत्वों की मस्तिष्क में स्थित क्रम एवं संबंधों की व्याख्या की जा सकती है। जेम्स मिल ने अपने 'एनल्सिस आफ दि फेनामना आफ ह्यूमन माइण्ड' के तृतीत अध्याय में बताया है कि वह विचार समष्टि जो शतशः अनुभवगोचर हो चुकी है, परस्पर मिल कर एक (बांड) इकरार स्थिर कर लेती है जिसके फलस्वरूप मस्तिष्क में जब एक क्रिया या विचार आता है, तो उससे संबंध रखने वाले अन्य विचार भी क्रम से व्यक्त होने लगते हैं।

जहाँ तक काव्य का संबंध है, वहाँ 'तक सुंदर' या सुंदर विचारों की ही व्यक्ति उपादेथ है। साहचर्यवादियों ने इसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है कि क्यों कोई वस्तु हमें प्रिय लगती है ? क्यों हम कुछ ही को सुंदर कहते हैं और कुछ को नहीं ?। उनका कहना है कि किसी वस्तु का सौंदर्य विषयीगत एक खास तरह की अनुभूति है, जिसे तथोक्त वस्तु के गुण मनोरंजक अथवा इच्छातर्पक गुणों के साथ साहचर्य रखने के कारण जगाते हैं।

यह साहचर्य का सिद्धांत कर्ता की प्रतिभा में परस्पर संबद्ध नव-नव भावों एवं विचारों को जगाने में तो सहायक है ही, ग्राहक के मस्तिष्क में भी वाच्यार्थ से संबद्ध नव-नव विचारों, के जो वाच्यार्थ से अतिरिक्त हैं, ग्रहण में सहायक का कार्य करता है। व्यंजना भी तो ग्राहक के पक्ष से यही करती है।

संक्रमण सिद्धांत और व्यंजना-

व्यंजना से ही कुछ कुछ संबंद्ध रखने वाला टालस्टाय का भी कला-सिद्धांत है। मनीषी टालस्टाय की प्रसिद्ध पुस्तक 'कला क्या है'? (सन् १८९७-९८ ई० में लिखी गई है।) उनका मत है कि कला की सफलता मनुष्य तथा ईश्वर एवं मनुष्य मात्र के पारस्परिक संबंध को दृढ़ बनाना है। अतः कला धर्म तथा नैतिकता की आधारशिला पर स्थित है। धर्म और सदाचार को टालस्टाय ने अधिक महत्व देते हुए कलागत अन्याय मूल्यों की पूर्ण अवहेलना की है। पर इन्होंने धर्म तथा मैलिकता के शाश्वत एवं सामान्य अंशों पर ही जोर दिया है।

इनके कला सिद्धांत के दूसरे पक्ष का संबंध रचना तथा उसके माध्यम से है। कला की परिभाषा का उल्लेख करते हुए टालस्टाय ने लिखा है कि किसी व्यक्ति में, उसकी अनुभूति या भावना की जागर्ति होनी तथा उस जागृत भावना को गति, रेखा, रंग, ध्वनि या शब्दों के माध्यम से दूसरों तक इस प्रकार प्रेषित करना कि वे भी ठीक उसी प्रकार की भावना का अनुभव कर सकें-कला है। यही क्रिया-शीलता है। इसी रूप में कला एक मानव व्यापार है। कोई व्यक्ति भावातिरेक के कारण निश्चित वाह्य संकेतों द्वारा अपनी भावनाओं को, जिसमें वह विलास करता है, दूसरों तक पहुँचाता है, जिससे दूसरे व्यक्ति में भी उन भावनाओं का संक्रमण होता है एवं फलतः वे भी उसी प्रकार की अनुभूति करने लगते हैं। संक्षेप में टालस्टाय की परिभाषा का उल्लेख यों किया जा सकता है—'कला रागों या मनोभावों की संक्रामक प्रेषणीयता है'—इस परिभाषा में तीन प्रमुख विचारणीय विषय हैं—(१) कला प्रेषणीयता है (२) प्रेषणीयता संक्रामक है, (३) प्रेषणीयता का संबंध रागों या मनोभावों से है। संक्रामक, प्रेषणीयता तथा राग या मनोभाव-ये तीन ही कला की परिभाषा के केंद्र बिंदु हैं। प्रथम अंश पर मिल की आपत्ति है कि कला प्रकाशन मात्र है, प्रेषण नहीं, पर डा० द्विवेदी का कहना है कि कला प्रकाशन है, पर प्रेषण के लिए। इसी प्रेषणीयता पर जोर देने के कारण विरन (Veran) से इनका मतभेद भी है। यद्यपि दोनों

मानते हैं कि कला मनोभावनाओं एवं संवेदनाओं की भाषा है, पर एक प्रकाशन मात्र मानता है और दूसरा प्रेषणीय। कला एवं व्याख्यान या वार्तालाप में यही अंतर है कि वार्तालाप एवं व्याख्यान में वक्ता अपने विचारों को भेजता है। जब कि कलाकार अपने रागों, मनोभावों एवं संवेदनाओं को भेजता है। टालस्टाय कला की यह शर्त मानते हैं कि उसे दूसरे को प्रभावित करना ही चाहिए, 'प्रकाशन' पक्ष में यह शर्त नहीं है। संक्रमण पर जो टालस्टाय ने इतना बल दिया है, उससे यह स्पष्ट है कि उन्हें 'प्रेषणीयता' कितनी मान्य है! टालस्टाय के अनुसार संक्रमण की क्षमता ही कलाकी श्रेष्ठता का मापदंड है और इस संबंध में उन्होंने तीन तत्व निर्धारित किए हैं, जिन पर यह आधारित करते हैं—(१) प्रेषक भावों की मौलिकता (२) प्रेषण की स्पष्टता (३) स्वयं कलाकार के मनोभावों की सचाई। रिचर्ड्स ने 'भावना' का संशोधन किया है अर्थात् जहाँ भावनाओं का प्रकाशन कहा जाता है, वहाँ उसने 'अनुभवों' का प्रकाशन कहना अधिक अच्छा समझा है, क्योंकि कला जीवन के संचित की अभिव्यक्ति है। संशोधित परिभाषा होगी 'कला मानव अनुभव का प्रेषण है।'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कला भाषा द्वारा एक हृदय के अनुभव को हृदयांतरित कर देती है और यह कार्य होता है 'भाषा' के माध्यम से। भाषा में ही कला साकार होती है। कला अपना लक्ष्य अर्थात् भाव प्रेषण भाषा की शक्ति से ही संपन्न करती है। विचारों के संबंध में चाहे विवाद हो, पर जहाँ तक भावों के प्रेषण का प्रश्न है वह भाषा की वाच्यार्थ प्रदायक शक्ति से कभी संभव नहीं है। भाव या राग व्यंग्य हैं वाच्य नहीं और इस व्यंग्य का भाव की प्रतीति ग्राहक, भाषा की संक्रामक शक्ति अर्थात् अतिरिक्त अर्थदान की शक्ति से ही करता है। स्पष्ट है कि यह अतिरिक्त अर्थदान की शक्ति 'व्यंजना' ही है।

प्रतीकवाद और व्यंजना—

प्रतीकवाद मनुष्यजाति की लम्बी यात्रा में बहुत दिनों से उसकी मूल भाषा रहा है। प्रारंभ से ही यह माना गया है कि ठोस एवं दृश्य जगत् के पर्दे में एक आध्यात्मिक जगत् है, जो अपेक्षाकृत उससे भी महत्त्वपूर्ण है। आध्यात्मिक जगत् की सूक्ष्म तथा असीम एवं मूल्यवान् अनुभूतियाँ, जो व्यावहारिक भाषा में व्यक्त नहीं की जा सकतीं, प्रतीकों के द्वारा व्यक्त की जा सकती हैं। क्योंकि प्रतीकों में (पावर आफ सजेशन) व्यंजन की शक्ति

सामान्य शब्दों की अपेक्षा अधिक होती हैं। यही कारण है कि विश्व के विभिन्न देशों के धार्मिक ग्रंथों में (सिंबल्स) प्रतीकों को विशेष महत्व दिया गया है। क्रिश्चियन धार्मिक साहित्य जल, अग्नि, लिली (डौभ) कबूतर आदि प्रतीकों से भरा पड़ा है। त्रेत की भावना (ईश्वर, पुत्र, कपोत), लिली (पवित्रता) का प्रतीक आदि न जाने कितने प्रतीक क्रिश्चियन उपदेश में आरब्ध हुए थे और आज भी ग्रीक तथा रोमन चर्चों में प्रयुक्त होते हैं। सभी युगों में कवियों ने अपने तीव्र संवेगों के व्यक्तीकरण के लिये प्रतीकों का उपयोग किया है। उदाहरणार्थ ब्लेक ने अपने मिस्टिक विजन को व्यक्त करने के लिये इसका प्रयोग किया था।

'कुछ प्रतीकवादियों का कहना है कि प्रतीकवाद का उदय यथार्थवाद एवं प्रकृतिवाद के विरोध में हुआ। उसने हीगल तथा शापेन हावर का जीवन दर्शन ग्रहण किया और रहस्यवृत्ति तथा अस्पष्टता को एक आवश्यक गुण माना। कुछ प्रतीकवादियों के अनुसार ऐसे सभी भाव जो हमारे हृदय में उठते हैं, प्रत्येक भाव जो पाँचों इन्द्रियों के माध्यम से हमें मिलते हैं और प्रत्येक क्षण जो कि हमारी मानस चेतना को एक विशिष्ट तरंग में झंकृत कर जाते हैं, एक दूसरे से सहकर भी इतने विलग, अछूते, गतिशील तथा अग्राह्य होते हैं कि न तो हमारी अभिव्यक्ति उन्हें पकड़ पाती है और न स्मरण शक्ति ही उन्हें सहेज कर रख पाती है। प्रत्येक कलाकार इन अनुभवों को अपनी दृष्टि से देखता है और अपनी रुझान के अनुरूप अभिव्यक्ति में रंग-प्रकाश की योजना करता है। व्यक्ति वैचित्र्य के साथ, अनुभूतियों, संवेदनाओं एवं अनुभवों में अंतर है और इसीलिये अभिव्यक्ति कौशल कोटियों में भी एक सामान्य भाषा इतनी विभिन्नताओं का भाव कैसे वहन कर सकती है? अतः स्वभावतया प्रत्येक कवि को अपने विशिष्ट अनुभवों की अभिव्यंजना के लिए नवीन मार्गों का अनुसंधान, नये शैलीशिल्प की अवतारणा, नये बिंबों की योजना और नये प्रतीकों का विधान करना पड़ा है, फिर भी अनुभूत विषय अग्राह्य, अनुपम एवं अनाख्येय रह ही जाते हैं और तब उनका प्रतीकों द्वारा संकेत ही किया जा सकता है, अभिधान नहीं किया जा सकता। और शब्दों द्वारा कारयित्री प्रतिभा से दिए गए संकेत (भावार्थ) भी प्रतिभा से व्यंजना द्वारा ही गृहीत हो सकते हैं। अतः प्रतीकवाद की चर्चा करते हुए व्यंजना कैसे छोड़ी जा सकती है।'[1]

---

१ - राजनारायण विसारिया, 'आलोचना' व अं० 'आलोचनांक'।

डा० रिचर्ड्स का 'अर्थ सिद्धांत[1]' –

१९३० से रिचार्ड्स ने नवीन समीक्षा प्रणाली का सूत्रपात किया। रिचार्ड्स ने अध्यात्म का पल्ला छोड़कर मनोविज्ञान के ही सहारे सब कुछ समझना चाहा है। स्नायुमंडल की क्रियाओं के अध्ययन से जो निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं रिचार्डस उनसे बहुत प्रभावित हुआ है। रिचार्डस का मत है कि मनुष्य के विचारों एवं भावनाओं में प्रारंभ ही से प्रकाशन अथवा प्रेषणीयता की संभावना निहित रहती है। युगों से मनुष्य सोचता और अनुभव इसीलिए करता है कि वह दूसरों से उसे व्यक्त कर सके। इस प्रेषणीयता का वास्तविक अर्थ है दूसरों के मन में समान अवस्था उत्पन्न करना। इस मत में व्यंजना से संबद्ध वे सारी बातें कही जा सकती हैं जो ऊपर टालस्टाय से संबद्ध करके कही गई है।

अर्थ पर विचार करते हुए उसके प्रकाशक भाषा के संबंध में उनका कहना है कि भाषा ऐसे प्रतीकों का एक समूह है जो श्रोता अथवा पाठक के मन में ऐसी अवस्था उत्पन्न करते हैं जो वक्ता के मन की अवस्था के ही अनुरूप है। इस प्रकार भाषा का प्रतीकत्व वक्ता, श्रोता के बीच अखंड मानसिक-व्यापार का माध्यम है। प्रतीकों में तथ्यों की सूचना के साथ साथ वक्ता की मानसिक प्रवृत्तियों का भी संकलन मिलता है। भाषा के प्रभाव के अनेक स्तर हैं। पहला प्रभाव है नाद का। इसके बाद है शब्दों के पहचानने की अवस्था। इन शब्दों से अत्यंत सरल विचारों तथा साधारण तथ्यों का ही बोध कराया जाता है। विचार एवं जीवन के अनुभव उत्तरोत्तर जटिल होते जाते हैं अतः इनके प्रकाशनार्थ जटिल प्रतीकों की अपेक्षा होती है, अतः व्यक्ति वाचक संज्ञाओं तथा वर्णनात्मक वाक्यों से काम लिया जाता है। अभिप्राय समझने में व्याकरण सहायक होता है, पर उससे भी अधिक सहारा मनोविज्ञान की जानकारी से मिलता है, क्योंकि मन में उत्पन्न तथा विलीन होने वालों विचारों के परस्पर संबंध भाषा में निरंतर व्यक्त होते रहते हैं। जब हम शब्दों के प्रतीकत्व के संबंध में विचार करते हैं, तब यह पता चलता है कि प्रत्येक प्रतीक में तथ्यों की सूचना साथ ही साथ भाव चेष्टायें, संकेत

१—डा० रामअवध द्विवेदी 'आलोचनांक' 'आलोचना' व० अ० 'आई० ए० रिचार्डस के समीक्षा सिद्धांत' शीर्षक लेख।

अभिप्राय इत्यादि संचित रहते हैं। प्रतीकत्व की महत्ता इन्हीं सब विशेषताओं के लक्षित कराने में है। शब्दों का यह कार्य अन्य शब्दों के साहचर्य से ही सफल एवं सुचारु रूप से संपन्न होता है।

जहाँ तक उक्त धारणा एवं व्यंजना का संबंध है, स्पष्ट है कि प्रतीकों की सफलता निर्बाध रूप से प्रतीत होने वाले जिन भावों और संकेतों पर निर्भर है, वे व्यंजना शक्ति से ही प्राप्त किए जाते हैं। इसका प्रायोगिक पक्ष उत्तरार्द्ध में स्पष्ट है अर्थात् वहाँ प्रयोग द्वारा व्यंजना का कार्य क्या है ? यह स्पष्ट किया गया है। स्पष्ट है कि प्रतीकों से साध्यवसाना लक्षणा द्वारा अन्वय योग्य अर्थ की प्राप्ति की जाती है और साध्यवसाना लक्षणा प्रयोजनवती है अर्थात् साध्यवसाना लक्षण किसी न किसी प्रयोजन से की जाती है और यह प्रयोजन व्यंजना द्वारा प्राप्त किया जाता है।

डा० साहब का विचार यह भी है कि भाषा जीवन में सामान्य रूप से संवहन का कार्य करती है। अर्थ ग्रहण द्वारा ही हम प्रभावित होते हैं अतः अर्थ से क्या अभिप्राय है ?—यह प्रश्न प्रमुख रूप से सामने आता है। मोटे ढंग से रिचार्डस ने चार[1] प्रकार के अर्थों का निर्देश किया है—

सेंस (१) Sense—वस्तुस्थिति के परिचायक अर्थ

फीलिंग (२) Feeling—भाव अर्थात् विषय के प्रति लेखक अथवा वक्ता की चेष्टा

टोन (३) Tone—ध्वनि अर्थात् श्रोता अथवा पाठक के प्रति लेखक की चेष्टा।

इंटेंसन (४) Intention—लेखक अथवा वक्ता का अभिप्राय।

इन चारों के मेल से ही भाषा का संपूर्ण अर्थ व्यक्त होता है। किसी एक ही तत्व या अर्थ को लेकर चलने से भ्रम संभव है। प्रयोजन के अनुसार किसी विशेष पक्ष पर जोर हो सकता है। उदाहरणार्थ, एक मनोवैज्ञानिक का सबसे अधिक आग्रह यथातथ्य के उल्लेख अर्थात् नं० १ पर होगा। वह नं० दो को अलग रखने का प्रयत्न करेगा। नं० ३ के संबंध में वह अपने विचार ज्ञाताओं के विचारार्थ प्रेषित करेगा और उसका अभिप्राय होगा तथ्य का निरूपण। इसी प्रकार जनता को प्रभावित करने की इच्छा से वशीभूत वक्ता

१—Practical Criticism Page 181, 182,

नं० २ एवं नं० ३ को अधिक महत्व देगा, यद्यपि वह नं० १ को भुला नहीं सकता। साहित्य में नं० २ एवं नं० ३ को अधिक महत्व दिया जाता है, यद्यपि इस विषय में कोई कड़ा नियम नहीं बनाया जा सकता।

उत्तम काव्य में उक्त चार प्रकार के अर्थों का विवेकपूर्ण समन्वय अथवा संगठन मिलता है। इन लोगों ने सत्रहवीं शताब्दी के अध्यात्मवादी कवियों की प्रशंसा इसीलिये की है कि उनके काव्य में बुद्धि, भाव एवं ध्वनि आदि की पूरी व्यवस्था मिलती है। अलंकारों एवं रूपकों की सार्थकता विशेषतः इन्हीं के एकीकरण में है। रूपकों में भाव, सूचना, संकेत इत्यादि घनीभूत होकर विद्यमान रहते हैं। और इस भाँति वहाँ अर्थ के कई स्तर मिलते हैं, जिनको हम काव्य की अस्पष्टताएँ (एंम्बीग्विटीज) कहते हैं। कोरे बौद्धिक संबंध तो तर्कगम्य होते हैं, पर जब एक ही बिंदु पर उक्त अर्थ निहित होते हैं, तो बड़ी अड़चन होती है। वहाँ ये शब्द प्रतीकों के रूप में शीघ्रलिपि या संकेत-लिपि का कार्य करते हैं। इनके अनुयायी (इम्पसन) आदि अब इसी दोष को गुण कहने लगे हैं। ऐम्पसन[1] ने तो इस (Ambiguity) के सात प्रकार बनाए हैं। इन्होंने Ambiguity शब्द के अर्थ में विस्तार किया है। उसके अनुसार भाषा की कोई भी परिणति, जो गद्य के सामान्य कथन में सूक्ष्म व्यंजन (Nuance-subtle suggestion) देता है, वह Ambiguity की ही कोटि में आता है। यह तत्व दोषाधायक भी हो सकता है, पर वहाँ जहाँ यह किसी अन्य विवक्षित अर्थ की प्रतीति में व्यवधान या विरोध उत्पन्न करता हो। किंतु जहाँ यह स्वयं विवक्षित है, जहाँ उसी की योजना में कवि की प्रतिभा का जोर दिखाई पड़ता है, वहाँ तो वह गुण है। उक्त सात प्रकार निम्नलिखित हैं—

(१) जब पद या वाक्य जो तत्काल कई प्रकार से प्रभावशालिता उत्पन्न करता हो।

(२) जब दो या उससे भी अधिक अर्थ लेखक के एक ही प्रतिपाद्य के सहायक हों।

(३) श्लेष की तरह जब एक ही शब्द या वाक्य में दो प्रकरणोपयोगी विचार संबद्ध हों।

१—Seven Types of Ambiguity—By Empson.

(४) जब एक ही वक्तव्य से प्रसूत दो परस्पर विरोधी वाक्यार्थ मिलकर लेखक की जटिल मानसिक दशा को व्यक्त करते हों।

(५) जब कोई ऐसी उपमा दी जाय, जो किसी को भी उपमित न करती हो, बल्कि दो चीजों के बीच में हो और ऐसी स्थिति में हो जब लेखक एक से दूसरी पर जा रहा हो।

(६) जब कि वक्तव्य ऐसा हो, जो आवृत्ति से, विरोधाभास से यत्किञ्चित् असंबद्ध कथन से व्यक्त न किया जा सकता हो तो लेखक बाध्य होकर असंगत कथन से अपनी वैचित्र्य संवलित मनःस्थिति को व्यक्त करता है।

(७) जब शब्द के दो अर्थ प्रसंग से बिल्कुल विरोधी जान पड़ते हों और ऐसे अर्थों से पाठक जो प्रभाव आत्मसात् करता है, उससे वह ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचता हो कि लेखक का मस्तिष्क दो विरोधी संस्कारों में बँटा हुआ जान पड़े।

इस प्रकार आज की आलोचना पद्धति मनोविज्ञान की मान्यताओं तथा शब्द शक्ति और अर्थ के स्वभावनिरीक्षण पर आधृत हैं। अस्तु।

उक्त प्रबन्ध में रिचार्ड्स ने अर्थ के जो चार प्रकार बताएँ हैं—डा० द्विवेदी उनमें से प्रथम का संबंध अभिधा से एवं शेष तीन का व्यंजना से बताते हैं। पंडित रामदहिन मिश्र[1] तथा श्री बलदेव उपाध्याय[2] ने सेंस के अतिरिक्त इतर दो अर्थों को भी वाच्य की कोटि में रखा है, जो डा० द्विवेदी के मत से ठीक नहीं है। द्विवेदी जी ठीक कहते हैं कि यदि 'भाव' भी वाच्य हैं, तो काव्य का सर्वस्व फिर वाच्य ही हो गया।

अर्थ को उक्त विभाजन के अतिरिक्त (लाजिकल) संगत एवं (इमोशनल) मनोवैज्ञानिक इन दो रूपों में भी व्यक्त किया है। दूसरा अर्थ स्पष्ट ही व्यंजना व्यापार से साध्य है।[3] मीनिंग आफ् मीनिंग में भी इसी से मिलता जुलता विभाजन है। (रेशनल) विचारोत्तेजक एवं (इमोटिव) भावोत्तेजक। दूसरा अर्थ व्यंजना द्वारा ही तो भाव का उत्तेजक हो सकता है।

१—काव्यदर्पण, सं० १ पृ० ५२
२—भारतीय साहित्य शास्त्र, सं० प्रथम पृ०।
३—'मीनिंग आफ मीनिंग' पृ०।

(Metaphor)[१] रूपक एवं प्रतीक में स्पष्ट ही क्रमशः प्रयोजनवती गौणी सारोपा तथा गौणी साध्यवसाना काम करती है। लक्षणा के इन प्रभेदों में जो प्रयोजनांश होता है, वह व्यंजना द्वारा ही प्राप्य है।

एम्बीग्विटी में स्पष्ट ही शब्द के अतिरिक्त अर्थों पर बल दिया गया है, जो व्यंजना का कार्य है।

मनोविज्ञान और व्यंजना

अब साहित्यालोचन के क्षेत्र में मनोविज्ञान ने बहुत ही अधिक प्रवेश पा लिया है। उसके ऐसे कई सिद्धान्त हैं, जिनसे व्यंजना का संबंध स्थिर किया जा सकता है।

मुख्यतः मनोविज्ञान का विषय है मानसिक व्यापारों का अध्ययन। मानसिक व्यापार तीन हैं—[Knowing, feeling, willing,] ज्ञान, संवेदन एवं प्रयत्न। इन तीनों की मिलित प्रेरणा में ही काव्य सृष्टि का बीज निहित है। इन तीनों में भाव (फीलिंग) की ही महत्ता है। Feeling अर्थात् संवेदन भी दो प्रकार के हैं—Feeling as sensation (ii) Feeling as emotion उक्त तीनों क्रियायें मन की हैं। मस्तिष्क स्नायुमण्डल की क्रियाओं का उद्गम है। यह क्रिया बाह्य पदार्थों द्वारा प्राप्त उद्दीपन की आन्तरिक स्नायुमण्डल में होने वाली प्रतिक्रिया है। उद्दीपन एवं प्रतिक्रिया के मध्य होने वाले समस्त व्यापार अनुभूति कहलाते हैं। उक्त प्रतिक्रिया ही काव्य के 'रस' में आश्रय का अनुभाव है। इन अनुभाव में हमारे ज्ञान एवं सुख, दुःख आदि के अनुभव मिले रहते हैं। इसी को ध्यान में रखकर 'सुख दुःखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः' कहा गया है।

इस दृष्टिकोण से विचार करते हुए काव्य के सन्बन्ध में बड़ी ही उपयोगी बातें बहुत साफ होकर सामने आती हैं। जेम्स ने इसी दृष्टि से सोचते विचारते हुए चेतन की उपमा सरिता की धारा से दी है। उनका कहना है कि चेतना के मध्य में कुछ विचार तैरते हैं और कुछ तटपर।

१—"Emotive Meaning Again" chapter iii
"The study of Metaphor, through metaphor, should become, I have suggesteda central and governing part of the study of language." P. 41,

इन्हें ही (सेन्ट्रल) केंद्रवर्ती एवं (मार्जीनल) तटवर्ती कहा गया है ।

जब कवि अपनी रचना विशेष में तल्लीन हो जाता है, तब उसके विचार चेतना में केंद्र वर्ती होकर स्थिर हो जाते हैं । इस चेतना को कभी कभी आत्मा और कभी कभी आत्मा का धर्म भी कहा गया है । वस्तुतः चेतना (Ideas) प्रत्ययों की राशि है । ये प्रत्यय परस्पर अभ्यास (Frequency) नवीनता (Recency) तथा प्रबलता (Vividness) के नियमों से संबद्ध है । इस प्रकार Association Of Ideas का सिद्धान्त बनता है । इस सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रत्यय समुदाय को चेतना कहा जाता है, उसमें आकांक्षा मूलक एवं विरागमूलक आवेग रहते हैं । चेतना आवेग विशिष्ट हैं और इन्हीं आवेगों में अनुभूति का केन्द्र है । चेतना एक समय एक ही अनुभूति करती है । उसकी यही विशिष्ट अनुभव शक्ति प्रतिभा या कल्पना है । जब कवि अपनी प्रतिभा के द्वारा प्रकृति के नाना पदार्थों या व्यापारों में वाह्य प्रेषण के सिद्धान्तानुसार अपनी चेतना में उत्तेजना का अनुभव करता है, तब उसकी विशेष अवस्थाएँ भाव कहलाती हैं । अब वृत्ति की यही तीव्रता चेतना का आवेग है । एक प्रतिभावान् कवि प्रत्यय समूहों के सिद्धान्तानुसार प्रतिपाद्य विषयों के अन्याय रूपों को त्याग कर उन्हीं रूपों का ग्रहण करता है, जो उसकी कल्पना के अनुकूल होते हैं । नवीन मनोविज्ञान कल्पना से चेतन मन का वह प्रयास समझता है, जिसके द्वारा वह चेतनोन्मुख मन से उन प्रतिभाओं को निकालकर अपने स्तरपर ले आता है, जो उसमें दबी पड़ी रहती हैं । जैसे रात को आकाश की ओर सामान्य दृष्टि से देखने से बहुत दूर के तारे नहीं दीख पड़ते, परन्तु जब गौर से देखते हैं, तो दीख पड़ते हैं । इसी प्रकार चेतनोन्मुख मन में पड़ी हुई प्रतिभाएँ चेतन मन के सकेन्द्रेण से चेतना में आ जाती हैं । ठीक इसी तरह भारतीय साहित्यशास्त्र में भी व्यक्ति या व्यंजना को जो अंतश्चेतन में सोए हुए भावों को प्रकाश में लाता है, भग्नावरण चित् कहा गया है । पंडित राज जगन्नाथ ने 'व्यक्तः[1] स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावः रसः स्मृतः' की व्याख्या करते हुए कहा है— 'व्यक्तः—व्यक्त्या विषयी कृतः ।' व्यक्ति श्च भग्नावरणाचिद्' इत्यादि ।

१—रसगंगाधर, पृ० २६ सं० पंचम ।

इसी प्रकार इन्हीं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रकाश में सर्वथा व्यंग्य होने वाले 'रस' की भी व्याख्या की गई है और इसके साथ साथ सजेशन्' अर्थात् व्यंजना का भी।

रिचार्डस ने इस निष्पत्ति में काव्य की क्रमिक गति का परिचय देते हुए कहा है कि प्रथमतः शब्दों का परिणाम (विज़ुअल) होता है अर्थात् शब्दों का नाद कर्ण-कुहर द्वारा मानस में प्रवेश करता है और काव्य के बहिरंग तथा अंतरंग का आभास देता है, फिर पाठक उसकी कल्पना करता है अर्थात् काव्य-वर्णित वस्तु के जो वाचक शब्द कान पड़ते हैं वह वस्तु कल्पना में दीख पड़ती है, फिर पाठक के मानस जगत् में विंबात्मक रूप में उसका प्रतिरूप स्वतंत्र उपस्थित होता है और तब पाठक की अपरोक्षानुभूति उसको अपना गोचर करती है। इस क्रिया के फलस्वरूप पाठक की भावना (इमोशन) उद्दीप्त होती है और इसके फलस्वरूप जो एक वृत्ति उत्पन्न होती है, वही काव्य का 'रस' है।

इसी प्रकार मनोविज्ञान के ही प्रकाश में पी० एस० नायडू (अन्नामलाई-नगर) ने भी अपने एक लेख (The concept of suggestion in Hindu Aesthetic) में सजेशन के साथ साथ रस का भी विचार किया है और रस की परिभाषा यों दी है—"Rasa may be then defined as the mental counter part of the totality of experience generated in a cultured person by the sympathetic induction of blended emotions belonging to sentiments by excilant, of purely aesthetic origin." 'अर्थात् (डा० द्विवेदी के अनुसार इसका हिंदी अनुवाद यों है)। 'रस वह तादात्म्यानुभूति है, जो एक सुरुचिसंपन्न (निर्माता) व्यक्ति के मन में कल्पना चित्रों द्वारा प्रसूत और स्थायी भाव से संपृक्त, मिश्रित अनुभवों की संक्रांति से उत्पन्न होती है।'

इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यंजना (सजेशन) का भी विचार किया है और उसकी परिभाषा यों दी है—

"The term suggestion should be properly applied only to the sympethetic arousal of the

cognitive part of mental structure, sympathy to the centtral and imitation to the last aspect."

अर्थात् 'सजेशन' (व्यंजना) का भी यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाय, तो उसके तीन अवयव होंगे (१) मस्तिष्क संस्थान के ज्ञानात्मक अंश का संवादी उद्बोध (२) संवादी अनुभूति एवं (३) क्रियात्मक पक्ष की अनुकृति ।

इस प्रकार 'रस' एवं 'व्यंजना' दोनों ही मस्तिष्क के विभिन्न पार्श्वों के सम्मिलित रूप ही हैं अर्थात् दोनों में मस्तिष्क की बोध वृत्ति, भाव वृत्ति एवं क्रियावृत्ति का संभेद रहता है । अंतर इतना ही है कि व्यंजना में बोध-पक्ष का तथा इसमें भाव एवं क्रिया पक्ष की प्रधानता है ।

इसी प्रकार मनोविज्ञान में एक 'साइनेसथीसिया' का सिद्धांत है । जे० टी० शिप्ले ने इस सिद्धांत का परिचय देते हुए कहा है कि 'सामान्य मनुष्य अभिधेयार्थ तक ही पहुँच पाते हैं, पर 'हाइपर सेंसिटिव' लोग शब्दों के रूप एवं ध्वनि के अनुसार अनेक अर्थ लगाते हैं । एक ओर तो वे पुरातन संकीर्ण संवेदनाओं को उनके प्रचलित साहचर्य के कारण ले आते हैं और दूसरी ओर उद्वेग से प्रेरित अन्य अंगों या ज्ञानेंद्रियों की भी संवेदनाओं को जगा देते हैं । कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक ओर दो विभिन्न संवेदनाएं साथ ही जगती हैं और दूसरी ओर उसी तरह विरोधी शक्तिशाली भाव । उदाहरणार्थ, दुःखांत कथाओं में एक ओर भय और दूसरी ओर करुणा । एक से भगने की ओर दूसरी से आकृष्ट होने की विरोधी क्रियाएं एक साथ रहती हैं । ऐसे स्थलों में संतुलन अपेक्षित है । इस प्रकार की दशा में न तो इच्छा ही होती है और न क्रिया ही, बल्कि एक संतुलित ज्ञान रहता है । उस समय चेतना घनी भूत रहती है, उसमें प्रतिमाएं समृद्ध एवं सहचर बनी रहती हैं ।

सौंदर्य एक तरह से विषयीगत अनुभूति है । प्रत्येक मनुष्य के लिए वही सुंदर है, जो अधिक से अधिक उस प्रकार की उत्तेजना दे, जैसे ग्राहक के संस्कार हों । इस सिद्धांत के अनुसार किसी भी रचना का मूल्य उसकी सांवेदनिक एवं बौद्धिक जटिलता के उस सस्तर पर निर्भर करता है, जो ग्राहक में पैदा होता है ।

यह सिद्धांत स्वीकार करता है कि एक प्रकार के ऐंद्रिक संस्कार दूसरे प्रकार के ऐंद्रिय संस्कारों में परिणत हो जाते हैं। इस प्रक्रिया के कारण प्रयोक्ता के शब्दों में एक भव्यता (डिलाइट) आ जाती है, पारमित्य संक्षेप एवं मुधुरता आ जाती है और उसके सामान्य शब्द चित्र इन विशेषताओं से नख-शिख भरे रहते हैं।

स्पष्ट है कि शब्दों की यह सुधरता वाच्यार्थ-बोध के कारण नहीं है, बल्कि वाच्यार्थ के अवगुण्ठन से झांकने वाला कोई अतिरिक्त अर्थ है यह व्यंग्य नहीं तो और है क्या? और क्या इसके लिए व्यंजना की आवश्यकता नहीं है?

अभिव्यंजना और व्यंजना के संबंध में यद्यपि सबसे पहली आपत्ति यह उठती है कि क्रोचे द्वारा संस्थापित अभिव्यंजना आत्मा की आन्तरक्रिया है, और व्यंजना बाह्य शब्द का एक व्यापार, अतः दोनों का कोई संबंध ही नहीं है, तथापि (डा० द्विवेदी का विचार है कि) कला और सौंदर्य पर विचार करता हुआ एक जगह क्रोचे स्वीकार किया है कि कृति या कला की सफलता इसमें है कि इसके द्वारा कारयित्री एवं भावयित्री का एकीकरण हो जाय, अर्थात् कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिमायें एक सा अब अनुभव करने लगें, अर्थात् कारयित्री की संपत्ति भावयित्री में 'संक्रमण कर जाय। यद्यपि सौंदर्य-शास्त्र में 'कला' की इस संक्रामकता पर बड़ा विचार किया गया है, तब भी उसी संदर्भ में डा० साहब का विचार है कि[1] सौंदर्य शास्त्र संबंधी विचार सरणि में कला की इस संक्रामकता का उल्लेख एक प्रकार से अनेक विचारकों ने किया है। "रचना सिद्धांत में, जिसका प्लेटो ने जगत् को धुँधला परिचय दिया था तथा जिसे अरस्तू ने विकसित एवं पल्लवित किया था, कला की प्रेषणीयता का तत्वनिहित है। सुप्रसिद्ध इटैलियन आलोचक क्रोचे के प्रतिभा एवं रस-ज्ञान सिद्धांत में भी कला का यह विशिष्टतत्व पाया जाता है। क्रोचे के अनुसार कृतित्व की वह चरमावस्था होती है जब सहज ज्ञान की एक ही प्रक्रिया में कलाकार की मानसिक वृत्ति और सहृदय की सौंदर्यानुभूति एकाकार हो जाती है, जब प्रतिभा और रसज्ञान का व्यवधान तिरोहित हो जाता है,

---

१—'आलोचना' का 'आलोचनांक'।

जब दोनों एक ही मूर्त चित्र स्पर्श करने लग जाते हैं।[1] काव्य के संबंध में भट्ट लोल्लट की भी उक्ति इस सिद्धांत से कितना मेल खाती है—

'नायकस्यकवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।'

स्पष्ट है कि कलाकार एवं सहृदय की तथाकथित एकाकारता में भाषा मध्यस्थ है और वह अपनी संक्रामक शक्ति से उक्त कार्य करती है। यह शक्ति किस तरह व्यंजना से संबद्ध है, इसका उल्लेख टालस्टाय के संबंध में विचार करते हुए सामने आ चुका है।

सुर्रियलिज्मः व्यंजना

अतिथयार्थवाद को भी व्यंजना का अविनाभाव संबंध स्थिर किया जा सकता है। पर इस संबंध से पूर्व हम 'अतियथार्थवाद' का स्वरूप तो देख लें।

वस्तुतः (Psycho-analysis और Marxism) अंतश्चेतनावाद एवं मार्क्सवाद के योग से 'अतियथार्थवाद' का निर्माण हुआ है। साहित्य के क्षेत्र में आज जो अनेक सिद्धांत चल रहे हैं, उनमें उक्त दोनों सिद्धांतों का प्रमुख स्थान है और ये दोनों भी अपना अपना कार्य सर्वथा पृथक् पृथक् कर रहे हैं। इन दोनों विरोधीवादों का एकीकरण करके साहित्य में लाना इस बाद का मुख्य लक्ष्य था, (इस बाद के प्रवर्तक थे एण्ड्रीब्रिटन)। इनका समय लगभग १९३३ के है। इस बाद ने मनुष्य के उद्वेगों तथा मानसिक क्रियाओं की अभिव्यक्ति में मौलिक स्वाधीनता दे रक्खी है। मार्क्स 'माइंड' को नहीं मानता, 'मैटर' को ही मनता है, उसी को प्रामुख्य देता है, उसी की दृष्टि से 'माइण्ड' की भी परख करता है, जबकि अंतश्चेतनावादी 'मैटर' की जगह 'माइण्ड' को ही प्रमुख मानकर सारे व्यापारों के मूल में उसे ही मानता है। इन लोगों ने 'मैटर' तथा 'माइण्ड' को समन्वित कर दिया। इसका उद्देश्य (Reality) यथार्थता तथा (Fantasy) स्वाप्नस्थिति एवं अतृप्त अभिलाषा का मिश्रण ही रहा। यद्यपि ये दोनों विरोधी हैं, तथापि इन दोनों के विरोध से जो (Disturbances) गड़बड़ी पैदा होती है, उसी को इन दोनों के संतुलन से ठीक करना ही कला का लक्ष्य है।

१—ध्वन्यालोक, १९९७ वि० का चौखम्भा संस्करण, पृ० ९२
—लोचन

अतियथार्थवाद एक अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन था जिसका लक्ष्य था स्वाधीनता एवं सामाजिक न्याय का स्थापन। पर सामान्य जनता को राजनीतिक, आर्थिक, एवं वैयक्तिक शोषण तथा अत्याचार से विमुक्त करना चाहता है। फ्रायड से इन लोगों ने अर्धचेतन मस्तिष्क की क्रियाओं को लिया और मार्क्स से आर्थिक न्याय। इस प्रकार सामाजिक सीमा एवं वैयक्तिक सीमा को संतुलित करने का प्रयास किया, Reality एवं Fantasy को मिलाने में योग दिया। अंतश्चेतनावादियों का विचार है कि स्वप्न, Fantasy आदि अर्धचेतन मस्तिष्क की क्रियाओं से ही सर्जनात्मक कला प्रक्रिया की प्रकृति और स्वभाव निर्दिष्ट होता है। वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का प्रतिरोधक (sensor) रूढ़ि-प्रिय समाज की एक देन है, जो एक अत्याचार है। इसी कारण अतृप्त अभिलाषा एवं स्वप्न उन्हीं अचेतन में पड़ी हुई विकल प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति है, यद्यपि उनमें (condensation) संक्षेपीकरण, (projection) आत्मक्षेपण एवं (displacement) स्थानांरण हो जाता है। यहाँ अवचेतन मन से अभिव्यक्ति का सीधा संबंध है। स्वप्न में इस अंतश्चेतना में रहने वाली भावनाओं की कुछ ऐसी क्रियाएँ होती हैं, जिनसे वे कभी कभी रूप परिवर्तन करके आती हैं और कभी कभी ज्यों की त्यों और कभी कभी विभिन्न (symbols) प्रतीकों के रूप में भी उतरती हैं। साँप, मछली आदि उदाहरण के लिए काम के प्रतीक हैं। (Psyco-analysis) मनोविश्लेषण इन्हीं सुप्त भावनाओं का स्वप्न एवं फैंटेसी के आधार पर विवेचन करता है। इन लोगों के अनुसार स्वप्न लेखन तथा Automatic-writing अप्रयत्न साध्य लेखन (अथवा निसर्गजात-लेखन) पर इनका जोर होता है। अर्थात् प्रतिरोधक का नियंत्रण अस्वीकार करके जो भावनाएँ जिस किसी रूप में भी अर्थात् संगत, असंगत, भली, भद्दी आदि किसी रूप की हों—उन्हें लिख मारते हैं। और (Aesthetic activity) सौंदर्य-प्रक्रिया सदातर्काश्रित ही नहीं होती। कभी कभी लेखक इसलिए नहीं लिखता कि उसे अपना एक तार्किक सिद्धांत स्थापित करना है, बल्कि एक आंतरिक प्रेरणा के कारण कुछ लिख जाता है। इस प्रकार वह प्रेरणा अपने आप में अनाख्येय है। इसमें Hypnotism के भी कुछ गुण होते हैं।

इस विवेचन से भी स्पष्ट है कि अतियथार्थवाद संगत अर्थ अर्थात् वाक्य के अबाधित अर्थ, निर्बाध अन्वित अर्थ पर ध्यान नहीं रखता अर्थात् वाच्यार्थ की उपेक्षा करता है, वह सदालक्षणा एवं व्यंजना से ही अपने देय को प्रकाशित करना चाहता। है

इसी प्रकार 'व्यंजना' पर प्रकाश डालने वाला एवरक्रांबि का यह कथन भी है कि Poetry is electrification of language with extrameaning' अर्थात् शब्दों में अतिरिक्त अर्थ करनेवाली भाषा ही कविता है। ग्रियर्सन ने भी पद्य एवं गद्य का अंतर बताते हुए कहा है कि—"Prose has tone, but poetry has over tones......अर्थात् कविता वाच्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ पर बल देती है।

बीसवीं शती की कविताओं में ईलियट ने भी एक नवीन वाद का प्रवेश कराया है और वह अभिव्यंजक की नूतन पद्धति से संबद्ध है। उनकी पद्धति की बिशेषता यह है कि मस्तिष्क में आए हुए भावों को सीधे न कहकर उसी के समशील बाह्य जगत् की कोई वस्तुद घटना या व्यापार के रास्ते व्यक्त करना चाहिए। इसी पद्धति को वे objective-correlative कहते हैं। इसकी यह विशेषता है कि जिस प्रकार स्वप्न में हमारे भाव सीधे न आकर रूप परिवर्तित करके अथवा अन्य वस्तु पर प्रतिक्षिप्त होकर आते हैं अथवा अपने सामान्य रूप में काँट-छाँट करके आते हैं उसी प्रकार यह बाह्य जगत् की वस्तुएँ भी हमारी भावनाओं की अभिव्यक्ति Association value से करती हैं। कवि किसी भाव की अभिव्यक्ति के लिए अपनी तात्क्षणिक चेतना धारा में (stream of concsiousness) आई हुई समस्त स्मृतियों एवं विचारों को व्यक्त कर देता है। उन्हीं संकेतमयी रेखाओं के सहारे (किसी भौतिक घटना की द्योतक एक रेखा मात्र) पाठक मूल घटना का पुनर्ग्रहण करता है। इसी पद्धति को suggestion या dream-association की पद्धति भी कहते हैं।

इस प्रकार यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता कि योरुप में कोई एक सिद्धांत व्यंजना के समान प्रतिपादित हुआ है तथापि हम जो व्यंजना के स्वभाव एवं स्वरूप का विचार करते हैं, तो हमें ऐसा मालूम होता है कि ध्वनि से पूर्व जैसे व्यंग्यार्थ सी वस्तु उनके मस्तिष्क में भी, पर वे व्यंजना का नाम नहीं लेते थे, उसी प्रकार पश्चिमी समीक्षा क्षेत्र में भी बहुत सी ऐसी बातें हैं, जो व्यंजना एवं व्यंग्य के मेल में आ सकती हैं।

— —

उत्तरार्द्ध: प्रथम परिच्छेद

विश्व वैचित्र्य की राशि है। अतः उसकी प्रत्येक व्यष्टि वैचित्र्य समन्वित है। जगत् के इस निखिल वैचित्र्य विधायक तत्त्वों में अभिव्यंजन पद्धति का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। दृष्टिकोण के आपेक्षिक संकोच से जैसे इस तत्त्व का व्यक्ति व्यक्ति में भिन्न-भिन्न रूप से दर्शन होता है, उसी प्रकार दृष्टिकोण के आपेक्षिक विस्तार से इसे देश-देश में भी भिन्न भिन्न रूप से देखा जा सकता है। तात्पर्य यह कि विभिन्न देशों में सोचने की पद्धति भिन्न भिन्न होने से—विचारधारा के भेद से—अभिव्यंजन पद्धतियाँ भी भिन्न भिन्न हुआ करती हैं। यही कारण है कि भारतीय (Fareast) अभिव्यंजन पद्धति से योरुपीय अभिव्यंजन पद्धति सर्वथा भिन्न है और (Neareast) ईरान, फारस आदि मुस्लिम देश इस माने में दोनों से पृथक् ही अपना अस्तित्व रखते हैं।

भारत का हिंदी-भूमि-भाग इस्लामी एवं क्रिश्चियन संस्कृत की कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभाओं से सदैव प्रभावित होता रहा है और इसके परिणाम-स्वरूप आज हिंदी की नवीन कविता में सभी अभिव्यंजन पद्धतियों के दर्शन होते हैं। विद्वानों का विचार है कि प्राच्य की अपेक्षा पाश्चात्य शैली लक्षणा को अधिक महत्व देती है।[1] आचार्य शुक्ल जी ने स्वीकार किया है कि अंग्रेजी भाषा में लाक्षणिक चापल्य अधिक है। अर्थात् वह लक्षणोन्मुखी है। भारतीय शैली व्यंजनोन्मुखी है। भारतीय स्वभाव ही है ऊपर से वाच्यार्थ की भाँति ऋजु भाव से रहना, पर सदा भीतरी तत्व (व्यंजना-व्यक्ति-चित्तत्व) की ओर झुके रहना। पश्चिमी स्वभाव कुटिल ढंग से भीतर की ओर मुड़ने वाला है। दोनों की प्रवृत्ति उनके अभिव्यंजन में स्पष्ट लक्षित होती है। योरुपीय पूर्व को Far east एवं Near east भागों में बाँटते हैं, 'नियर ईस्ट' इस्लामी देश हैं और फार ईस्ट भारत। नियर ईस्ट की साहित्यिक भाषा फारसी में निरूढ़ा एवं प्रयोजनवाती दोनों प्रकार की लक्षणाएँ हैं, तथापि (वेस्ट) पश्चिम की भाँति उसमें प्रयोजनवती लक्षण पर उतना जोर नहीं होता, जितना निरूढ़ा

१—हिंदी साहित्य का इतिहास, आधुनिक काल

लक्षणा पर होता है। विचारपूर्वक देखा जाय तो इसमें (नियर ईस्ट में) निरूढ़ालक्षणा के आधार पर बने मुहावरेदार प्रयोगों का जो बाहुल्य है, यह कहीं भी नहीं है। हिंदी अपनी भारतीय प्रकृति से (व्यंग्य-रस-परक दृष्टिसे) हटकर इन लक्षणा-प्रिय भाषा-भाषियों के संसर्गवश आज आधुनिक युग में बे-हिसाब आगे बढ़ी जा रही है। निरूढ़ा एवं प्रयोजनवती लक्षणाएँ भारतीय शैली में भी थीं, पर इनकी अपनी एक मर्यादा थी, हिंदी की अनुकरणप्रिय प्रवृत्ति उस सीमा का अतिक्रमण करती हुई अब तक कविताओं में शतशः दृष्टिगोचर हो रही है। आधुनिक या नवीन कविता से हमारा तात्पर्य विज्ञान-युग की नवीन कविता से है। संस्कृत साहित्य में 'आप मुहाविरों का प्रयोग प्रायः नहीं पावेंगे। हिंदी के प्राचीन साहित्य में प्रयोजनवती का यह अंधानुकरण-प्रिय प्रचुर-प्रयोग भी नहीं पाएँगे। नैषधकार में मुहाविरों का कुछ सद्‌भाव संभव है इस्लामी संस्कृति के साहचर्य का फल हो। हिंदी साहित्य में—हिंदी के आधुनिक साहित्य में—आज आप उक्त तीनों पद्धतियों का अविरल प्रयोग देख सकते हैं। गुप्त जी में भारतीय, हरिऔध जी में 'अंशतः फारसी और 'पंत' जी में अंग्रेजी की लाक्षणिक वक्रता आपको पदे-पदे मिल सकती है।

आत्माभिव्यंजन के लिये मनुष्य के पास जितने साधन हैं, उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण साधन है—भाषा। भाषा की भी सबसे महत्त्वपूर्ण शक्ति है व्यंजना और साहित्य इसका अपना क्षेत्र है। उक्त दो विभिन्न संस्कृतियों की व्यंजनापद्धति की चर्चा अवसर आने पर की जायगी। संप्रति, भारतीय व्यंजना की व्यवस्थित प्रयोग-पद्धति एवं प्रसार-भूमि की चर्चा करनी है।

भारतीय साहित्यशास्त्र के विचारकों ने वाङ्मय को काव्य एवं शास्त्र दो भागों में बांट रखा है। प्रयोजन की दृष्टि से चाहे इनके पार्थक्य में मतभेद हो, पर शैली की दृष्टि से पार्थक्य-स्थापन में कदाचित् ही दो मत हों, अर्थात् एक अपनी प्रतिपादन पद्धति में सरसता का ध्यान रखता ही है, जब कि दूसरा उस पर ध्यान रखने को बाध्य नहीं है। इस प्रकार काव्य में रस की सत्ता नितांत अपेक्षित है और रस व्यंजना शक्ति का विषय है। इस दृष्टि से देखे जाने पर संपूर्ण काव्य व्यंजना के प्रसार की भूमि है। परंतु रसतत्व कहीं कहीं इतना दबा रहता है कि पाठक का ध्यान उस ओर से हटकर वाच्य-अलंकार के चमत्कारों पर टिक जाता है। कवि की प्रतिभा का संरंभ शब्द-सौंदर्य या वाच्यार्थ वैचित्र्य पर ही दृष्टिगोचर होता है। काव्य की इस

स्थिति को ध्वनिकारों ने अधम कहा है। अधम काव्य में रस-प्रतीति की ओर ध्यान न जाने से व्यंजना व्यापार का प्रश्न ही नहीं उठता। रस के अभाव (अनभिव्यक्ति) में वस्तु या अलंकार की सत्ता रहेगी। ये भी यहाँ सदैव वाच्य-कोटि में ही रहते हैं, अतः इनकी प्रतीति के लिये भी व्यंजना-व्यापार का उपयोग नहीं हो सकता है। वस्तुतः इस अलंकार और वस्तु की प्रतीति में भी व्यंजना का प्रयोग होता है, पर वे स्थल कुछ और होते हैं।

दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि यह व्यंग्यार्थ यहाँ पर अस्फुट-तर रहता है। प्रकाशकार ने अधमकाव्य को, जो 'अव्यंग्य'[1] कहा है, उसका तात्पर्य इसी में है, कुछ व्यंग्य के अभाव होने में नहीं।

काव्य की दूसरी स्थिति वह है, और जहाँ व्यंग्यार्थ रहता तो उभाड़ पर है, पर स्थिति की दृष्टि से या तो वह वाच्यार्थ के समकक्ष रहता है, या उससे अपकृष्ट रहता है। कभी कभी उसका उपस्कारक अथवा साधक होता है। भाव यह कि वह वाच्यार्थ की अपेक्षा सुंदर नहीं होता। ऐसे स्थलों में व्यंग्य के इस गुणीभाव (अप्रधानता) को देखकर उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं। गुणीभूत या अप्रधान व्यंग्य की प्रतीति में उपाय होने के कारण यहाँ व्यंजना की स्थिति भी गौण होती है। इसे मध्यम काव्य भी कहते हैं।

काव्य की एक तीसरी स्थिति वह होती है; जहाँ व्यंग्यार्थ उभाड़ पर तो रहता ही है, स्थिति एवं चमत्कार की दृष्टि से वह वाच्यार्थ की अपेक्षा सर्वथा प्रधान रहता है। अतः इस प्रकार के व्यंग्यार्थ की प्रतीति का साधन होने से यहाँ व्यंजना व्यापार की प्रधानता होती है, इसे उत्तम या ध्वनि काव्य कहते हैं।

इस प्रकार काव्य में व्यंजना की दो स्थितियाँ होती हैं—प्रधान एवं गौण। अल्प श्रम साध्य होने के कारण पहले गुणीभूत व्यंग्य में ही व्यंजना की क्रिया देखनी चाहिये। ध्वन्यालोककार ने गुणीभूत व्यंग्य के प्रभेदों की चर्चा तो अवश्य की है, पर वह अत्यंत बिखरा हुआ है। काव्य प्रकाशकार ने व्यंग्य जितनी अवस्थाओं में जिन कारणों से गुणीभूत हो जाता है, उन सब का संग्रह कर दिया है। ये सब कारण संख्या में आठ निर्धारित किए गए हैं।

१—अव्यंग्यं त्ववरं स्फुटम्—काव्य प्रकाश, प्र० उ०।

(१) उक्त आठ कारणों में से प्रथम कारण है व्यंग्यार्थ का अगूढ़ होना। इस कारण गुणीभूत व्यंग्य का जो प्रभेद होता है, उसका नाम है अगूढ़ व्यंग्य। अगूढ़ का अर्थ है जो गूढ़ न हो, प्रत्युत स्फुट हो और इतना स्फुट कि वाच्यार्थ के समानतत्काल झलक जाय और असहृदय जन तक उसे समझ जायँ। यह अत्यंत स्फुट होने के कारण चमत्कारकारी नहीं होता। यहाँ विचारणीय यह है कि यह व्यंग्य अगूढ़ हो क्यों जाता है ? इसकी चर्चा किसी ने नहीं की। जहाँ तक स्वयं अपनी ऊहा है, इसके दो कारण सूझते हैं, (i) प्रथम कारण तो यह जान पड़ता है कि ऐसे स्थलों के व्यंजक पद निरंतर प्रयोग में आते रहते हैं। चूँकि व्यवहार में इन व्यंजक पदों का प्रचुर प्रयोग रहता है, इसीलिये उसका संस्कार इतना दृढ़ रहता है कि लोगों को वह शीघ्र प्रकाशित हो जाता है। यद्यपि निरूढ़ा लक्षणा के आश्रय पदों की भी प्रयोग प्रवाह में यही स्थिति रहती है, अर्थात् उसका भी प्रचुर प्रयोग होता है, तथापि दोनों में अंतर यह है कि निरूढ़ा में प्रयोजनांश मृत रहता है जब कि यहाँ जीवित रहता है (ii) दूसरा कारण उन व्यंजक पदों के प्रयोग का प्रकार भी हो सकता है। यद्यपि ये पद प्रयोग में उतने चलते नहीं हैं, तथापि शैली की सरलता ही उन्हें उत्तानार्थक बना देती है, फलतः उन्हें अविदग्ध जन भी समझ जाते हैं। शैली की सरलता से तात्पर्य यह है कि उसके साथ वाले पद ऐसे हों, जो व्यंजक पद के अर्थप्रकाश में बहुत सहायक हों। इन पदों से उपस्थापित पदार्थों के बीच वे पदार्थ ग्राहक की बुद्धि में तत्काल उतर आते हैं। परंतु कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ के व्यंजक पदों में प्रयोग-प्राचुर्य एवं शैली-सारल्य दोनों हैं, तथापि उन्हें अगूढ़ व्यंग्य के भीतर नहीं लेते, उदाहरणार्थ 'मैं कह रहा हूँ'—'वाह साहब, आपने तो ऐसा हमारा उपकार किया, कि वह जीवन भर भूला नहीं जा सकता' इत्यादि स्थलों में 'मैं' एवं 'उपकार' आदि ऐसे पद हैं, जहाँ लक्षणा मूल व्यंजना है, और यदि ये रसमय प्रसंग के भीतर हों, तो आलंकारिक ऐसे प्रयोगों को ध्वनि के परिवेश में सिमेट लेते हैं। ऐसे स्थलों में जो गुणीभूत व्यंग्य का व्यवहार नहीं होता, उसका कारण है—स्वारस्य विशेष का सद्भाव। इस प्रकार के 'मैं' आदि पदों का सारा विवक्षित अर्थ उसी ग्राहक को परिज्ञात हो सकता है, जिसका अंतःकरण वक्ता, बोद्धव्य, प्रकरण आदि के वैशिष्ट्य से सुपरिचित हो। इस परिचय के लिये विशेष अंतःकरण या 'हृदय' की आवश्यकता है, जो सहृदय जनों को ही प्राप्त है, असहृदय जनों को नहीं। यही कारण है कि इन स्थलों के निखिल विवक्षित अर्थों की प्राप्ति सहृदयों को ही हो पाती है, असहृदयों को नहीं। यही कारण

है कि ये प्रयोग ध्वनि की ही कोटि में आते हैं। इस प्रकार देखा जाय, तो साहित्य की सभी विशेषताएँ जिस त्रिकोण-वक्ता, विषय एवं ग्राहक से परिचालित होती है, उन्हीं का हाथ यहाँ भी है। प्रयोग-प्राचुर्य में विषय की शैली-सारल्य में वक्ता की एवं स्वारस्य ग्रहण में ग्राहक की विशेषताएँ ही उन भेदों में व्यवस्था उत्पन्न करती हैं।

उदाहरण—(अर्थांतर संक्रमित) अगूढ़ व्यंग्य (उपादानलक्षणाश्रित)

द्वितीय अध्याय में शुद्धा लक्षणा के जिन चार प्रभेदों की चर्चा की गई है, उनमें से एक भेद उपादान लक्षणा के ही कारण वाच्यार्थ का अर्थांतर में संक्रमण कराया जाता है। यह संक्रमण कभी वाच्यार्थ की आश्रितावस्था में और कभी आश्रयावस्था में होता है। यहाँ तथाकथित द्विविध वाच्यार्थ कभी धर्म रूप अर्थांतर एवं कभी धर्मी रूप अर्थांतर से संवलित होकर लक्ष्यार्थ में परिणत हो जाता है। उदाहरणार्थ-'संग सौध में हो श्रृंगार मरण का शोभन, नग्न, क्षुधातुर, वास-विहीन रहें जीवित जन।'

आ० कवि 'ताज'—'पंत'

प्रस्तुत पंक्तियों में 'मरण' शब्द का संबंध 'शोभन-श्रृंगार हो' से विवक्षित है, पर 'मरण' का श्रृंगार होना' कभी संभव नहीं, अतः 'मरण' शब्द का वाच्यार्थ स्वयं आश्रित बनकर 'मरणवाला' या मृतक (धर्मी) में संक्रांत हो जाता है। यहाँ 'मरण' शब्द की उपादान लक्षणा 'मरणवाले' में हैं। 'मरण' वाच्यार्थ है, जो स्वयं 'धर्म' बनकर 'वाला' इस 'धर्मी' का आश्रित हो जाता है। यही उपादान लक्षणा के सहारे वाच्यार्थ का अर्थांतर में संक्रमण है। इस प्रकार 'मरण+वाला' (वाच्यार्थ + अर्थांतर) दोनों मिलकर 'मरण' शब्द की उपादान लक्षणा से प्राप्त 'लक्ष्यार्थ' हुए। 'उपादान' शब्द का अर्थ ही है—ग्रहण। जितना है (वाच्यार्थ) उतना तो है ही, कुछ और ग्रहण किया जाता है, तब लक्ष्यार्थ का पूरा स्वरूप प्रतिष्ठित हो पाता है। यहाँ 'वाच्यार्थ' स्वयं 'और गृहीत' अर्थ में 'संक्रमण' करता है, इसीलिए इसे 'अर्थांतर संक्रमित' कहते हैं। ऐसे स्थलों में यदि लक्षणा का प्रयोजन गूढ़ न हो, तो वह अगूढ़ कहा जाता है। प्रयोजनांश किस प्रकार इन स्थलों में व्यंजनावृत्ति द्वारा लाया जाता है, यह पहले ही बताया जा चुका है।[1] ऐसे ही अगूढ़ गुणीभूत व्यंग्य का एक उदाहरण है—

१—देखिए 'लक्षणा मूल व्यंजना'।

'साल रही सखि, मां की झांकी वह चित्रकूट की मुझको।
बोली जब वे मुझसे-मिला न बन न भवन ही तुझको ॥'
—साकेत

इस पद में 'भवन' शब्द ध्यान देने योग्य है। यहाँ उर्मिला के लिए कहा गया है कि 'न तुम्हें भवन ही मिला और न बन ही'। आप्त-प्रमाण से जब हमें ज्ञात है कि 'उर्मिला को भवन मिला' तब बुद्धि सीधे यह बात स्वीकार नहीं कर सकती कि उर्मिला को 'भवन नहीं मिला।' यहाँ 'भवन' शब्द का सामान्य रूप में जो अभिधेयार्थ है, उनकी उपादेयता बिलकुल नहीं है। परंतु कवि ने अपने भावावेश में जिस 'भवन' के न मिलने का उल्लेख किया है, 'वह 'भवन' सामान्य नहीं, कुछ विशेष' है, जिसकी प्रतीति में अभिधा अशक्त है। अभिधा के अशक्त होने पर उपादान लक्षणा प्रस्तुत शब्द की प्रासंगिक उपयोगिता बताने के लिए कुछ 'विशेष' देने का उपक्रम करती है—'भवन' शब्द के सामान्य अर्थ को अर्थांतर में संक्रमित करने को जोर मारती है। यहाँ 'भवन' शब्द का वाच्यार्थ स्वयं आश्रय बन कर प्रासंगिक उपयोगिता के लिए 'सुखमयता' रूप धर्म को और 'ग्रहण' करता है, इस प्रकार यहाँ 'भवन' का अर्थ 'सुखमय भवन' हो गया है। एक पतिव्रता स्त्री के लिए पति के साहचर्य से बढ़कर भवन की सुखमयता और कुछ नहीं है, उर्मिला के लिए वही तो नहीं है, फिर उसे 'सुखमय भवन' कहाँ मिला ? पति के अभाव में यदि 'भवन' दुःखमय है, तो उसका मिलना न मिलना बराबर ही है। वक्ता के इस ढंग से कथन का प्रयोजन यही है कि उर्मिला (बोद्धव्य) के लिए, संप्रति, 'कहीं सुख नहीं' है। यह प्रयोजनांश इतना स्फुट है, कि किसी भी साधारण सचेत ग्राहक को वाच्यार्थ के समान सुनते-सुनते झलक जाता है। इसकी यही अतिस्फुटता 'अगूढ़' होने का कारण है।

(२) लक्षण लक्षणाश्रित अत्यंततिरस्कृत वाच्य स्थल के प्रयोजनांश की अगूढ़ताः—

लक्षणलक्षणा भी शुद्धाप्रयोजनवती लक्षणा का ही एक प्रभेद है। यहाँ 'उपादान' नहीं होता, बल्कि 'लक्षण' अर्थात् 'त्याग' होता है। इस लक्षणा के द्वारा वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार हो जाता है और उसकी जगह प्रसंगोपयोगी वाच्यार्थ से संबद्ध सर्वथा एक नया अर्थ ही आ जाता है। वाच्यार्थ का अत्यंत तिरस्कार होने के ही कारण इसे अत्यंत तिरस्कृत वाच्य कहते हैं। उदाहरण के लिए—'आँचल में है दूध और आँखों में पानी'—गुप्त जी की

यशोधरा की एक प्रसिद्ध पंक्ति है। यहाँ 'आँचल' एवं 'दूध' का जो आधाराधेयभाव संबंध 'में' कारक चिह्न द्वारा सूचित किया गया है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वथा बाधित है अतः 'आँचल' शब्द का अभिधेयार्थ प्रकृत प्रसंग में सर्वथा अनुपयोगी है। अतः उस शब्द से कोई उपयोगी अर्थ प्राप्त करने के लिये वाच्यार्थ से संबद्ध अर्थ ढूँढ़ना चाहिए, वह अर्थ भी ऐसा हो जो दूध का आधार बन सके। निश्चित है कि वह इस व्यवस्था के आधार पर वाच्यार्थ संबद्ध अर्थ 'स्तन' ही है। वाच्यार्थ के साथ इसका 'समीप्य' संबंध भी है और 'दूध' की आधारता भी संभव है, जो प्रकरण को देखते हुए उचित जान पड़ता है। रंध्रों से भरे हुए आँचल में तरल दूध की आधारता कभी भी संभव नहीं है। इस लक्षक शब्द के प्रयोग का प्रयोजन है—'स्त्रियों में मातृत्व पक्ष की जीवन-व्यापिनी प्रबलता।' लक्षण लक्षणा के स्थल में जब इसी प्रकार के प्रयोजनांश अगूढ़ होते हैं, तब प्रकृत व्यंग्य का वह लक्ष्य बन पाता है—

चूमता था भूमि तल को अर्द्धविधु सा भाल।
बिछ रहे थे प्रेम के दृग, जाल बन कर बाल॥
—साकेत

'चूमना' क्रिया की कर्मता का संबंध 'मुख' में ही आजकल प्रसिद्ध है। कामशास्त्र चाहे विभिन्न मर्म स्थानों में 'चुंबन' का विधान भले ही करता हो। दूसरे यह कि 'चुंबन' की कर्मता चाहे अन्यत्र भी रह ले, पर 'चुंबन' क्रिया के कर्तृत्व का ठेका तो एकमात्र 'मुख' ने ही ले रखा है, पर यहाँ 'चूमना' 'भाल' की क्रिया बताई गई है, जो सर्वथा व्यवहारविरुद्ध जान पड़ती है। फलतः यथाश्रुत संबंध की अनुपपत्ति लक्षणा को उकसाती है, और लक्षणा वृत्ति केवल 'संयोग' मात्र अर्थ उससे प्राप्त कराती है। 'चुंबन' भी तो एक प्रकार का संयोग ही है, जिसका कर्ता नियत (मुख) है। यहाँ विशेष संयोग वाच्य है और सामान्य संयोग लक्ष्य। अतः वाच्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सामान्य विशेष भाव संबंध भी हुआ। अब रही बात, प्रयोजनांश की। यह विवक्षित अर्थ (संयोग) के वाचक शब्द (संयोग) के बावजूद भी जो अवाचक (चुंबन) शब्द का प्रयोग किया गया, उसका एकमात्र प्रयोजन है क्रिया की 'मधुरता एवं रति भाव' की झलक देना। वह 'माधुर्य एवं रतिभाव' 'चुंबन' शब्द के साहचर्य वश शीघ्र ही झलक उठता है, अतः अगूढ़ है। इसी प्रकार इसका एक और उदाहरण लीजिये—

'वियोगिनि ! यह विरह की रात ।
आँसुओं की बूँद ही में बह गई अज्ञात ।।'

—रा० कु० वर्मा

यहाँ 'रात' को 'बहाया' गया है। स्पष्ट है कि 'बहाना' क्रिया का प्रयोग तरल एवं द्रव पदार्थ के लिये होता है। रात्रि कोई तरल एवं द्रव पदार्थ नहीं है, जो बह जायगी। तार्किक 'स्यंदन' क्रिया में 'द्रवत्व' को ही कारण मानते हैं, रात्रि में जब मूल गुण 'द्रवत्व' ही नहीं है, तो उसमें स्यंदन-बहना आ कहाँ से सकेगा ? अतः यहाँ 'बहाना' से तात्पर्य है—'शीघ्रतापूर्वक बीत जाना।' इस 'बीत जाने' की अतिशय 'शीघ्रता' ही व्यंग्य है। यह प्रयोजनांश भी तत्काल ही प्रतीत हो जाता है, अतः अगूढ़ व्यंग्य का उदाहरण हुआ।

यहाँ वाच्यार्थ सर्वथा तिरस्कृत है। लगता है, जैसे वियोगी की इस 'रात' का कुछ करना हो, पर वह आँसुओं की बूंद में अर्थात् रोते रोते ही जाने कब हाथ से निकल गई हो और वह बाद इस कथन द्वारा बैठा हुआ पश्चात्ताप व्यक्त कर रहा हो। इस दृष्टि से यहाँ 'निरुपयोगिता का अतिशय' भी व्यंग्य हो सकता है।

प्रस्तुत उदाहरण में 'अनुचितार्थत्व' दोष स्पष्ट झलकता है। यह दोष वहाँ होता है, जहाँ विवक्षित अर्थ या भाव के विरोधी अर्थ या भाव प्रतीत हों। यह विरोध जिस 'पद' की महिमा से व्यंग्य होता है, उसे 'अनुचितार्थ' पद कहते हैं। जैसे—

सेवहिं लषन सीय रघुबीरहिं।
जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं ।।

अथवा 'वासर की संपति उलूक ज्यों न चितवत' वाला उदाहरण प्रसिद्ध ही है। इन स्थलों में जैसे 'वर्ण्य' राम के प्रति कवि अपनी उत्कृष्ट भावना व्यक्त करना चाहता है, पर 'अप्रस्तुत योजना' इन स्थलों में ऐसी अनुचित है, जिससे अप्रस्तुत गत 'तामसी भाव' विवक्षित 'सात्विक भाव' को दबा देता है और कुछ विरोधी भाव ही प्रकट करता है। यही स्थिति 'अप्रस्तुत' की क्रिया का प्रस्तुत से संबंध जोड़ देने पर होती है। आलोच्य पद से कवि व्यक्त करना चाहता है 'विरह वेदना का आतिशय्य। 'आँसुओं की बूँद' यही तो

कहती है, किंतु दूसरी ओर 'रात का अज्ञात रूप से शीघ्र बीत जाना' समय की दूभरता का अभाव व्यक्त करता हुआ सुखमयी स्थिति की प्रतीति कराता है। कवि की ओर से उक्त दोष का प्रतिवाद करते हुये कहा जा सकता है कि 'रात का अज्ञात रूप से बह जाना' वियोगी की वृत्ति की अंतर्लीनता, वेदना का घनी भाव व्यक्त करता है। पर हमारा कहना यह है कि यदि वेदना का आतिशय्य ही व्यक्त करना है तो रात एवं दिन दोनों को अज्ञात रूप से बिता देते। इस पर भी कवि अपने समर्थन में कह सकता है कि वियोगी का दिन तो कार्यांतर में व्यस्त रहने के कारण किसी तरह बीत जाता है, वियोगवृत्ति अन्य वृत्तियों से तिरोहित होती रहने के कारण कुछ सह्य रहती है, पर कार्यांतर के अभाववश रात्रि में वियोग वृत्ति एकनिष्ठ हो जाती है, साथ ही वातावरण के प्रभाववश अत्यधिक उद्दीप्त भी हो जाती है, अतः 'रात' ही उस अंतर्लीनता की स्थिति में अज्ञात भाव से बीतती है, दिन तो ज्ञात रहकर बीतता है। अतः उक्त कथन ही सर्वथा युक्ति संगत है। पर इन तर्कों के साथ साथ यदि भारतीय वियोग-वर्णन की परंपरा देखी जाय और अनुभव को साक्षी माना जाय तो कहा जा सकता है कि वियोग की स्थिति में एक क्षण भी दुर्वह हो जाता है, और दुर्दैव वश वह समय भी रात्रि का हो, तब तो कुछ भी कहने की गुंजाइश नहीं रह जाती। परंपरा वेदना के आतिशय्य को समय की दुर्वहता बताकर ही व्यक्त करती है, कुछ उक्त पद्धति द्वारा नहीं। यही परंपरा विरोध महादेवी वर्मा की 'रोती[1] है उजियाली'—इस प्रयोग में भी अन्य विद्वानों ने देखा है। यहाँ उजियाली 'को वेदना-विद्ध कवयत्री ने रुदन के व्यक्त रूप में देखा है, जबकि परंपरा में वह सदा 'हँसती' आई है।

प्रस्तुत आलोच्य पद के संबंध में एक बात और कहनी है—कोई भी वस्तु यदि धारा में 'बहाई' जाय, तो ठीक भी है, पर यह कहाँ का वियोगी है ? जिसकी रात इतनी क्षुद्र एवं हल्की है कि वह बूँदों में ही बही जा रही है ? बल्कि बूँदों में क्यों, 'बूँद' में ही इसलिए कहना ही था, तो कह देते कि—

'आँसुओं की धार ही में बह गई अज्ञात'

पंडित रामदहिन मिश्र ने अपने 'काव्यालोक' में 'अगूढ़ व्यंग्य' का एक उदाहरण दिया है—'बीती विभावरी जाग री।

अम्बर पनघट में डुबो रही ताराघट उषा नागरी।

१—हिंदी साहित्यः बीसवीं शताब्दी

और समर्थन में उनका कहना है—'यहाँ ऊषा नागरी द्वारा आकाशरूपी पनघट में तारारूपी घड़ों का डुबाना वाच्यार्थ है। लक्ष्यार्थ होता है ऊषा के आगमन से आकाश के तारों का लुप्त होते जाना और इसका-व्यंग्यार्थ' जो रात्रि का बीत जाना है' वह ऊषा और उसके व्यापार से स्पष्ट है। 'बीती विभावरी' कथन से तो वह और स्पष्ट है, अतः अगूढ़ व्यंग्य है।'[1]

विचार करने पर पंडित जी का उदाहरण एवं उनके समर्थक उद्गार दोनों असंगत एवं अशुद्ध प्रतीत होते हैं। वस्तुतः यहाँ 'शुद्ध परंपरित' रूपक के नियोजन में ही कवि की प्रतिभा का संरंभ लक्षित होता है, अतः यह 'अवरकाव्य या 'चित्रकाव्य' है, गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण कहना सर्वथा ठीक नहीं है यहाँ, ऊषा पर नागरी का, अंबर पर पनवट का एवं ताराओं पर घट का आरोप किया गया है। यहाँ के उपमानोपमेय कवि परंपरा गृहीत नहीं है, बल्कि 'नवयुगी' कवि के स्वयं कल्पित हैं। फलतः उक्त तीनों आरोप असिद्ध हैं। असिद्धि का कारण यह है कि आरोप उन्हीं पदार्थों का सिद्ध माना जा सकता है, जिनकी उपमेय से अति समानता हो और अतिसमानता 'साधर्म्य पर निर्भर है। जिन दो पदार्थों में समानधर्म होता है, उन्हीं में साम्य संभव है। ये साधारण धर्म या तो कवि परंपरा से सिद्ध होने के कारण अतिप्रसिद्ध हों (अतः प्रसिद्धि वश उनका कथन शब्दतः नहीं किया जा सकता है) या कवि की प्रतिभा की ताजी उपज हों। इस स्थल में प्रथम पक्ष संभव नहीं है, अतः दूसरा पक्ष ही हो सकता है अर्थात् कवि की प्रतिभा से ही वे निर्मित माने जा सकते हैं। निर्मित तो हों ही, साक्षात् शब्द द्वारा उनका कथन भी होना चाहिए, अन्यथा पाठक को उनका ज्ञान कैसे हो सकेगा? प्रस्तुत स्थल में तीनों प्रस्तुतों एवं अप्रस्तुतों का साधारण धर्म कहीं भी पृथक् शब्द से कहा नहीं गया है, अतः समान धर्म के अभाव से सादृश्य का अभाव और सादृश्य के अभाव में आरोप की असिद्धि स्पष्ट ही है।

वस्तुतः ऐसे स्थलों में एक आरोप दूसरे आरोप की सिद्धि में साधन का कार्य करता है और जहाँ यह स्थिति होती है, वहीं परंपरित रूपक होता है। एक आरोप दूसरे आरोप की सिद्धि में किस प्रकार उपाय बनता है, अवसर आने पर आगे विचार किया जा सकेगा। रामचंद्रिका का निम्नलिखित अंश भी इसी प्रकार परंपरित रूपक का उत्तम उदाहरण है—

१—काव्यालोक, द्वि० भाग

'चढ़्यो गगन तरु धाय, दिनकर बानर अरुण मुख।
'कीन्हों झुकि झहराय, सकल तारका कुसुम बिनु ॥

रा० च० प० प्र०

यहाँ गगन पर तरु का, दिनकर पर अरुण मुख (बानर) का एवं तारिकाओं पर कुसुम का आरोप है। सारांश यह कि मिश्र जी का उदाहरण परंपरित रूपक का ही है, गुणीभूत व्यंग्य का नहीं। वस्तुतः व्यवहार उसीका होना चाहिए, जिससे चमत्कार की प्रतीति होती हो।

दूसरे यह कि मिश्रजी ने जो संपूर्ण वाक्य को लक्षक बना दिया है, वह भी युक्तियुक्त नहीं है। यह वाक्य लक्षक तब होता, जब संपूर्ण वाक्यार्थ असंगत होता—बाधित होता। यहाँ किसी प्रकार की असंगति ही नहीं है। यहाँ तो कवि का सीधा कथन है—'ऊषा नागरी अंबर-पनघट में ताराघट डुबो रही है।' यहाँ क्रमशः ऊषा, अंबर तथा तारा नागरी, पनघट एवं घट से अभेद प्राप्त करते हुए निर्बाध ढंग से 'डुबो देना' क्रिया में अन्वित होते है। रूपक स्थल में 'उपमान' की प्रधानता होती है, और उपमेय उसी उपमान का आवरण पहन लेता है। जब यहाँ किसी प्रकार का बाध या असंगति ही नहीं, तो फिर क्या कारण है, कि लक्षणा वृत्ति की उपासना की जाय ? 'नागरी पनघट पर घट डुबो रही है—इस वाक्य में मिश्रजी को ही असंगति प्रतीत हो सकती है, क्योंकि उन्होंने तो इसे 'लक्षणा' की आंखों से देखा है। बहुत यत्न किया जाय तो इस संपूर्ण वाक्य के अवयवों में लक्षणा मानी जा सकती है। इस वाक्य में जितने अवयव भूत रूपक हैं, वहाँ सारोपा लक्षणा अवश्य है। यहाँ का 'नागरी' से वांछित अभेद संसर्ग असंगत है, अतः उसकी संगति के लिए उपमान वाचक 'नागरी' प्रभृति शब्द 'सदृश' अर्थ में लाक्षणिक हो जाते हैं, और तब 'नागरी सदृश' इस लक्ष्यार्थ से 'ऊषा' का अभेद बन जा सकता हैं। यद्यपि अप्पय दीक्षित ने तो ऐसे स्थलों में भी लक्षणा नहीं माना है। उनका तर्क है कि शब्दों की यह सामर्थ्य है कि वे अत्यंत असत् अर्थों का भी बोध करा ही देते हैं।[1] शब्द प्रमाण से ज्ञात होनेवाले अर्थों में बाध होता ही नहीं। अतः यदि इनके मत को स्वीकार किया जाय, तब तो वाक्य के अवयवों में भी लक्षणा की गुंजाइश नहीं है वाक्य तो दूर रहे। अस्तु।

१—'अत्यंतासत्यपि ह्यर्थे शब्दः ज्ञानं करोति हि'।
रस गं० द्वि० आ० पृ० १६१।

संप्रति, देखना यह है कि यहाँ एक आरोप दूसरे आरोप की सिद्धि में किस प्रकार साधन बनता है ? आलोच्य पद के प्रत्येक रूपक में जो उपमान एवं उपमेय हैं, वे कवि परंपरा से गृहीत नहीं हैं, अतः यहाँ आरोप के लिए अपेक्षित सादृश्य जिन समान धर्मों की अपेक्षा करते हैं, उन्हें कवि को स्वयं कहना पड़ेगा । उदाहरणार्थ, 'उषा' पर 'नागरी' का जो आरोप है, उसमें अपेक्षित 'सादृश्य' का साधक समानधर्म 'अंबर' पर 'पनघट' के आरोप से ही प्राप्त होता है । आरोप के माध्यम से जब हम अंबर एवं पनघट' को अभिन्न मान लेते हैं जब दोनों एक हो जाते हैं, अर्थात् इस प्रकार उषा एवं नागरी दोनों के आधार एक हो जाते हैं और आधार के एक हो जाने पर 'पनघटाभिन्नांबर-वृत्तिता' एक ऐसा धर्म हुआ, जो उषा में भी हैं और नागरी में भी । अतः यही साधारण धर्म हुआ । इसी कारण दोनों में सादृश्य सिद्ध हो जाता है और सादृश्य के सिद्ध हो जाने पर मूल आरोप स्वतः सिद्ध हो जाता है । यही क्रम तीनों या जितने भी आरोप परम्परित रूपक में हो, सब में माना जाता है । आलंकारिकों के मत से अप्पय दीक्षित के उक्त मत के विरोध में जो लक्षणा होती है, वह प्रयोजनवती गौणी सारोप लक्षणा है । पर मिश्र जी ने यहाँ 'लक्षणलक्षणा' की चर्चा की है, जो न तो वाक्यार्थ की हो सकती है और न पदार्थ की ही ।

एक अन्य बात और भी है कि मिश्र जी का कथन तब सुसंगत होता, जब पहले प्रातःकाल की व्यंजना सामग्री का ही कथन होता और बाद में 'बीती विभावरी' का । पर यहाँ सारी बात उलटी है । यहाँ तो पहले यही बताया गया है—'बीती विभावरी' । इससे स्पष्ट है । इससे स्पष्ट है कि यही विभावरी का बीतना कहकर प्रातःकाल का ही वर्णन प्रकांत है । इसी प्रकांत विषय का आगे आलंकारिक भाषा में वर्णन किया गया है ।

यहाँ तक लक्षणामूल अगूढ़ गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरण का विवेचन हुआ । अब अभिधा मूल 'अगूढ़' की चर्चा सोदाहरण की जायगी । यह प्रभेद वहाँ होता है जहाँ निर्बाध एवं संगत वाच्यार्थ के सुनते-सुनते ही प्रतीयमान की झलक मिल जाती हो । यह झलक इतनी स्फुट हो कि साधारण जन भी उसे समझ लें —

करो किसी की दृष्टि को शीतल सदय कपूर ।
इन आँखों में आप ही नीर भरा भरपूर ॥

— साकेत नवम सर्ग

यहाँ वियोगिनी उर्मिला वक्ता है, जो वियोग की स्थिति में कपूर से निवेदन कर रही है कि वह किसी अन्य की आँखों को शीतल करे, उसकी स्वयं अपनी आँखें तो सदैव जलमय रहने के कारण शीतलता अनायास पाती ही रहती हैं। कपूर का उपयोग उसके लिये कुछ भी नहीं है।

यहाँ पर 'किसी की' कहने से यदि वक्ता का अभिप्राय 'जिस किसी से होता तो, तब तो उस परिधि में उर्मिला स्वयं आ सकती है। कहा जा सकता है कि निचली पंक्ति (इन आँखों) से उर्मिला 'किसी की' परिधि से स्पष्ट बाहर है, तो इसमें हमारा कोई विरोध नहीं है। हमें कहना इतना ही है कि यदि उर्मिला से भिन्न लोग भी सामान्यतः 'किसी की' परिधि में हों, तो यह अर्थ वाच्यार्थ कोटि तक ही रह सकता है। निर्बाध ढंग से वाच्यार्थ की प्रतीति हो जाने के अनंतर जब प्रकरण एवं वक्ता की विशेषता पर ध्यान दिया जाता है, तो ऐसा लगता है कि वक्ता का कोई विशेष एवं नियत व्यक्ति अभिप्रेत है, जो 'किसी' द्वारा संकेतित है। यह विशेष या नियत व्यक्ति (अथवा व्यक्ति की आँखें) निश्चय ही वियोग व्यथा से अपरिचित जन है। जो उपालंभ का पात्र है, अतः यहाँ किसी की अर्थात् वियोग व्यथा से अपरिचित जन की आँखों को शीतल करो—यही अर्थ अभिप्रेत जान पड़ता है विचार करने से यह और स्पष्ट होता है। जहाँ व्यक्ति सामान्य-परक[1] कोई बात कहता है, वहाँ उसके तह में कोई न कोई व्यक्ति विशेष अवश्य बैठा रहता है। इस न्याय से यहाँ के सामान्य कथन द्वारा निश्चय है कि यह व्यक्ति 'लक्ष्मण' है। इस प्रतीयमान को उसके सामान्याभिधायी सर्वनाम से वाच्य कल्प बना दिया गया है, यही कारण है कि यहाँ का व्यंग्य अगूढ़ हो गया है। यदि यहाँ 'किसी की' शब्द का प्रयोग न होता और विशेष जन की प्रतीति कराने वाले कोई समर्थ शब्द होते तो निश्चय ही यहाँ ध्वनि की स्थिति होती।

संस्कृत साहित्य के लक्षण ग्रंथों में शब्द शक्ति मूल अगूढ़ गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण प्रायः नहीं मिलता। हिंदी की आधुनिक कविता में भी इस प्रकार के शाब्दिक चमत्कार दिखाने की प्रवृत्ति नूतन कवियों में नहीं है। ये कवि तो अर्थ की लक्षणा एवं व्यंजना शक्तियों से खेलने वाले हैं। हाँ, यदि कहीं कोई ऐसा पद मिल जाय कि एक ही पद की अभिधा प्राकरणिक तथा अप्रा-

---

१—निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छश विषाणवत्।

करणिक दोनों अर्थों के उपयोग में आने योग्य हो, तो वहाँ शब्दशक्तिमूल गुणीभूत व्यंग्य का व्यवहार हो सकता है—उदाहरणार्थ—

विकल जीवन व्यर्थ बहा बहा।
सरस दो पद भी न हुए अहा।'

—साकेत

यहाँ स्पष्ट ही 'जीवन' शब्द का प्राकरणिक अर्थ 'जिंदगी' है पर दूसरा अप्राकरणिक अर्थ 'जल' भी है, जो 'बहा बहा'—इस क्रिया के साहचर्य से शीघ्र ही झलक जाता है। अतः किसी प्रकार यह उदाहरण संगत हो सकता है।

(२) अपरांग व्यंग्य—यह प्रभेद उस स्थल में संभव है, जहाँ व्यंग्यार्थ 'अपर' का अंग हो। यहाँ 'अपर' शब्द से प्रधानतः प्रतीत प्रतीयमान के तीनों भेद—वस्तु, अलंकार तथा रस—एवं वाच्यार्थ भी लिए जाते हैं। इस प्रकार 'अपर' शब्द के जितने अर्थ किए गए हैं, उन सब का जो व्यंग्यार्थ अंग होता है, उसे अपरांग गुणीभूतव्यंग्य कहते हैं। 'अपर' का 'अंग' बनने से तात्पर्य है 'अपर' का उपकारक बनने से। स्वतःसिद्ध 'अपर' को अंगभूत 'व्यंग्य' यहाँ अलंकृत करता है। वस्तुतः 'अंगभाव' दो प्रकार के अर्थ हो सकते हैं—उपकारक एवं उपपादक। प्रथम प्रकार की अंगता यहाँ होती है, और द्वितीय प्रकार की 'वाच्यासिद्ध्यंग व्यंग्य' में।

अपरांग गुणीभूतव्यंग्य के उदाहरण रूप में 'साकेत' काव्य का मंगलाचरण लीजिए—

'जयति कुमार अभियोग गिरा गौरी प्रति,
सगण गिरीश जिसे सुन मुस्कराते हैं।
देखो अम्ब ! ये हेरम्ब मानस के तीर पर
तुंदिल शरीर एक ऊधम मचाते हैं।
गोद भरे मोदक धरे है सविनोद उन्हें,
सूँड़ से उठाके मुझे देने को दिखाते हैं।
देते नहीं, कन्दुक सा ऊपर उछालते हैं
ऊपर ही फेंककर झेलकर खाते हैं।'

मुख्यरूप से यहाँ कवि की देव विषयिणी रति ही व्यंग्य है, अतः यही 'भाव' मुख्यतः 'अपर' है, यही मुख्यतः उपकार्य है। इसकी अभिव्यक्ति

वात्सल्य वर्णन से की गई है। वस्तुतः गौरी एवं सगण गिरीश 'वात्सल्य' भाव के आश्रय हैं और गणेश तथा कार्तिकेय आलंबन। गणेश की क्रिया तथा कार्तिकेय की अभियोग गिरा उद्दीपन हैं। यथा स्वयं सगणगिरीश का मुस्कराना 'अनुभाव'। इस प्रकार अपने विभिन्न व्यंजक (विभाव एवं अनुभाव) उपकरणों से व्यंग्य होता हुआ 'वात्सल्य' भाव मूल 'भाव' का उपकारक है। यहाँ एक 'भाव' का दूसरा 'भाव' अंग है, अतः 'अपरांगगुणी भूतव्यंग्य' हुआ।

श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी जी ने अपनी पुस्तक में उक्त पद्यगत कई दोषों का उद्घाटन किया है। इस पद्य की 'शय्या' की गर्हा तो उन्होंने की ही है, इसके अतिरिक्त भी अन्य दोय दिखाए हैं।

उनका प्रथम आक्षेप यह है कि 'जयति कुमार अभियोग गिरा गौरी प्रति' से जो अर्थ कवि को विविक्षित है, वह शब्दों के सहज प्रवाह से नहीं निकलता। कवि का विवक्षत अर्थ यहाँ यह है—'गौरी के समक्ष 'गणेश के ऊधम का निवेदन करने वाले कुमार वाणी की जय हो। किंतु जहाँ तक प्रयुक्त पदों की बात है, उसके सहज प्रवाह में 'गौरी-पति'' का अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है—'गौरी के विषय में की गई कुमार की अभियोग—गिरा उत्कर्षशालिनी हो'। स्पष्ट ही यहाँ 'गौरी के प्रति' का अर्थ 'गौरी के विषय में' जितना सहज रूप से निकलता है, उतना सहज रूप से 'गौरी के समक्ष' वाला अर्थ निकलता नहीं प्रतीत होता। काव्य दोषों की दृष्टि से विचार किया जाय, तो यहाँ 'विरुद्ध मतिकृत्त्व' दोष है। यह दोष सामासिक पदों में ही होता हैं। यह दोष वहाँ होता है, जहाँ विवक्षित अर्थ से विपरीत अर्थ ही समास गत विभिन्न शब्दों से अनायास निकल आवे, यहाँ ऐसी ही स्थिति होती है। उचित था, कि यहाँ 'गौरी-पति' की जगह 'गौरी-समक्ष' ही कहा गया होता।

एक उल्लेखनीय बात 'ऊधम' के संबंध में भी है और वह यह है कि वस्तुतः गणेश जी कुमार को चिढ़ा रहे हैं, कुछ 'ऊधम' नहीं मचा रहे हैं। यद्यपि 'ऊधम' भी एक प्रकार का चिढ़ाना ही है, पर सर्वत्र ये दोनों शब्द पर्याय की तरह प्रयुक्त नहीं हो सकते। 'चिढ़ाने' के तो बहुत से प्रकार हो सकते हैं, चुपचाप रहना भी कभी चिढ़ाने का प्रकार हो सकता है, पर ऊधम के लिये यह स्थिति नहीं है। वस्तुतः तो 'ऊधम' शब्द का प्रयोग वहाँ किया

जाता है, जहाँ कोई व्यक्ति शांतिपूर्वक बैठकर अपना कार्य कर रहा हो, और अन्य बालक अपनी चपलतावश खलल पैदा कर रहे हों। खलल डालने वाला बालक एक भी हो सकता है और अनेक भी। चतुर्वेदी जी का यह आग्रह बहुत रुचिकर नहीं जान पड़ता कि 'ऊधम' में समष्टि का योग होना ही चाहिए।

(३) वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य :—ऊपर बताया गया है कि अंगभाव दो प्रकार का होता है उपपादक और उपकारक। वाच्यसिद्धि का जो व्यंग्य अंग होता है, वह उपपादक ही होता है, उपकारक नहीं। उपपादक एवं उपकारक में अंतर यह है कि प्रथम असिद्ध का साधक होता है और दूसरा सिद्ध का शोभाधायक। दूसरी बात इस प्रभेद में ज्ञातव्य यह भी है कि यहाँ का व्यंग्य, जिसका अंग (साधक) होता है, वह वाच्यार्थ मात्र है। व्यंग्यार्थ इसी अपने आप में असिद्ध वाच्य की सिद्धि करता है। एक उदाहरण लीजिये—

'वह है भुवनापराजिता, निज मानस मग्न मीन में।
पर प्राप्त मुझे महदद्भुता, सुख था भरपूर तात को।
—साकेत १० वाँ सर्ग

उक्त पद्य के प्रथमार्द्ध का द्वितीय चरण ही वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य का उदाहरण है। यहाँ उर्मिला वक्ता है। अंत में अर्थात् उर्मिला पर ही 'मीन' का आरोप हुआ। यह आरोप उपमेय पर उपमान का है, अतः यह गौणीसारोपा-लक्षणा का स्थल है और इस लक्षणा का उपयोग तो 'रूपक' में होता ही है, अतः यहाँ रूपक अलंकार हुआ। यहाँ 'रूपक' अलंकार वाच्य है। प्रस्तुत उपमान और उपमेय कवि परंपरा में गृहीत नहीं है, अतः यह 'रूपक' का भेद परंपरित रूपक है। यद्यपि 'मीन' की उपमानता प्रसिद्ध है, पर यह प्रसिद्धि परंपरा में 'आँखों' के साथ है, न कि किसी व्यक्ति के साथ। सारांश यह कि इसे परंपरित रूपक होने में कोई संदेह नहीं है।

पूर्व चर्चित (बीती विभावरी) परंपरित रूपक की भाँति यहाँ भी आरोप के असिद्ध होने से वाच्य 'रूपक' भी असिद्ध ही है। असिद्धि का कारण यह है कि रूपक में उपमेय पर उपमान का आरोप होता है, परंतु यह आरोप तब सिद्ध माना जाता है, जब विषय (उपमेय) एवं विषयी (उपमान) में सादृश्य हो और सादृश्य तब संभव है, जब दोनों में कुछ साधारण धर्म हो। पहले बताया जा चुका है कि यह समान धर्म दो तरह से प्राप्त किया जाता है। पहला यह कि दोनों उपमान एवं उपमेय के परंपरा गृहीत होने से इनके

समान धर्म अति प्रसिद्ध हों, चाहे उनका पथ में ग्रहण किया गया हो या न किया गया हो। दूसरे यह कि यदि वह समान धर्म परंपरासिद्ध नहीं है तो सर्वथा कवि निर्मित होने के कारण नवीन ही होगा। यहाँ के आरोप में तो प्रथम पक्ष संभव नहीं है, अतः दूसरा पक्ष ही संभव हो सकता है। यही कारण है कि सर्वथा नवीन समान धर्म की निष्पत्ति के लिये कवि ने यहाँ अन्य आरोप का विधान किया है यह अन्य आरोप है मानसमग्नता। यही आरोप समान धर्म के निर्माण में उपाय है। यहाँ मानस (मनोजगत्) पर मानस (मानसरोवर) का आरोप है। यहाँ विषय तथा विषयी दोनों एक ही श्लिष्ट पद 'मानस' से उपस्थित हो जाते हैं। एक पद से दोनों अर्थों की प्राप्ति होने के कारण दोनों अर्थों में श्लेषमूलक अभेद निश्चय हो जाता है। दोनों अर्थों की अभिन्नता संपन्न हो जाने पर 'मानसमग्नता, एक धर्म हो जाता है और इस प्रकार यह 'मानसमग्नता' उर्मिला तथा मीन दोनों का साधारण धर्म बन जाता है। इसी साधारण धर्म से सादृश्य की सिद्धि होगी और सादृश्य से आरोप की। इस प्रकार जब आरोप सिद्ध हो जायगा, तो वाच्य रूपक की भी चतुरस्र प्रतिष्ठा हो जायगी अर्थात् उसकी पूर्ण सिद्धि हो जायगी।

इस प्रक्रिया में फिर भी एक प्रश्न शेष ही रह जाता है। यहाँ प्रधान आरोप की सिद्धि में दूसरा आरोप कारण बताया गया है, पर दूसरा आरोप अपने लिये उपमान एवं उपमेय स्वरूप दो अर्थों की पृथक पृथक उपस्थिति चाहता है। यद्यपि उपमान (मानसरोवर) एवं उपमेय (मनोजगत्) दोनों अर्थों की उपस्थिति एक ही 'मानस' शब्द से होती है, फिर भी श्लिष्ट पदों से अनेक अर्थ अभिधा से वहाँ मिलते हैं, जहाँ ये अनेक अर्थ प्राकरणिक-अथवा अप्राकरणिक ही होते हैं। प्रस्तुत स्थल में ऐसी बात नहीं है। यहाँ 'मानस' पद से उपर्युक्त प्रकार के जो दो अर्थ मिलते हैं, उनमें से एक अप्राकरणिक तथा दूसरा प्राकरणिक है। अतः 'मानस' पद की अभिधा से पहले वही अर्थ उपस्थित होगा, जो प्राकरणिक हो और यहाँ प्राकरणिक अर्थ है 'मनोजगत्' अतः 'मानस' पद की अभिधा पहले इसी अर्थ का उपस्थापन करती है, पर इस एक ही अर्थ से प्रधान आरोप का साधक अंगभूत आरोप सिद्ध नहीं होगा, अतः दूसरी बार शब्द की व्यंजना शक्ति से 'मानसरोवर' स्वरूप उपमान भूत अर्थ की भी प्रतीति होती है। 'मानस' शब्द की प्रसिद्धि दोनों अर्थों में समकोटि की है, अतः यहाँ 'निहतार्थत्व' दोष भी नहीं है, सारांश यह कि 'मानस' पद की अभिधा शक्ति से प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति

हो जाने पर भी, जब तक शाब्दी व्यंजना से उपमाभूत 'मानसरोवर' की प्रतीति नहीं होगी, तब तक साधक आरोप का स्वरूप नहीं बन पायेगा और साधक आरोप जब तक नहीं बनता, तब तक प्रधानतः वाक्य रूपक सिद्ध ही नहीं होगा। इस रीति से यह स्पष्ट है कि वाच्य रूपक की सिद्धि में अप्राकरणिक व्यंग्य अर्थ की अपेक्षा है। इस स्थिति में व्यंग्यार्थ, वाच्य की सिद्धि में अंग या उपपादक है, अतः उक्त उदाहरण निर्विवाद रूप से वाच्य सिद्ध्यंग गुणीभूत व्यंग्य का लक्ष्य हुआ।

पंडित रामदहिन मिश्र ने जो निम्नलिखित उदाहरण दिया है, वह युक्तियुक्त न होने के कारण ग्राह्य नहीं है। उन्होंने निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

'खेलन सिखिये अलि भले चतुर अहेरी मार।
कानन चारी नैन मृग नागर-नरनु शिकार॥'

यहाँ पर पंडित जी ने 'नैन-मृग' इस प्रधान आरोप की सिद्धि में 'कानन-चारी' को उक्त पद्धति से साधक आरोप माना है। पर वस्तुतः यहाँ परंपरित रूपक ही नहीं है। यहाँ 'नैन' एवं 'मृग' का उपमानोपमेय भाव संबंध कवि परंपरागृहीत है। कवियों ने अनेक स्थलों पर स्वयं मृग को नेत्रों का उपमान बनाकर प्रयुक्त किये हैं। अतः यह कहने का अवकाश नहीं है कि उपमानोपमेय भाव केवल मृगनेत्र का ही मानवी नेत्रों से है, मृग का नहीं। इन दोनों का उपमानोपमेयभाव जब कवि परंपरा से गृहीत है, तो उनकी सिद्धि में अपेक्षित साधारण धर्म 'चापल्य' आदि प्रसिद्धि वश ही आ जायेंगे, उनके लिए द्वितीय आरोप के विधान की आवश्यता नहीं हैं। फिर यहाँ रूपक का कौन सा प्रभेद होगा? यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है। उत्तर में निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यहाँ 'सावयव' या 'सांग' रूपक है। सांग रूपक से परंपरित रूपक में यही अंतर होता है कि सांग रूपक के 'रूपक' प्रसिद्ध उपमान एवं उपमेय को लेकर व्यवहृत होते हैं, जब कि परंपरित में कवि कल्पित।

(४) अस्फुट व्यंग्य—व्यंग्यार्थ की चार प्रकार की सत्ता का साहित्य में उपयोग है। सर्वप्रथम हम व्यंग्यार्थ की सत्ता को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं— स्फुट एवं अस्फुट। अस्फुट जब आगे बढ़ता है तो अतिस्फुट हो जाता है और अस्फुट जब आगे बढ़ता है तो अति अस्फुट। आचार्य ने स्फुट

एवं अस्फुट की सीमा निर्धारित करते हुए कहा है कि (१) वह व्यंग्य जो केवल सहृदय मात्र को अनायास ही झलक सके, 'स्फुट' कहा जाता है (२) और जिसकी प्रतीति सहृदयों को सायास होती हो, वह 'अस्फुट'। 'स्फुट' व्यंग्य (३) अति स्फुट की सीमा पर तब पहुँचा हुआ कहा जाता है, जब उसे असहृदय लोग भी शीघ्र पकड़ लेने लगें। (४) और अस्फुट व्यंग्य अस्फुटतर तब होता है, जब उसमें कवि की सर्वथा विवक्षा न हो, और इसीलिये सहृदयों के कष्टकर प्रयत्न से भी गृहीत न हो पाता हो। किस प्रकार 'व्यंग्य' स्फुट से अति अस्फुट की सीमा पर पहुँच गुणीभूत हो जाता है, उसी प्रकार 'स्फुट' से 'अस्फुट' होकर भी। 'अस्फुटतर' व्यंग्य की सत्ता का संबंध ध्वनिवादियों ने 'चित्र-काव्य' से सिद्ध किया है।

व्यंग्यार्थ की उक्त चार प्रकार की सत्ताओं में उसकी अस्फुट सत्ता का ही संबंध इस प्रसंग में ग्राह्य है। एक उदाहरण लीजिए—

अगर मैं मिलता हूँ डरकर मिला है, यह शत्रु मेरे कहेंगे, नहीं यह मर्दानगी।

× × × ×

यदि लूँ तलवार तो धार पर बहेगा खून, दोनों ओर अपना ही।

—'शिवाजी का पत्र' (निराला)

इस युक्ति से सबसे पहले शिवा जी की 'बेवशी या लाचारी' ही व्यक्त होती है, पर प्रकरण आदि की सहायता से विचार करने पर शिवा जी का यह अतिगूढ़ अभिप्राय व्यक्त होता है—'जयसिंह! तुम उसका साथ छोड़कर हम जैसे गौ एवं ब्राह्मण की रक्षा करने वाले हिंदुओं के साथ हो जाओ।' इस व्यंग्य की प्रतीति सहृदयों के लिये भी कष्टसाध्य है, अतः इसे हम निर्विवाद रूप से अस्फुट व्यंग्य कह सकते हैं।

(५) काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्यः—शब्द का अर्थ जब काकु की सहायता से किसी अन्य अर्थ का आक्षेपक बन जाता है, तो वहाँ का व्यंग्य काकाक्षिप्त कहा जाता है। इस प्रकार के व्यंग्यार्थ की स्थिति उत्तम, मध्यम एवं अधम तीनों प्रकार के काव्यों में होती है। काकु से आक्षिप्त व्यंग्यार्थ को विशेष दशा में 'ध्वनि' तो कहते ही हैं, गुणीभूत व्यंग्य भी कहते हैं और चित्र काव्य या अधम काव्य का एक भेद है—वक्रोक्ति अलंकार। इस वक्रोक्ति अलंकार के काकुवक्रोक्ति में भी काकु से आक्षिप्त अर्थ का उपयोग है। अतः

काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य को स्पष्ट रूप से समझने के लिये इतर दोनों काव्य-प्रकारों से इसका वैधर्म्य या पार्थक्य स्पष्ट समझ लेना चाहिए। गुणीभूत व्यंग्य एवं ध्वनि स्थल के काक्वाक्षिप्त व्यंग्यार्थ से 'काकु वक्रोक्ति' के काक्वाक्षिप्त व्यंग्यार्थ में सबसे प्रधान अंतर यह है कि प्रथम दोनों प्रकारों का काक्वाक्षिप्त व्यंग्यार्थ ज्यों का त्यों मूल वक्ता को अभिप्रेत होता है, पर 'काकु वक्रोक्ति' में जो अर्थ काकु से अक्षिप्त होता है वह श्रोता या ग्राहक की अपनी योजना होती है, वह अर्थ वक्ता को अभिप्रेत नहीं होता। दूसरा अंतर यह भी है कि प्रथम दो प्रकारों में वाक्य में वस्तुतः काकु होता है और प्रसंगोपयोगी अर्थ में उसकी सहायता अत्यंत अपेक्षित है, जब कि काकु वक्रोक्ति में प्रयोक्ता के मूल वाक्य में वस्तुतः काकु की योजना रहती ही नहीं है, बल्कि वहाँ तो काकु योजना ग्राहक अपने मन से कर लेता है। तीसरा अंतर काकु वक्रोक्ति का उनसे यह भी है कि यह वक्ता एवं श्रोता के बीच होती है, जब कि इतर दोनों अपनी-स्वरूप-निष्पत्ति में श्रोता के अभिप्रेत अर्थ की अपेक्षा नहीं करते। गुणीभूत व्यंग्य एवं ध्वनि का काकुवक्रोक्ति से स्पष्ट अंतर जान लेने पर, अब यह देखना चाहिए कि स्वयं गुणीभूत व्यंग्य एवं ध्वनि में क्या अंतर है? काकु से आक्षिप्त अर्थ जहाँ वाच्यार्थ को संगत बनाने में उपयोगी है, वहाँ तो वाच्य का साधक होने से गुणीभूत हो जाता है, पर जिस काक्वाक्षिप्त व्यंग्यार्थ के बिना भी वाच्यार्थ संगत प्रतीत हो, वह ध्वनि का विषय हो सकता है।

इन तीनों काव्य प्रभेदों के स्थलों का सोदाहरण स्थापना करने से पूर्व हम थोड़ा 'काकु' शब्द के अर्थ पर भी विचार कर लें। प्रायः हम बोलने में बहुधा स्वरों का सहज ढंग से उच्चारण करते हैं, पर कभी कभी उसे विशेष अभिप्राय से विकृत करके भी उच्चरित करते हैं। यही विकृत स्वर या स्वर की विकृति काकु है। स्वर की इस विकृति से भी हम अपने कुछ हार्दिक भावों को व्यक्त करना चाहते हैं। यही अर्थ काक्वाक्षिप्त अर्थ कहा जाता है उदाहरणार्थ एक वाक्य है—'नहीं हैं'। यदि इसी वाक्य का उच्चारण सहज ढंग से एक ही झोंक में कर दें, तो स्पष्ट ही यह वाक्य किसी व्यक्ति की सत्ता का निषेध अभिहित करेगा उसी वाक्य के उच्चारण को प्रश्नात्मक ढंग से विकृत कर दें तो उस व्यक्ति की सत्ता की जिज्ञासा व्यक्त होगी। उसी वाक्य को 'नहीं हैं' अर्थात् 'नहीं' के अंतिम स्वर पर थोड़ा ठहर जायँ और तब 'हैं' का उच्चारण करें, तो व्यक्ति के संबंध में जो कुछ ज्ञात होगा, वह यह कि 'वह अवश्य हैं।' इस प्रकार स्वर के विकृत कर देने पर एक ही वाक्य से तरह तरह के अर्थ

व्यक्त हो सकते हैं। सारांश यह कि एक ही वाक्य से नाना प्रकार की अर्थ-प्राप्ति में उपयोगिनी उच्चारण की विकृति ही 'काकु' है।

अब पूर्व-प्रतिज्ञा के अनुसार काव्य के तीनों प्रकारों में काकु की क्रिया की सोदाहरण व्याख्या अवसर प्राप्त है, अतः उसे देखना उचित है। काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण—

रसिक वाचक कामनाओं के चपल,
समुत्सुक व्याकुल पगों से प्रेम की।
कृपण बीथी में विचर कर कुशल से,
कौन लौटा है हृदय को साथ ले।
—'ग्रंथि' से

इस पद के चौथे चरण में वांछित अर्थ की प्राप्ति करने के लिये 'कौन' शब्द के उच्चारण में शब्द को विकृत करके उच्चारित करना पड़ता है, पर यहाँ स्वर को विकृत करना ही पड़ता है और विकृत करने पर भी वाच्यार्थ से कोई अतिरिक्त अर्थ नहीं मिलता। वाच्यार्थ भी 'प्रश्नपरक' है, जो 'क्या' से स्पष्ट है और काकु की सहायता से भी वही अर्थ आता है, अतः काक्वाक्षिप्तगुणभूत-व्यंग्य का यह उदाहरण हो ही नहीं सकता। वस्तुतः काकु से निकलने वाला अर्थ वह है, जिसका वाचक शब्द वाक्य में नहीं। वाचक शब्द के प्रयोग से तो वह अर्थ अभिधेय ही हो जाता है, व्यंग्य नहीं। प्रस्तुत उदाहरण ऐसा ही है। यहाँ जो प्रश्न काकु की सहायता से प्रतीत होता है, वह 'क्या' शब्द का ही अर्थ है, जो इस काकु से थोड़ा और स्फुट हो जाता है।

इन गढ़ों में—रूप के आवर्त से—
घूम फिर कर, नाव से किसके नयन
हैं नहीं डूबे, भटककर, अटक कर,
भार से दबकर तरुण सौंदर्य के
—'ग्रंथि' से

यहाँ भी 'प्रश्न' का वाचक 'किसके' शब्द का मूल वाक्य में ही उपादान है, अतः यह उदाहरण भी ठीक नहीं है। काक्वाक्षिप्त का उचित ज्ञान करने के लिए इन प्रत्युदाहरणों की चर्चा की गई है। वस्तुतः काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य का निम्नलिखित उदाहरण है—

'प्रेम अर्चना यही, करें हम मरण को वरण ?
स्थापित कर कंकाल भरें जीवन का प्रांगण
शव को दें हम रूप, रंग आदर मानव का
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का ।'

—'ताज' (पंत का आ० क०)

इस पद्य की प्रत्येक पंक्ति का काकु-निरपेक्ष अर्थात् अविकृत ढंग से उच्चारण किया जाय, तो निम्नलिखित वाच्यार्थ शब्द की अभिधा शक्ति से आ सकेगा। 'हम मरण (मृतक) का वरण करें यही प्रेम की अर्चना है। मृतक की प्रणयोपासना में हम इतने विभोर हो जायँ, उसकी समर्चा में हम इतने भौतिक वैभवों को बिखेर दें, उसे अरुणाभ बनाने में हम संसार को इतना चूस डालें, कि वह कंकालों की ढेर से भर जाय। हम इस प्रकार की अंधोपासना से 'शव' के लिए तो संपूर्ण मानवीय आदर, रूप एवं रंगों की राशि चढ़ावें और इस चरम-निष्ठा से उस ओर झुक जायँ कि स्वयं मानव, शव का कुत्सित प्रतिरूप बन जाय।' एक ओर इस भाव को रखें और दूसरी ओर मरण के इस अपार्थिव पूजन से अत्यधिक संक्षुब्ध वक्ता की मनःस्थिति पर दृष्टिपात करें, तो स्पष्ट ही उक्त वाच्यार्थ की असंगति झलक जायगी। संक्षुब्ध व्यक्ति उन क्रियाओं में 'अनौचित्य' की चरम झलक दिखाना चाहता है, जो 'काकु' की सहायता से व्यक्त हो सकता है। काकु की सहायता से उक्त सभी पंक्तियों के अर्थ प्रश्नात्मक हो जायँगे और शवोपासक के क्रूरतापूर्ण अनौचित्य को व्यक्त कर सकेंगे और वक्ता की मनःस्थिति से परिचित व्यक्ति को यह अर्थ तत्काल भासित हो जायगा, अतः स्फुटतर होने के कारण उतना चमत्कारी न होगा और इसलिए भी वह काक्वाक्षिप्त व्यंग्य गुणीभूत व्यंग्य की ही कोटि का होगा, वाक्यार्थ को संगत बनाने के कारण तो वह गुणीभूत है ही।

यह प्रकार वाच्यासिद्ध्यंग व्यंग्य से भी कुछ मिलता जुलता है। जिस प्रकार व्यंग्यार्थ यहाँ असंगत वाच्यार्थ को संगत बनाने में उपयोगी है, वही स्थिति वाच्यासिद्ध्यंग व्यंग्य की भी है। फिर भी दोनों की व्यंजक सामग्री में अंतर है। यहाँ 'काकु' शब्दार्थ की 'व्यंजना शक्ति का उत्थापक है, जब कि वाच्यासिद्ध्यंगव्यंग्य में नहीं।

काकुवक्रोक्ति का उदाहरण :—मान लीजिए किसी नव-वधू का नायक परदेश-गमन कर रहा हो, इस अवसर लज्जावश स्वयं तो नहीं, पर अपनी

किसी सहेली से उसने पुछवाया हो कि 'वे कब आयँगे ? मधुमास के उद्दीपक काल तक क्या लौटने की कृपा करेंगे ? और इस प्रश्न का उत्तर नायिका की सहेली को वस्तुतः न लौटने के ही अभिप्राय से नायक दे 'मैं उस समय तक नहीं आ सकता' और सन्निहित वधू भी इस वाक्य को सुन गई हो, फिर भी आशा-भरे शब्दों में सहेली 'पूछ ही बैठे—'कहो, क्या उत्तर दिया ? सुना, वे कह रहे थे 'उस समय तक नहीं आ सकता' क्या बात है ? 'सहेली नायिका को संतोष देने के लिए उक्त वाक्य में काकु की योजना करती है और समझाती है कि वस्तुतः उन्होंने कहा यह 'मैं इस समय तक नहीं आ सकता ? अर्थात् उस समय तक तो अवश्य ही आ जाऊँगा, संभव है पहले भी आ जाऊँ ।' उक्त वाक्य का स्वर-विकार से ही दो अर्थ निकाला गया, पर द्वितीय अर्थ जो चतुर मध्यस्थ का भाष्य है, वह न तो वक्ता को अभिप्रेत ही है और न प्रकरण में असंगति का निवारक ही। गुणीभूत व्यंग्य में स्पष्ट ही यह स्थिति नहीं है ।

(काक्वाक्षिप्त) ध्वनि का उदाहरण :—

'किती न गोकुल की वधू काहिन किहि सिखि दीन ।
कौने तजी न कुल गली, ह्वै मुरली सुर लीन ।।'

वि० स०

मुरली की मादक तान सुनकर कोई गोपिका उत्कंठा की चरम काष्ठा पर पहुँच चुकी है और लोक वेद की शृंखला को न मान कर भगवान से अभिसरण करने के लिए उद्यत है । इस स्थिति में कोई अन्य स्त्री उसकी इस लोक-गर्हित प्रवृत्ति पर आक्षेप करती है, समाज एवं शास्त्र की विविध व्यवस्थाओं को सामने रखती है, उसे तरह तरह से समझाती है, पर वह सारी शिक्षा हस्ति-स्नान से अधिक महत्व नहीं रखती। बार बार मनोविरोधी उपदेशों को सुनकर वह गोपी उलटे इतनी क्रुद्ध हो जाती है, कि वह उसकी उपेक्षा कर जाती है और सारे समाज की ही अपनी सी स्थिति बताकर अपनी प्रवृत्ति को भी मानवीय स्वभाव का दास बताती है—और अपना समर्थन करती है ।

यहाँ प्रत्येक चरणों में तो काकु है ही, उनसे पृथक् समस्त पद्य-व्यापी काकु भी है । प्रथम काकु वाच्यार्थ के संगत बनाने में उपयोगी है, पर समस्त पद्य में रहने वाला 'काकु' वाच्यार्थ की संगति बैठ जाने के अनंतर एक और

अतिरिक्त अर्थ लाता है। यह अर्थ स्वतंत्र एवं चमत्कारकारी होने से ध्वनि का विषय बन जाता है।

प्रस्तुत पद्य के प्रत्येक पाद से जो भिन्न भिन्न व्यंग्यार्थ निकलते हैं, उनका विवरण यों है (१) किती न गोकुल कुल बधूः—अर्थात् गोकुल में प्रायः सभी कुलवधू ही तो हैं। (२) काहि न किहि सिख दीनः—सभी को सब ऐसी शिक्षाएँ देती रहती हैं (३) कौने तजी न कुल गलीः—सभी ने कुल-मर्यादा छोड़ दी है। ये काक्वाक्षिप्त अर्थ ही प्रकरण के अनुसार वाक्यार्थ को संगत बना सकते हैं। विशेष ध्यान देने पर समस्त वाक्य व्यापी काकु से यह अर्थ निकलता है 'तुम मुझे अब ऊपदेश दे रही हो ? क्या कभी मुरली मनोहर की मुरली की मनोहर ध्वनि सुनकर और मेरी जैसी दशा को प्राप्त होकर परोपदेश की शृंखला में अपने को बाँध सकी हो ? क्या नंदकिशोर के पास जाने से अपने को रोक सकी हो ? कदाचित् कभी नहीं। फिर इतना भुक्त भोगी होकर मुझे क्यों व्यर्थ उपदेश दे रही हो ? ठीक कहा है, उपदेश दूसरों के लिए ही होते हैं—'वाच्यार्थ की संगति लग जाने के अनंतर विशेष ध्यान देने से जो यह व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है, वह ध्वनि कहा जाता है।

इस प्रकार काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यंग्य, ध्वनि एवं काकु वक्रोक्ति के परस्पर अंतर का निरूपण सांगोपांग हो चुका।

(६) संदिग्ध प्राधान्यः—'आलोक' कार ने कहा है कि साहित्य में वही अर्थ प्रधान कहा जाता है, जो अपेक्षाकृत सबसे चारु हो। चारु वही होता है, जो सहृदय समाज को अधिक चमत्कृत करे। चमत्कारक रस, अलंकार एवं वस्तु इन इन तीनों में से कोई हो सकता है। जिस स्थल में व्यंजक एवं व्यंग्य दोनों से एक ही तरह की चारुता निष्पन्न होती हो, तो यह कहना कठिन हो जाता है कि कवि की प्रतिभा का संरम्भ किस अर्थ पर है ? और संरंभ का निर्णय होने से प्रधान्य का निर्णय होता है। ऐसे स्थलों में इस संरंभ का निर्णायक कोई प्रमाण या तर्क न हो और दोनों अर्थों का प्राधान्य का एक साथ कभी संभव न हो, तो ऐसे स्थल में यह संदेह सदा के लिए रह ही जाता है, कि किस अर्थ को प्रधानता दी जाय ? व्यंजक को या 'व्यंग्य को ? अतः यहाँ का प्राधान्य संदिग्ध ही रह जाता है।

इंदु पर उस इंदु मुख पर साथ ही,
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से—
लाज से रक्तिम हुए थे, पूर्व को पूर्व था
पर वह द्वितीय अपूर्व था।

—ग्रंथि

प्रस्तुत पद में तरुण लेखक की स्मर्यमाण रति का वर्णन है। इसमें उसकी उस वासना से रंगी हुई दृष्टि का वर्णन है, जो उसकी अपनी हृदय-रंजना अनुरक्त प्रेयसी के मुख पर पड़ी हुई है। मुख ऐसा, जो लज्जा-प्रसूत अरुणिमा से नितांत छबीला हो रहा है।

इस रागपूर्ण प्रेक्षण से यह व्यंग्य होता है कि नायक प्रेयसी के मुख का चुंबन चाहता है, अन्यथा मुख का इतना उद्दीपक चित्र क्यों खींचता है? इस प्रकार 'रागपूर्ण-प्रेक्षण' एक अनुभाव है, जिससे 'चुंबन की इच्छा' व्यंग्य होती है। इस प्रकार यहाँ अनुभाव वाच्य है और इच्छा व्यंग्य।

यहाँ वाच्य अनुभाव दो प्रकार से शृंगार के स्थायी की चर्वणा कराने में समर्थ है—साक्षात् भी, परम्परया भी। 'परम्परया'—कहने का तात्पर्य यह है कि वाच्य अनुभाव 'चुम्बनेच्छा' को व्यक्त कर उत्सुकता का अतिरेक द्योतन करता है, जो स्थायी रति की चर्वणा में पर्यवसन्न है। वही वाच्य अनुभाव साक्षात् भी रति का अनुभाव होने के कारण रति स्थायी की चर्वणा करा सकता है। यदि साक्षात् वाच्यार्थ को स्थायी का प्रकाशक कहें, तब तो साक्षात् चमत्कार प्रयोजक होने से (चमत्कार प्रयोजकत्व स्वरूप) प्राधान्य वाच्यार्थ को ही प्राप्त है और यदि परम्परया अर्थात् 'चुम्बनेच्छा' रूप व्यंग्यार्थ द्वारा उसे स्थायी का प्रकाशक मानेंगे, तो व्यग्यार्थ को ही (चमत्कार प्रयोजकत्व रूप) प्राधान्य मिल जायगा। अब यह निर्णय किस प्रकार हो सके? कि कवि को साक्षात् स्थायी की चर्वणा करानी वांछित है, या परम्परया? यही निर्णय न हो सकने के कारण (चमत्कार प्रयोजकत्व स्वरूप) प्राधान्य अनिर्णीत या संदिग्ध रह जाता है।

(७) तुल्य प्राधान्य—यहाँ भी वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ दोनों समरूप से प्रतिपाद्य की सिद्धि में तत्पर होते हैं, पर संदिग्ध प्राधान्य वाले स्थल की भाँति यहाँ की स्थिति नहीं है। संदिग्ध प्राधान्य में वाच्य एवं व्यंग्य दोनों की चमत्कार-प्रयोजकता विवक्षित नहीं होती, क्योंकि दोनों में से प्रत्येक जब

समान कोटि का ही चमत्कार उत्पन्न करते हैं, तो निश्चित है, कि उनमें से कोई एक ही पथ कवि को विवक्षित है, पर यहाँ वाच्य एवं व्यंग्य भिन्न भिन्न ढंग से प्रतिपाद्य की दोहरी पुष्टि करते हैं और प्रकरण की दृष्टि से दोनों पथ विवक्षित जान पड़ते हैं। दोनों अर्थों में कवि की विवक्षा होने से दोनों का सम-प्राधान्य होता है।

गूँज रहे मेरे कानों में
बन जागृति के अभिनव स्वर
दौड़ गई मेरे प्राणों पर
श्रम सत्ता की नई लहर
मैं कहता हूँ वर्ग चेतना
युग की प्रबल चुनौती है,
युग - युग के विकास की
विश्वासों की रुकी मनौती है।'

—अंचल

प्रगतिवादी कवि 'शोषक वर्ग' को लक्ष्य कर उसे सावधान हो जाने के लिए, अपनी शोषक प्रवृत्ति को मिटा देने के लिए यह संदेश देता है, कि 'वर्ग-चेतना' उन्हें अब चुनौती देती है। प्रस्तुत वाक्य का प्रतिपाद्य यही है 'शोषक अब अपनी शोषण-प्रवृत्ति का परित्याग कर दें' इस प्रतिपाद्य का प्रतिपादक वाच्यार्थ भी है। यहाँ वाच्यार्थ से केवल यह कहा जा रहा है कि अब शोषक की नहीं चल सकती, उसका कल्याण इसी में है कि शांतिपूर्ण ढंग से अपनी अन्याय-प्रवण प्रवृत्ति छोड़ दे। यहाँ 'साम' रूप उपाय से प्रतिपाद्य की सिद्धि की गई है। इस वर्ग चेतना की चुनौती' से यह व्यंग्य भी हो सकता है कि यदि शोषक अपनी प्रवृत्ति से नहीं हटा तो श्रमिक-वर्ग न्याय के लिए उनका दमन भी कर सकता है। इस प्रकार 'दंड' नीति व्यंग्य है। यहाँ 'साम' एवं 'दाम' दोनों ही प्रतिपाद्य की सिद्धि के लिये उपयोगी होने से कवि को विवक्षित हो सकते हैं, अतः दोनों अर्थों-वाच्य एवं व्यंग्य का सम-प्राधान्य है।

(८) असुंदर व्यंग्य—असुंदर व्यंग्य वह कहा जाता है जो सुंदर न हो। भारतीय सौंदर्य आंतर है और अंतर की वस्तु आत्मा है—रस है। अतः सुंदर वही है, जो रसमय हो अर्थात् जो रस की अपेक्षाकर उत्कट प्रतीति कराता हो। कहीं कहीं व्यंग्यार्थ ऐसा भी मिल जाता है, जो वाच्यार्थ की

अपेक्षा कम सुंदर कम रसमय होता है। ऐसा ही व्यंग्य 'असुंदर' कहा जाता है।

'ऐसे परुष बचन सुन पति के क्षुब्ध हुई वह बाला।
भ्रू मिस से उसने स्मर का सा चाप भंग कर डाला॥
—गुप्तकृत 'शकुंतला'।

यह वर्णन गर्भिणी शकुंतला की उस स्थिति का है, जब वह अपने धर्म बंधुओं एवं आश्रम माता के बीच भरे दरबार एक कोने में साधारणजन सी खड़ी कर दी गई थी और कपटी दुष्यन्त से धुआँधार अप्रत्याशित निरादर पर निरादर पाती जा रही थी, क्रूर व्यवहार सहती जा रही थी। दुष्यंन्त के इन सारे व्यवहारों के उत्तर में केवल उसने अपने भोले मुख को क्रोध से रक्तिम बना डाला और भौंहों को ऊपर चढ़ा लिया। दुष्यंत के सारे व्यवहारों का उत्तर इसी अनुभाव में भरा हुआ था। इस अनुभाव से व्यंग्य होता है 'दुष्यंत। तुम कितने लंपट एवं निर्दय हो, तुमने एक भोले हृदय के साथ जैसा अद्वितीय विश्वासघात किया है, उसे शब्दों से व्यक्त नहीं किया जा सकता।' उक्त अनुभाव से यह वस्तु व्यक्त होती है। पर क्रोध स्थायी भाव की जैसी रमणीय चर्वणा उक्त वाच्य अनुभाव से जिस कोटि की हो रही है, उस कोटि की व्यंग्य वस्तु से नहीं। यहाँ की व्यक्त वस्तु दुष्यंत में अनिष्टकारिता की प्रतीति कराती है और तब अनिष्टकारी के प्रति क्रोध, जबकि अनुभाव साक्षात् क्रोध की व्यंजना करता है। अतः वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ असुंदर (कम सुंदर) हुआ। यही कारण है कि प्रस्तुत उदाहरण असुंदर नामक गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण हुआ।

गुणीभूत व्यंग्य के प्रकारों की चर्चा ध्वन्यालोककार ने यत्र-तत्र बिखरे हुए रूप में किया है। उक्त आठ प्रकार का सुयोजित विभाजन मम्मट के अपने परिश्रम का फल है। आलोककार ने तो सभी अलंकारों को गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण कहा है, क्योंकि ऐसा कोई भी अलंकार नहीं है, जहाँ 'अति[१]-शयोक्ति' गर्भ में न हो। अतिशयोक्ति सभी अलंकारों का मूल है। इसी के कारण अलंकार के उपकरणों में लोकोत्तरता का प्रवेश होता है और इसीसे

१—सैषासर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनयाविना।
—काव्यालंकार

वैचित्र्य या चमत्कार की प्रतीति होती है। वैचित्र्य ही अलंकार है। कुछ अलंकारों में परस्पर गर्भता होती है, जैसे—उपमा स्थल में दीपक तथा दीपक स्थल में उपमा व्यंग्य रहती है। कुछ की नियत अलंकारों में ही व्यंग्य रूप से स्थित है, जैसे—विभावना, विशेषोक्ति आदि में विरोध व्यंग्य होता है। इनके अतिरिक्त कुछ अलंकार-पर्यायोक्त, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजस्तुति, समासोक्ति—ऐसे भी हैं, जो वस्तुतः गुणीभूत व्यंग्य के ही प्रभेद हैं, उन्हें परंपरा के अनुरोध से ही अलंकार कहा जाता है।

इस गुणीभूत व्यंग्य के प्रकाशकार आदि के मत से ४२, सुधासागरकार के मत से ४५ भेद शुद्ध हैं इसके सजातीय भेदों एवं विजातीय भेदों के संकर एवं संसृष्टि से असंख्य भेद हो जाते हैं। संक्षेप में गुणीभूत व्यंग्य के ये ही प्रभेद हैं। आज की नवीन कविता इस पुराने ढांचे को ध्यान में रखकर लिखी नहीं जाती, अतःइनके उदाहरण बड़ी कठिनता से मिल पाते हैं। फिर भी उक्त उदाहरणों से यह सिद्ध है कि हिंदी में व्यंजना ने अपने प्रसार का पुराना मुख बंद नहीं किया है।

———

द्वितीय परिच्छेद

'ध्वनि' के रूप में प्रसार

काव्य में व्यंजना की गौण स्थिति का विचार पूर्व प्रकरण में अभी अभी किया जा चुका है अब नवीन कविता में व्यंजना की वह स्थिति देखनी है, जहाँ वह प्रधान रूप से प्रयुक्त हुई है या हो रही है। व्यंजना की प्रधान अवस्था में उसे 'ध्वनि' या 'ध्वनन' व्यापार कहते हैं। जिस काव्य में उक्त स्थिति होती है, उसे ध्वनि काव्य कहते हैं। आनंदवर्द्धन ने ध्वनि काव्य की परिभाषा यों बताई है—'जहाँ अर्थ अपने आपको एवं शब्द अपने अर्थ को अप्रधान कर किसी निर्बाध प्रतीत होने वाले अतिरिक्त अर्थ की व्यक्ति कर रहा हो, वहाँ ध्वनि-काव्य का व्यवहार होता है।'[1] यद्यपि व्यंजक शब्द एवं अर्थ दोनों सदैव समुदित ही रहते हैं, तथापि अर्थ शक्ति मूल ध्वनि में इन दोनों व्यंजकों में अपेक्षाकृत अर्थ का प्राधान्य रहता है और शब्द शक्ति मूल ध्वनि में अपेक्षाकृत शब्द का। यही कारण है कि परिभाषा में एक बार शब्द एवं एक बार अर्थ की प्रधानतः व्यंजकता कही गई है।

इस ध्वनिकाव्य के प्रधानतः दो भेद होते हैं - अभिधामूल एवं लक्षणामूल। अभिधामूल का ही दूसरा नाम है—विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि और लक्षणामूलका दूसरा नाम है—अविवक्षितवाच्य ध्वनि। अविवक्षित वाच्य ध्वनि के भी दो प्रकार होते हैं—अर्थांतर-संक्रमित वाच्य ध्वनि एवं अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि। इनमें से प्रत्येक पदगत एवं वाक्यगत होने से सब मिलकर लक्षणामूल ध्वनि चार प्रकार की होती है।

अभिधा मूल के भी प्रधानतः दो भेद हैं—संलक्ष्यक्रम व्यंग्य। असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य असंलक्ष्य क्रम 'रस' ही होता है, क्योंकि यहां व्यंजक वाच्यार्थ एवं व्यंग्य 'रस' की प्रतीति में वर्तमान (पूर्वापरीभाव का) क्रम लक्षित नहीं होता, जबकि 'वस्तु' एवं 'अलंकार' रूप व्यंग्य की प्रतीति में क्रम स्पष्ट लक्षित होता

१—यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ। व्यक्तः काव्यविशेषः सध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।

—ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत।

है। शुक्ल जी ने इन दोनों में क्रमका ही नहीं, बल्कि और अंतर भी बताया है और वह अन्तर 'यह है कि 'रस' का साक्षात्कार होता है—वह प्रत्यक्ष अनुभूति है, जबकि वस्तु एवं अलंकार शब्द प्रमाण से प्रतीत परोक्षज्ञान ज्ञान के विषय हैं। अर्थात् एक की प्रतीति प्रत्यज्ञात्मक है और दूसरे की परोक्षात्मक। असंलक्ष्यक्रम स्वयं पद, पदांश, रचना, वाक्य, प्रकरण एवं प्रबंध—इन छह प्रकार के व्यंजकों के कारण छह प्रकार का होता है।

संलक्ष्यक्रम के प्रथमतः तीन प्रभेद होते हैं-शब्दशक्तिमूल, •अर्थशक्तिमूल एवं उभयशक्तिमूल। उभयशक्तिमूल केवल वाक्यगत होने के कारण एक ही प्रकार का होता है।

शब्द शक्तिमूल के भी पहले दो भेद किए जाते हैं—वस्तु से वस्तु एवं वस्तु से अलंकार। फिर इन दोनों में भी प्रत्येक के पदगत एवं वाक्यगत दो-दो भेद होते हैं। इस प्रकार शब्द शक्तिमूल ध्वनि भी सब चार प्रकार की होती है।

अर्थशक्ति मूल के ३६ प्रभेद हैं। सबसे पहले वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलंकार तथा अलंकार से वस्तु एवं अलंकार से अलंकार ये चार प्रभेद हैं। इन चारों स्थलों में व्यंजक कभी स्वतः सम्भवी, कभी कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध एवं कभी कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध होता है, अतः उक्त चारों में से प्रत्येक के तीन-तीन भेद और हो जाते हैं और फिर सब मिलकर बारह भेद हो जाते हैं। इनमें से भी प्रत्येक के पद, वाक्य एवं प्रबंधगत होने से सब मिलाकर ३६ प्रभेद हो जाते हैं।

इस रीति से ध्वनि के सब (४ + ६ + १ + ४ + ३६) ५१ प्रभेद हुए। इनके सभी उदाहरणों का प्रदर्शन प्रबंध को तुंदिल बना देगा, अतः संक्षेप में कुछ ही मूल प्रभेदों की चर्चा यहाँ की जा सकेगी।

लक्षणामूल ध्वनि या अविवक्षित वाच्य ध्वनि के उदाहरण—

१—अर्थांतर संक्रमित वाच्य ध्वनि—इस प्रभेद में उपादान लक्षणा कार्य करती है। वाच्यार्थ इस शक्ति से किस प्रकार अर्थांतर में संक्रांत हो जाता है, यह गुणीभूतव्यंग्य के प्रभेद-निरूपण में हम अच्छी तरह दिखा चुके हैं। इस प्रयोजनवती लक्षणा का प्रयोजनांश यहां गूढ़ होता है, अतः इसे लेकर ध्वनि काव्य का व्यवहार होता है। यहाँ प्रयोजनांश चमत्कारकारी होने के

कारण प्रधान होता है अतः इस प्रधान व्यंग्यार्थ के प्रति उपयोगी व्यंजना शक्ति 'ध्वनन' शक्ति कही जाती है ।

'विकृत परंतु प्रकृत परिचय से, डरा सकेगी तू न हमें ।
अबला फिर भी अबला ही है, हरा सकेगी तू न हमें ।'

—पंचवटी

उत्तरार्द्ध का द्वितीय 'अबला' पद अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का उदाहरण है । यहाँ द्वितीय 'अबला' शब्द यदि सामान्यतः अपने (अभिधेय) नारी अर्थ के लिये ही माना जाय, तो प्रस्तुत वाक्य में उसकी कोई उपयोगिता नहीं प्रतीत होगी । यह कौन नहीं जानता कि अबला अबला है ? अबला कोई ईंट, पत्थर तो समझता नहीं, कि उसे समझाया जाय कि अबला, अबला ही है, ईंट, पत्थर नहीं । दूसरे यह कि जब इस 'अबला' पद का अर्थ विधेय है तो उसे निश्चय ही उद्देश्यभूत अर्थ 'अबला' से कुछ भिन्न होना चाहिए और भिन्न अर्थ होने का एक ही रास्ता है कि यहाँ अभिधा का कोई उपयोग न देखकर लक्षणा शक्ति की ही स्थिति मानी जाय । लक्षणा शक्ति से 'अबला' शब्द का लक्ष्यार्थ हुआ 'बलहीन' । विवक्षित अर्थ के वाचक शब्द के रहते हुए भी जब उसके अवाचक (लक्षक) शब्द का प्रयोग किया है, तो वह अवश्य किसी न किसी विशेष प्रयोजन से ही किया गया है, जो व्यंजना व्यापार का विषय है । वह प्रयोजन है—'पुरुष की अपेक्षा नारी में शाश्वत एवं सहज बलाभाव का योग ।' इस अर्थ को लेकर ध्वनि का व्यवहार बड़ी अच्छी तरह से किया जा सकता है ।

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण भी है—'अथवा ग्राम ग्राम है ।' यहाँ दूसरा 'ग्राम' पद अर्थांतरसंक्रमित ही है । अथवा विद्यापति की एक पंक्ति है—

आज मम गेह गेह कर जानलु
आज मोर देह भेल देहा ।।

कवि को इन दोनों स्थलों में अभिधा से प्रतीत होने वाले सामान्य अर्थ की अपेक्षा अवश्य कुछ विशिष्ट अर्थ अभिप्रेत हैं ।

अत्यंततिरस्कृतवाच्य ध्वनिः—इस प्रभेद में लक्षणलक्षणा किस तरह कार्य करती है, यह 'अगूढ़' व्यंग्य के उदाहरण में दिखाया जा चुका है,

फिर भी इतना ही अंतर है कि अगूढ़ स्थल में प्रयोजन अति स्फुट होता है और यहाँ इतना ही स्फुट रहता है, ताकि उसे केवल सहृदयजन ही ठीक २ ढंग से ग्रहण कर सकें—

'उल्काएँ सब ओर प्रभा सी पाट रही थीं।
पी-पीकर पुर तिमिर जीभ सी चाट रही थीं।'

—साकेत प्रथम सर्ग

यहाँ उल्काएँ पुर का तिमिर पान करने वाली बताई गई हैं, पर स्पष्ट है कि न तो उल्काओं में 'पान' क्रिया की कर्तृता संभव है और न 'तिमिर' में कर्मता ही है। 'पान' वही कर सकता है, जिसमें 'पान' कर्त्री कर्मेंद्रिय हो, भला उल्काओं और पानकर्त्री इंद्रिय का क्या संबंध ? इसी प्रकार 'पान' का कर्म कोई तरल अथवा द्रव पदार्थ ही हो सकता है, तिमिर में तरलता कहाँ ? तिमिर पेय पदार्थ नहीं है। यहाँ तिमिर एवं उल्का का तो वाच्यार्थ ही वांछित है परंतु 'पीना' क्रिया औपचारिक है, अतः लक्षणा वृत्ति से 'पान' क्रिया का ही कोई प्रसंगोपयोगी अर्थ होना चाहिए। यदि 'पीना' का अर्थ 'विनाश' कर दिया जाय, तो इसकी कर्तृता उल्का में और कर्मता 'तिमिर में निर्बाध उपपन्न हो जायगी अतः यही अर्थ हुआ। अंधकार की निःशेषता का अतिशय ही यहाँ व्यंग्य है। इसी अर्थ को लेकर ध्वनि का व्यवहार हो सकता है।

ख—अभिधामूल ध्वनि के उदाहरण—

(i) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यः—प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार के होते हैं, यह पहले ही बताया जा चुका है और यह भी बताया गया है 'कि 'रस' रूप अर्थ ही व्यंग्य होता है, साथ उसकी असंलक्ष्यक्रमता का भी कारण बताया गया है। 'रस' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है—(१) नव रस—जो 'रस' पद की रूढ़ि शक्ति से आते हैं (२) दूसरे 'रस' पद की योग शक्ति से (रस्यत आस्वाद्यतेऽसौ रसः) भाव, भावाभास, रसाभास भावसंधि, भावोदय, भाव शांति एवं भाव-शबलता—ये अर्थ भी लिए जाते हैं।

'हाथ लक्ष्मण ने तुरंत बढ़ा दिए, और बोले—'एक परिरंभण प्रिये।'
सिमिट सी सहसा गई प्रिय की प्रिया। एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया।
किंतु घाते में उसे प्रिय ने किया। आप ही फिर, प्राप्य अपना ले लिया।[1]'

१—साकेत प्र० स०।

यहाँ संभोगश्रृंगार[1] रस है। यह श्रृंगार 'नायकोत्थ' अर्थात् नायक की ओर से उत्थापित है। यहाँ श्रृंगार का स्थायी भाव रति है, जिसके आश्रय में, लक्ष्मण एवं आलंबन है उर्मिला। उर्मिला अर्थात् आलंबन की चेष्टाएं—अपांगवीक्षण आदि उद्दीपन विभाव हैं तथा लक्ष्मण अर्थात् आश्रय की परिरंभण की माँग, घाते में करना आदि वाचिक तथा आंगिक चेष्टाएँ अनुभाव हैं। उर्मिला के 'सिमटने' से श्रृंगार का संचारी भाव 'लज्जा' व्यंग्य है। इस प्रकार श्रृंगार अपने संपूर्ण अवयवों के साथ पुष्कल रूप में वर्तमान है।

अन्य सभी रसों की प्रचुर उपलब्धि के कारण उन्हें सर्व-सुलभ समझकर छोड़ दिया जा रहा है।

रसाभास का उदाहरणः—

कुछ लोगों का विचार है कि जहाँ किसी (रस के) स्थायी भाव के आलंबन में सामाजिक दृष्टिकोण से अनौचित्य की गंध मिले, वहाँ रसाभास समझना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि कलहशील कुपुत्र को शोक का आलंबन बताया जाय, तो यहाँ स्पष्ट ही अनौचित्य प्रतीत होगा। इसी प्रकार यदि वीतराग मुनि में शोक का वर्णन किया जाय तो इसे भी कोई उचित न कहेगा। सारांश यह कि ऐसे स्थानों में 'रस' नहीं, 'रसाभास' का ही प्रयोग उचित है। कुछ लोग रसाभास की इस उक्त परिभाषा को सर्वग्राही या व्यापक नहीं मानते और कहते हैं कि यदि किसी नायिका को बहुनायकविषयिणी रति का आश्रय बताया गया हो, तो लौकिक दृष्टि से अनौचित्य आश्रय नायिका में नहीं, किंतु 'रति' में ही प्रतीत होता है। अतः उक्त परिभाषा यहाँ ठीक नहीं बैठती। यही कारण है कि ये लोग उक्त परिभाषा का संशोधन करते हुए बताते हैं कि वस्तुतः 'रसाभास' वहाँ होता है जहाँ स्थायी की प्रवृत्ति में अनौचित्य झलकता हो। इस दृष्टि से देखें तो, नायिका की वह रति जो बहुत से नायकों को आलंबन बनाकर प्रवृत्त होती है, स्पष्ट ही रसाभास की जननी है और कलहशील कुपुत्र के लिये प्रवृत्त शोक को कौन उचित कहेगा? वह 'हास' जो गुरुजनों को आलंबन करके प्रवृत्त हुआ हो, क्या मर्यादापूर्ण शिष्टता का लेश वहाँ मिल सकेगा? कभी नहीं, तात्पर्य यह कि यह द्वितीय परिभाषा ही युक्तियुक्त एवं व्यापक जान पड़ती है। रसाभास का एक उदाहरण लें—

१—अनुकूलं निषेवेते यत्राऽन्योन्यं विलासिनौ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोग उदाहृतः।

'इन्हें देख मन हुआ कि इनके आगे मैं उसको धर दूँ।
वह मन जिसे अमर भी कोई, कभी क्षुब्ध कर सका नहीं।
उन्हें देखती हुई आड़ में बड़ी देर मैं खड़ी रही।
फिर मानों मन के सुमनों से माला एक बना लाई।
इसके मिस अपने मानस की भेंट इन्हें देने आई।
पर ये तो बस 'कहो, कौन तुम ?' करने लगे प्रश्न छूछा।'

—पंचवटी

यहाँ रति भाव का आश्रय स्वयं शूर्पणखा है और राम आलंबन। कहाँ एक ओर एक पत्नीव्रत मर्यादा पुरुषोत्तम राम और कहाँ दूसरी ओर स्वैराचार शील राक्षसी शूर्पणखा ? कितनी विषमता है ? क्या शूर्पणखा की रति उचित ढंग से प्रवृत्त है ? नहीं और इसीलिये यहाँ रसाभास है। यद्यपि यहाँ श्रृंगार के सभी उपकरण वर्तमान हैं—राम एवं शूर्पणखा श्रृंगार के क्रमशः आलंबन एवं आश्रय हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ उद्दीपन विभाव है ज्योत्स्नाचर्चित रजनी एवं विजन प्रांत। अनुभाव है शूर्पणखा का चिर-वीक्षण ऐसा लगता है जैसे वह अनन्य सामान्य सौंदर्य से आकृष्ट होकर स्तब्ध हो गई हो और स्पंदहीन तथा निर्निमेष नयनों से उन्हें देख रही हो। उस सौंदर्य को देखकर उसके मन की जो अवस्था हुई, उसका वर्णन सीता से कर सकने में वह स्वयं अशक्त है, कवि की तो बात ही दूर है। तीव्रतम अनुभूतियाँ होती ही ऐसी हैं, जिसे' व्यक्ति को कौन कहे, उसका मन भी दूसरे क्षण में पूर्वानुभूत अनुभूतियों को ठीक ठीक पकड़ सकने में अशक्त हो जाता है।

यहाँ रसाभास होने का एकमात्र यही कारण नहीं है, प्रत्युत अन्य कारण यह भी है कि यहाँ की रति सम (उभयनिष्ठ) नहीं है। अलौकिक दृष्टि से चाहे यह श्लाध्य हो, पर लौकिक श्रृंगार की दृष्टि से ऐसी अनुभय निष्ठ रति उचित नहीं कही जाती। एक ओर तो शूर्पणखा की यह स्थिति है कि वह अपने आपको रति के उद्रेक में भूल सी गई है, जबकि दूसरी ओर आलंबन उससे इतना तटस्थ एवं अलग है कि उसे सामने आने पर वह एकदम निराशाजनक एवं रुक्ष प्रश्न कर बैठता है 'कहो, कौन तुम ?'

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य :—इस प्रकार की ध्वनि में केवल वस्तु तथा अलंकार का ही परिग्रह होता है। इसकी संलक्ष्यक्रमता का भी विचार पहले हो चुका है। इसके मूलभूत तीन प्रभेदों के शब्दशक्तिमूल, अर्थशक्तिमूल, उभयशक्तिमूल, ही उदाहरण यहाँ दिए जायँगे।

शब्दशक्तिमूल :—यह बात 'सिद्धांत पक्ष' के निरूपण में बताई जा चुकी है कि जहाँ व्यंग्यार्थ की सत्ता का रहना न रहना उसी 'शब्द' के रहने न रहने पर हो, वहाँ शब्द-शक्ति मूल ध्वनि का व्यवहार होता है। यहाँ वस्तु से वस्तु एवं वस्तु से अलंकार व्यंग्य होते हैं।

वस्तु से वस्तु व्यंग्य का उदाहरण—नवीन कविता में अभिधा को प्रायः निर्वासित करने का प्रयत्न है, अतः अभिधायक शब्दों के प्रयोग की रुचि घटी हुई देखी जाय, तो उसमें आश्चर्य क्या है ? और इन अभिधायक शब्दों के आधार पर श्लेषमूलक चमत्कार दिखाने की प्रवृत्ति अब पुरानी मानी जाती है और इसीलिये इस के प्रति हेय बुद्धि है, फिर जहाँ हेय-बुद्धि हो चुकी, उसका प्रयोग क्यों किया जायगा ? कहीं कोने अँतरे यदि इस तरह की प्रवृत्ति दिखाई पड़ जाय, तो मैं इसका निषेध नहीं कर सकता, पर सामान्यतः यह प्रवृति आज बिलकुल लुप्त-प्राय हो चली है। उदाहरणार्थ, एक उदाहरण पुरानी कविता से ही लें—

लग्यौ सुमनु ह्वै है सफल, आतप-रोष निवारि।
बारी-बारी आपनी सींचि सुहृदता वारि ॥

—बिहारी सतसई।

प्रस्तुत दोहे के दो अर्थ हैं, जिनमें से एक वाच्य है और दूसरा व्यंग्य। हाँ, दोनों अर्थों के बोद्धव्य भिन्न-भिन्न हैं। वाच्यार्थ तो वारि जाति के व्यक्ति विशेष को लक्ष्य में रखकर कहा जा रहा है और व्यंग्यार्थ का लक्ष्य है नायिका विशेष। यहाँ का वाच्यार्थ वस्तुतः आच्छादक है रहस्यभूत व्यंग्यार्थ का।

अवतरण—

आज इस नायिका के घर नायक के पधारने की पारी है, पर अभी तक वह आया नहीं है। नायिका का मन उसी में लगा हुआ है, और विलंब के कारण कुछ रुष्ट सी होकर वह जी बहलाने के निमित्त, वाटिका में भ्रमण कर रही है, जहाँ माली तथा कुछ बहिरंगिनी सखियाँ भी उपस्थित हैं। इतने में उसकी अंतरंगिणी सखी, जो नायक के पास गई थी, आकर यह दोहा ऐसी चातुरी से पढ़ती है कि नायिका तो अपना इष्टार्थ समझ ले, पर माली तथा बहिरंगिनी सखियाँ समझें कि वह यह वाक्य माली से कह रही है। नायिका के प्रति तो वह यह कहती है—(अर्थ १ प्राकरणिक)—हे नारी (भोली स्त्री !) (तेरा) मन (जो) लगा है, सो सफल (प्राप्ताभीष्ट) होगा।

(तू इस) दुःखदायी रोष को निवारित करके अपनी बारी (पारी) सुहृदता (मैत्री) के वारि (वाक्य) से सींच (सरस कर)।

(अर्थ २ अप्राकरणिक)—हे वारी (माली), (तेरी बाटिका में) लगा हुआ सुमन (फूल) सफल (फलयुत) होगा (तू) अपनी बारी (बाटिका) सहृदयता के बारि (सानुकूल जल) से सींचकर घाम के रोष (प्रचंडप्रभाव) को निवारित कर।

अब, कोई भी विचारक यह स्पष्ट समझ सकता है कि इस तरह की चमत्कारकारिणी प्रवृत्ति आज के नवीन कवियों में है ? इसका अन्वेषण नितांत श्रमसाध्य तो है ही, श्रम करने पर भी शायद कहीं मिले।

वस्तु से अलंकार—

दो वंशों में प्रकट करके पावनी लोकलीला,
सौ पुत्रों से अधिक जिनकी पुत्रियाँ पूतशीला।
त्यागी भी हैं शरण जिनके, जो अनासक्त गेही,
राजा योगी जय जनक ये पुण्य देही विदेही ॥'

—'साकेत' नवम सर्ग

यहाँ व्यंजक 'वस्तु' है और व्यंग्य अलंकार। यह व्यंग्य अलंकार है—विरोधाभास। उक्त पद्य का केवल 'पुण्यदेही विदेही'—यही अंश लक्ष्य है। विरोधाभास में श्लिष्ट पदों का प्रयोग अत्यधिक अपेक्षित है। ऐसे पदों से जो दो अर्थ निकलते हैं, उनमें पहले एक अर्थ को लेकर आपाततः विरोध की प्रतीति होती है और पश्चात् दूसरे अर्थ को लेकर विरोध का परिहार।

विरोधी अर्थ—(१) पुण्यदेही—पुण्यमय देह वाला व्यक्ति
(२) विदेही—विगत-विनष्ट-देह वाला व्यक्ति

यहाँ एक ही व्यक्ति के इन दोनों विशेषणों में स्पष्ट ही विरोध है। भला, जिसे देह ही नहीं है, उसके लिये पुण्यमय देह की संभावना ही क्या की जाय ? देह की सत्ता का होना और न होना परस्पर विरोधी बातें हैं।

अविरोधी अर्थ—पुण्यमय देह वाले ही तो विदेह हो सकते हैं कुछ कुत्सित देह वाले थोड़े न ?

पृष्ठ १३ बिहारी रत्नाकर, (नवीन संस्करण १९६१
१६ वाँ दोहा ग्रंथकार प्रकाशन, शिवाला, बनारस)

उपर्युक्त द्वितीय अर्थ की दृष्टि से आयाततः प्रतीत विरोध की शांति हो जाती है। विरोधाभास यहाँ व्यंजना वृत्ति द्वारा ही लभ्य होता है। विरोधाभास वाच्य या अभिधेय वहाँ होता है, जहाँ 'भी' आदि विरोध द्योतक शब्द पड़े रहते हैं। यहाँ ऐसा कोई शब्द नहीं है।

अर्थ-शक्तिमूलध्वनि—

ध्वनि के अन्य उक्त प्रभेदों की अपेक्षा यह प्रभेद आज बहुत ही अधिक गृहीत हो रहा है। आज का कवि अपने पदों में अधिक से अधिक अतिरिक्त अर्थ देने की क्षमता भरना चाहता है अर्थात् पदों को अधिक से अधिक व्यंजक बनाना चाहता है—एक उदाहरण लीजिए—

धूल लगी है, पद कांटों से विंधा हुआ है, दुःख अपार।
किसी तरह से भूला भटका आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार।
डरो न इतना धूलि धूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार।'

प्रस्तुत पद में आराधक आराध्य से 'द्वार खोलने' की याचना कर रहा है। द्वार तभी खुल सकता है, जब आराध्य आराधक पर करुणार्द्र हो उठे और इसके लिये आवश्यक यह है कि आराधक अपना करुणतम चित्र खींच दे। प्रस्तुत पद में आराधक का ऐसा ही चित्र खींचा गया है।

प्रस्तुत पद के प्रत्येक पद व्यंजक हैं, उदाहरणार्थ, हम 'किसी तरह से' इसी वाक्य-खंड को ले लें, तो देखेंगे कि वह वाच्यार्थ के अतिरिक्त कुछ और अर्थ देने में भी वह सक्षम है। साधारण ढंग से इन शब्दों का वाच्यार्थ तो स्पष्ट ही है, ध्यान देने से यह भी लक्षित होगा, कि आराध्य की द्वारप्राप्ति कितनी दुःसाध्य है? 'किसी तरह से आ पहुँचा हूँ—' द्वारा कवि यह बोधित करना चाहता है कि आराध्य का द्वार यत्न करने पर भी दुष्प्राप्य है। उसमें भी अज्ञ और असमर्थ आराधक यत्न कर ही क्या सकता है। दूसरे यह कि जिन उपायों से उसके द्वार की प्राप्ति होती है, वे उपाय भी विभिन्न मतवादों से उलझे हुए हैं कि उन्हें साधन मानकर पहुँचना तो दुर्लभ ही है, उल्टे उलझे हुए उपायों के सुलझाने में अतिरिक्त एवं निरर्थक श्रम करना पड़ता है। समस्या यह है कि उपाय के बिना पहुँचना कठिन है और उपाय का निर्णय करना चाहे, तो यह उससे भी कठिन है। इन सबके ऊपर यह कि काल प्रतिक्षण मनुष्य की चोटी पकड़े हुए है, उसे इतना अवकाश ही कहाँ कि वह इन प्रपंचों में पड़े। इन उलझनों में पड़ा हुआ आराधक उसकी स्मृति

में विह्वल होकर दर दर की ठोकर खाकर इधर उधर घूम ही रहा था कि अनजाने आराध्य का द्वार हाथ आ गया। कवि अपनी तथा कथित व्यंजकत्व गर्भ उक्तियों से पूर्वोक्त परेशानियों के साथ-साथ अंधे के हाथ बटेर लग जाने वाली बात भी अवश्य व्यक्त करना चाहता है। उक्त व्यंग्यार्थ के लिये किसी भी वाचक और लक्षक पदों का ग्रहण न होने के कारण अभिधा एवं लक्षणा की संभावना ही नहीं की जा सकती।

उपर्युक्त व्यंजक-पद राशि ऐसी नहीं है, कि जिसके पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग से व्यंग्यार्थ की सत्ता शाब्दी व्यंजना वाले स्थलों की भाँति विलुप्त हो जाय। तात्पर्य यह कि व्यंजना से लब्ध होने वाला उक्त व्यंग्यार्थ नियत शब्दों के साथ अन्वय-व्यतिरेक न रखकर नियत अर्थों से ही अन्वय-व्यतिरेक रखता है अतः यह अर्थ शक्ति मूल ध्वनि का ही उदाहरण हुआ।

(१) शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ ध्वनि—

उपर्युक्त दोनों भेद पद के अतिरिक्त वाक्य एवं प्रबंध में भी होते हैं, परंतु यह केवल वाक्यगत होता है। यह केवल वाक्यगत ही इसलिए होता है कि यहाँ का व्यंग्यार्थ किसी पर्यायासह शब्द एवं किसी किसी पर्यायसह-शब्द अर्थात् कम से कम दो पदों से तो संबंध अवश्य ही रखेगा, वह 'उभयशक्त्युत्थ' ही न हो सकेगा। इस प्रकार यह जब होगा तब एक पद से अधिक पदों की ही सहायता से ही हो सकेगा। इस प्रकार 'पद-कदंब' की अपेक्षा होने से यह प्रभेद सर्वदा वाक्यगत ही होता है। उदाहरण लीजिये—

'रस हैं बहुत परंतु सखि, विष है विषम प्रयोग।
बिना प्रयोक्ता के हुए यहाँ भोग भी रोग।'

—साकेत

यह पद विप्रलंभ शृंगार के प्रकरण में कहा गया है, अतः जो अर्थ उसके अनुकूल होगा, वह वाच्यार्थ और जो प्रतिकूल होगा, वह व्यंग्यार्थ होगा।

प्राकरणिक अर्थः—उर्मिला के लिये उस समय कामद राजमहल में षट्-रस भोजनों की कमी हो, सो बात नहीं, परंतु आज प्रिय के न होने से इनका उपयोग विषम हो गया है। प्रयोक्ता लक्ष्मण के बिना आज भोगों ने भी

रोगों का रूप धारण कर लिया है अर्थात् वे रस विप्रलंभावस्था में रोग सा ही विरहोद्दीपन के माध्यम से कष्ट पैदा कर देते हैं।

अप्राकरणिक अर्थः—यह सामान्य बात है कि रसौषधियों का प्रयोग यदि विषम हो जाय, तो वे ही रस जो अमृत सा कार्य करते हैं, विष के सदृश फल देने लग जाते हैं और इन रसों का प्रयोक्ता न हो तो उनका अव्यवस्थित प्रयोग रोगों पर रोगों का प्रसव करने लग जाता है।

यहाँ दूसरा अर्थ अप्राकरणिक है। अतः ध्वनिवादियों के अनुसार यह अर्थ व्यंग्य हुआ। इस स्थल में जिन शब्दों की महिमा से द्वितीय अर्थ बोधित होता है, वे हैं—'रस' 'प्रयोक्ता' एवं 'विषमप्रयोग' आदि। ये ऐसे शब्द हैं, जो रासायनिक प्रक्रिया में निरंतर प्रयुक्त होते रहते हैं, अतः वहाँ का इनका शतशः प्रयोग उस प्रसंग का स्मरण दिला देता है। संपूर्ण अप्राकरणिक अर्थ को व्यक्त करने में वाक्य के यद्यपि सभी पद हेतु हैं, तथापि, उक्त पद 'पर्याया सह' एवं शेप 'पर्याय सह' हैं। अतः यह उदाहरण वाच्यगत शब्दार्थोभय शक्त्युत्थ ध्वनि का हुआ।

इस प्रकार संक्षेप में व्यंजना की भारतीय व्यवस्थित पद्धति का दिग्दर्शन करा दिया गया। अब इसके अनंतर देखना यह है कि व्यंजना ने इन व्यस्थित प्रयोगों के माध्यम से जितना मुँह खोल रखा है, नवीन कविता ने अपने नवप्रयोगों द्वारा उसे कुछ और खोलने को वाध्य किया है अथवा नहीं ? हिंदी के नवीन साहित्य में व्यंजना का प्रसार इन्हीं विलक्षण प्रयोगों के सहारे देखना है।

———

तृतीय परिच्छेद

'व्यंजना के पश्चिमी प्रयोग (नव-प्रयोग)'

पूर्व के दो परिच्छेदों में व्यंजना के प्रसार और उसकी प्राचीन पद्धति की चर्चा की गई है इस परिच्छेद में आधुनिक कविता की कुछ प्रमुख व्यंजक प्रवृत्तियों की सोदाहरण चर्चा की जायगी।

'बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही कविता की भाषा ब्रज से खड़ी बोली हो गई थी। खड़ी बोली अबतक केवल बोलचाल की भाषा थी और यद्यपि वह उन्नीसवीं शताब्दी में ही गद्य की भाषा बन गई थी, फिर भी उसमें शब्दों का बहुत अभाव था, क्योंकि गद्य में भी साहित्यिक गद्य बहुत कम लिखा गया था। स्वयं ब्रजभाषा का शब्दभंडार बहुत कम था और जो कुछ था भी वह उन कवियों की कमाई थी, जिन्होंने जन्मभर लौकिक शृंगार का ही व्यवसाय किया था परंतु जब बीसवीं शताब्दी में काव्य के विषय, उपादान रूप एवं शैली में अभूतपूर्व उन्नति हुई, तो भाषा का संकुचित शब्द भंडार बहुत ही तुच्छ जान पड़ा[1]।' मेरी समझ में तुच्छ जान पड़ने का जो सबसे बड़ा कारण था वह था स्थूल की प्रतिक्रिया में सूक्ष्म का अपनी अभिव्यक्ति के लिये आकुल होना। अभी तक कवि का मुँह बोलता था, हृदय बंद था अथवा कम खुला था। इस मुँहबंदी से ऊबकर हृदय ने जब अपना मुँह खोला, तो उसके लिए भाषा बड़ी दुर्बल, हल्की एवं अशक्त दिखाई पड़ी। हृदय (भाव) कभी भी अपने को वाच्य नहीं कर पाता, वह अपने को लखा (लक्षणा से) सकता है, इंगित (व्यंजना) कर सकता है। इस स्थिति में आवश्यक था कि भाषा अधिक से अधिक लाक्षणिक एवं व्यंजक शब्दों से अपने को पुष्ट एवं पूर्ण बनावे, व्यंजन की अधिक से अधिक, नूतन से नूतन पद्धतियाँ आविष्कृत की जायँ। पुरानी पद्धतियाँ बँधी-बँधाई ढाँचे हैं, जिनमें परंपरागत बँधी-बँधाई बात ही कही जा सकती है, पर इस काल के कवियों का व्यक्ति-स्वातंत्र्य इन बँधे ढाँचों अर्थात् आचार्यों के जटिल एवं नियत पद्धतियों को लेकर नहीं अट सकता था। ये तो किसी ऐसी कला की खोज

१—आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास, डा० श्रीकृष्णलाल पृ०।

में थे, जिसमें व्यक्तिस्वातंत्र्य का सम्मान हो और पश्चिमी कला ऐसी ही थी। बस, फिर क्या था हमारे कवि पश्चिमी कला के भक्त बन गए और उन्होंने पश्चिमी काव्यालंकार और पश्चिमी काव्य-परिभाषा ग्रहण की। काव्यों की परिभाषा उन लोगों ने ध्वनि एवं व्यंजना के ही रूप में स्वीकार की। छायावादी कवि 'प्रसाद' जी ने तो 'छायावाद' की व्याख्या करते हुए उसे स्पष्ट ही आलोककार की 'ध्वनि[२]' माना है। यह व्यंजना पश्चिमी सजेस्टिवनेस से भिन्न नहीं है। डा० लाल ने[३] इसे भिन्न बताया है और पं०[४] रामदहिन मिश्र ने इसका खंडन किया है वस्तुतः डा० साहब जब इसे भिन्न कहते हैं, तो उनका अभिप्राय यह नहीं है कि ध्वनि या व्यंजना तत्व ही उनका दूसरा है, बल्कि यह भेद प्रयोग-पद्धति मात्र को लेकर किया गया है। प्रयोग पद्धति का वैभिन्न्य नूतन प्रयोगों के प्राचुर्य से आता है। इसी पश्चिमी नई प्रयोग पद्धति के रास्ते व्यंजना का प्रसार देखना इस खंड का लक्ष्य है।

आचार्य शुक्ल जी ने भी अपने इतिहास में नवीन कविता की विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए लिखा है 'छायावाद का जन्म द्विवेदी काल की रूखी इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया में हुआ था, अतः इस प्रतिक्रिया का प्रदर्शन केवल लक्षणा एवं व्यंजना गर्भ अन्योक्ति प्राचुर्य के ही रूप में नहीं, कहीं कहीं उपमा और उत्प्रेक्षा के भरमार के रूप में भी हुआ। इनमें से उपादान एवं लक्षणलक्षणाओं को छोड़कर और सब बातें और किसी न किसी प्रकार की साम्यभावना के ही आधार पर खड़ी होने वाली हैं। साम्य को लेकर अनेक प्रकार की अलंकृत रचनाएँ पहले भी होती थीं तथा रीतिकाल और उसके पीछे भी होती रही हैं। अतः छायावाद की रचनाओं के भीतर साम्यग्रहण की उस प्रणाली का निरूपण आवश्यक है, जिसके कारण उसे एक विशिष्ट रूप प्राप्त हुआ[५]।

शुक्ल जी ने बताया है कि 'साम्य' मुख्यतः तीन प्रकार का बताया गया है—सादृश्य (रूप या आकार साम्य), साधर्म्य (गुण एवं क्रिया का साम्य),

---

१—वही।
२—काव्य कला तथा अन्य निबंध।
३—वही [आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास]।
४—काव्यालोक।
५—हिंदी साहित्य का इतिहास।

एवं शब्दसाम्य। भारतीय दृष्टि से साम्य के तीन प्रकार नहीं बन सकते यहाँ 'साम्य' का अर्थ 'सादृश्य' किया जाता है और साधर्म्य इसी सादृश्य क निष्पादक है, और कुछ नहीं। साधर्म्य साधारण धर्म का उपमान एवं उपमे से होने वाला एक संबंध है। हाँ, यह साधारण धर्म अलबत तीन प्रकार क है—गुण, क्रिया एवं शब्द-साम्य। अस्तु, शुक्ल जी ने शब्द-साम्य को शब्द-क्रीड़ा में रुचि रखने वाले कवियों का खेलवाड़ बताया है। रहे, सादृ एवं साधर्म्य। विचार करने पर इन दोनों में 'प्रभाव-साम्य' ही मिलेगा 'छायावाद' बड़ी सहृदयता के साथ इस 'प्रभाव-साम्य' को ही लेकर चला है कहीं तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यंत अल्प या न रहने पर भी आभ्यंत प्रभाव-साम्य को ही लेकर अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है। ऐ अप्रस्तुत ही 'प्रतीक' (सिम्बलस) कहे जाते हैं। 'प्रतीक' और 'चिह्न' पर्य हैं, पर इस प्रसंग में 'प्रतीक' एक विशेष प्रकार के 'उपमान' को न कह 'अप्रस्तुत' को ही कहना अधिक संगत है। शुक्ल जी ने 'प्रतीक' को ए विशेष प्रकार का उपमान ही बताया है, पर ऐसा मानने से कहीं कहीं अड़च आती है। उदाहरणार्थ, 'उषा' को 'आनंद' का प्रतीक माना गया है। य 'उषा' 'आनंद का उपमान नहीं है, क्योंकि इसमें साम्य की अपेक्षा होती जो 'उषा' में नहीं है। वस्तुतः यहाँ 'उषा' एवं 'आनंद' का कार्यकारण भ संबंध है, उपमानोपमेय भाव संबंध नहीं। अब यदि उपमान ही को प्रत माना जाय, तब तो उषा को प्रतीक नहीं कहना चाहिए, अतः उपमान पर्याय रूप में प्रयुक्त होकर भी कहीं उससे व्यापक अर्थ रखने वाला 'अप्रस्तु शब्द ही 'प्रतीक' का परिचय ठीक दे सकेगा। सारांश यह हुआ आभ्यंतर प्रभाव साम्य के आधार पर लाक्षणिक एवं व्यंजनात्म पद्धति का प्रगल्भ एवं प्रचुर विकास छायावादी काव्य-शैली की अस विशेषता है।

'प्रसाद' जी की रचनाओं में शब्दों के लाक्षणिक वैचित्र्य की प्रवृत्ति उत प्रबल नहीं रही है, जितनी साम्य की दूरारूढ़ भावना की। उक्त प्रभाव सा को लेकर चलने वाली प्रतीक पद्धति वेदों से चली आ रही है। हिंदी के क आदि महात्माओं में भी सांप्रदायिक प्रतीकों का प्रयोग प्रचुर रूप से उपल होता है, परंतु आज के हिंदी साहित्य के प्रतीकों का स्रोत एवं प्रवृत्ति और हो गई है। इन लोगों के आदर्श महाकवि 'टैगोर' हैं और स्वयं टै १९ वीं शती की अंतवाली प्रतीक पद्धति से प्रभावित हैं। इन प्रतीकों

सैद्धांतिक रूप की विवेचना पहले की जा चुकी है। आज व्यंजना इन नव-नव प्रतीकों के माध्यम से अपना प्रसार-क्षेत्र विस्तृत करती जा रही है।

प्रतीक और व्यंजनाः—'कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिनसे केवल अर्थ मात्र ही नहीं प्रतीत होता, वरन् भावनाओं का उदबोधन भी होता है। जिन वस्तुओं में तनिक भी निजी विशेषता होती है तथा जिन पर दीर्घ सांस्कृतिक वासना का प्रभाव पड़ा है, वे शब्द हमारे काव्य में प्रतीक का कार्य करते हैं। प्रतीक जिन तमाम सूक्ष्म एवं स्थूल अव्यक्त एवं व्यक्त संकेतों से लिपटे रहते हैं, ग्राहक उनका ग्रहण व्यंजना से ही करता है। ये प्रतीक गोचर एवं अगोचर दोनों तरह के होते हैं। अप्रस्तुत में जितना ही प्रतीकत्व रहेगा, इसके आधार पर व्यंजना भी उतनी ही सुंदर होगी।

गोचर या मूर्त प्रतीक के उदाहरण—संस्कृत शास्त्रों के अनुसार मूर्तत्व एवं अमूर्तत्व की परिभाषाएँ भिन्न भिन्न हैं, पर हिंदी में मूर्त एवं अमूर्त के संबंध में मोटी धारणा यही है कि जो चक्षुगोचर हो, वह मूर्त और जो चक्षु गोचर न हो वह अमूर्त। अथवा और चलती धारणा के अनुसार कहा जाय तो चित्त वृत्तियाँ अमूर्त एवं उनसे अतिरिक्त दृष्ट पदार्थ मूर्त है—

'करुण भौंहों में था आकाश, हास में शैशव का संसार'

—पंत

यहाँ 'आकाश' शून्यता या उदासी का प्रतीक है। हिंदी की धारणा इसे गोचर प्रतीक ही कहेगी, यद्यपि तर्कशास्त्री 'आकाश' को मूर्त या गोचर नहीं मानते, इन लोगों के मत से आकाश एक रूपविहीन द्रव्य है और रूपविहीन द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता। जो हो, हिंदी की दृष्टि से यह मूर्त प्रतीक है।

प्रतीक प्रायः वांछित अर्थ प्रयोजनवती लक्षणा से ही देते हैं। यह प्रयोजनवती लक्षणा प्रायः शुद्धा साध्यवसाना या गौणी साध्यवसाना होती है। कारण यह है कि प्रतीक अप्रस्तुत ही होते हैं और प्रस्तुत का निगरण किए रहते हैं। जहाँ प्रस्तुत का निगरण होता है, वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है। यदि अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत में सादृश्य संबंध है, तब तो गौणीसाध्यवसाना होती है और सादृश्य से अतिरिक्त कार्यकारण भाव आदि अन्य संबंध होता है, तब शुद्धा साध्यवसाना होती है। प्रस्तुत स्थल में 'प्रस्तुत' है शून्यता, जो खिन्नता या उदासीनता का अनुभाव है, वह 'आकाश' रूप अप्रस्तुत से निगीर्ण है। 'शून्यता' एवं 'आकाश' में सादृश्य संबंध न होने से यहाँ शुद्धा

साध्यवसाना ही है। करुणभौहों में 'शून्यता' का तात्पर्य, प्रसन्नता व्यंजक अवस्था की शून्यता या अभाव है। इस लक्ष्यार्थ (शून्यता) की प्रतीति होने पर हृदय की खिन्नता का अतिरेक व्यंजना वृत्ति से प्रतीत होता है।

अगोचर प्रतीक का उदाहरण—आचार्य शुक्ल ने अपनी 'रसमीमांसा' के 'कल्पितरूपविधान' में वर्तमान काव्यधारा की लाक्षणिक वक्रता की चर्चा करते हुए एक उदाहरण दिया है—'लाज में लिपटी उषा समान'

—श्री पंत

यहाँ 'लाज' एक अमूर्त वस्तु है, जो 'अरुणिमा' का प्रतीक है। यहाँ भी 'लाज' एवं 'अरुणिमा' में जन्यजनक अब संबंध है, अतः गौणी लक्षणा न होकर शुद्ध साध्यवसाना ही होगी। यहाँ प्रस्तुत किस प्रकार निर्गीर्ण है—यह स्पष्ट ही है। सब मिलाकर उक्त पंक्ति का अर्थ स्पष्ट है कि नायिका लज्जा-प्रसूत अरुणिमा से रंजित होकर एकदम उषा के समान लक्षित हो रही है। अरुणिमा का जो स्वयं लज्जा के अतिरेक से प्रसूत होता है—आतिशय्य व्यक्त करना ही यहाँ लक्षणा का प्रयोजन है, जो व्यंजना व्यापार का विषय है।

सुधांशु जी ने प्रतीकों का विभाजन दूसरी दृष्टि से किया है इनके विचार से प्रतीक दो प्रकार के हैं (इन्टेलेक्चुअल) विचारोत्तेजक एवं (इमोशनल) भावोत्तेजक। कुछ प्रतीक (चिन्ह) विचारों का उत्तेजन करते हैं और कुछ भावों का। पहले प्रकार के प्रतीकों का संबंध गणित आदि बौद्धिक वांङ्मय से है और दूसरे प्रकार के प्रतीकों का संबंध साहित्य से। विचारोत्तेजक प्रतीक अंकगणित या बीजगणित के चिह्न विशेष ही हैं।

'झंझा झकोर गर्जन है, बिजली है नीरद माला।
पाकर इस शून्य हृदय को आ सबने डेरा डाला।'

—आँसू

इस पद्य में झंझा, झकोर, गर्जन, बिजली तथा नीरदमाला साहित्यिक प्रतीक हैं जो आंतरिक वृत्तियों का 'सादृश्य' वशात् बोध कराते हैं। यहाँ अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत का सादृश्य संबंध होने से गौणी सारोपा लक्षणा स्पष्ट ही है। इसमें झंझा—भीतरी संघर्ष का, बिजली टीस का, एवं नीरदमाला उमड़ती हुई वाष्पराशि का प्रतीक है। जिस प्रकार आकाश के उर पर छाई हुई नीरदमाला के बीच बिजली अपनी लपटों में लिपटी हुई रह रहकर कौंध

उठती है, ठीक यही स्थिति वियोगी के सूने हृदय पर उमड़ती हुई वाष्पराशि के बीच एक ज्वालामयी तीखी टीस की भी है। भावों का भीषण संघर्ष छिड़ जाता है। मधुमयी वृत्तियाँ अपनी अतृप्ति में दाढ़ मारकर चिल्लाने और हाहाकार करने लगती है। सारा हृदय-देश एक वर्षाकालीन आसमान बन जाता है। इन प्रतीकों से हार्दिक वृत्तियों की भीषणता एवं उनका अतिशायक रूप संकेतित किया गया है और वह व्यंजनावृत्ति से ही प्रकाशित होता है।

प्रतीकों का एक अन्य दृष्टि से भी विभाजन है, जिसकी चर्चा सुधांशु एवं रामदहिन मिश्र—दोनों ने की है। यह विभाजन है—शुद्धप्रतीक एवं लाक्षणिक प्रतीक।

'करुण भौंहों में था आकाश, हास में शैशव का संसार।
तुम्हारी आँखों में कर वास, प्रेम ने पाया था आकार।
उषा का उर में है आवास।'

—पंत

यहाँ उन दोनों मनीषियों के मत से 'उषा' शुद्ध प्रतीक है, जो 'पावित्र्य' या 'आनंद' का लक्षक है। 'उषा' के द्वारा पवित्रता एवं आनंद का बोध कराने में कवि सात्विकता एवं शांतिमयता का भी संकेत देता है। स्पष्ट है कि संकेत के ग्रहण में व्यंजना की ही उपासना होती है' 'शैशव का संसार' तथा 'विचारों में बच्चों की सांस' इत्यादि लाक्षणिक प्रतीकों के उदारहरण हैं। शुद्ध प्रतीक से लाक्षणिक प्रतीकों के अंतर के संबंध में उनका कहना है कि ये उपमान लाक्षणिकता के बल पर रक्खे जाते हैं। दूसरे यह कि ऐसे उपमानों के विधान में प्रायः लाक्षणिक चमत्कार दिखलाने के लिए धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग कर दिया जाता है।[1]' परंतु सुधांशु जी के उक्त भेदक तत्व बहुत स्पष्ट नहीं हैं, कारण यह है कि इन्होंने निम्नलिखित दो तत्वों का निर्देश किया है—

(१) लाक्षणिकता का बल तथा (२) धर्म के स्थान धर्मी का प्रयोग इन दोनों में से प्रथम तत्व तो 'शुद्ध एवं 'लाक्षणिक' उभयविध प्रतीकों में स्थित हैं। 'आकाश' का आधार 'भौंहों' में बताया गया, जो वाच्यार्थ की

१—'काव्य में अभिव्यंजना'—

—श्री सुधांशु

दृष्टि से सर्वथा असंगत है, अतः यहाँ लक्षणा का होना नितांत आवश्यक है। लाक्षणिक प्रतीक में तो स्वयं सुधांशु जी स्वीकार करते हैं, अतः प्रथम भेदक तत्त्व ठीक नहीं, वह उभयनिष्ठ होने के कारण भेदक नहीं हो सकता। रही दूसरी विशेषता या भेदकत्व—धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग। मोटी दृष्टि से देखा जाय, तो यह भेदक तत्व भी ठीक नहीं है, 'शून्यता' धर्म है और उसके लिए उक्त है 'आकाश' रूप धर्मी। 'हाँ, 'उषा' से जो 'धर्म' (आनंद) लक्षित होता है, स्वयं 'उषा' उसका धर्मी नहीं है अर्थात् 'उषा' में 'आनंद' वृत्ति नहीं है, 'बच्चों' एवं 'भोलापन' में धर्मधर्मिभाव है। यहाँ भेदक के निर्व्यूढ होने पर भी 'शैशव' एवं 'भोलापन' में तो धर्मधर्मिभाव नहीं है, अतः यह भेदक तत्व भी ठीक नहीं है, और किसी तरह इस तत्व को भेदक मान भी लें, तो उचित यह था, कि दूसरे प्रकार के प्रतीक को लाक्षणिक प्रतीक न कहकर 'धर्मी प्रतीक' या कुछ इसी तरह का कहना चाहिए, क्योंकि शुद्ध प्रतीक से इसका व्यावर्तक लाक्षणिकता जब नहीं है, तो उससे युक्त नामकरण का कोई स्वारस्य नहीं है। शायद इसीलिए आचार्य शुक्ल ने इन सब प्रकार के प्रयोगों को लाक्षणिक प्रयोग मात्र कहकर छोड़ दिया है, उसके विभाजन के चक्कर में पड़ने नहीं गये हैं।

इन लाक्षणिक प्रतीकों में लक्षणा का कार्य बड़ा ही चक्करदार है। उदाहरण के लिए हम 'विचारों में बच्चों की साँस' को ले सकते हैं। यह शब्द अंग्रेजी के 'इन्नोसेंट ब्रीथ' का हिन्दी रूप है। 'बच्चों की साँस' को 'भोलापन' का प्रतीक बताया गया है। भारतीय प्रयोजनवती लक्षणा की दृष्टि से यदि इस प्रयोग की चीर-फाड़ की जाय, तो वह यों होगी—इस प्रयोग में 'विचारों में बच्चों का साँस' कहकर 'विचारों' को आधार एवं 'बच्चों की साँस' को आधेय बनाया गया है, जो अभिधेयार्थ की दृष्टि से बिलकुल असंगत है। अतः मुख्यार्थबाध के अनंतर वांछित अर्थ की प्रतीति के लिए लक्षणा की ही उपासना करनी होगी। लक्ष्यार्थ ऐसा होना चाहिए, जिसका मुख्यार्थ से संबंध हो, और जिसमें यथाश्रुत (आधाराधेय भाव) संबंध बन जाय। इस दृष्टि से यहाँ का लक्ष्यार्थ हुआ—'भोलापन—सरलता-निष्कपटता'। यह 'निष्कपटता' मूलवाच्यार्थ से आधाराधेय भाव रूप से संबद्ध भी है और 'विचार' के साथ उसका यथाश्रुत (आधाराधेय भाव) संबंध भी बन जाता है अर्थात् 'विचारों में निष्कपटता' रह ही सकती है। इतना होने पर भी 'बच्चों की साँस' में से केवल 'बच्चों' की लक्षणा हुई और तब स्वरूप हुआ—'विचारों

में निष्कपटता की साँस है। अब, निष्कपटता की साँस ?' भला कब संभव है ? अतः 'साँस' पद अब भी लक्षणा की आवश्यकता रखता है ? वस्तुतः 'साँस' पद की लक्षणा 'सत्ता' रूप अर्थ में है क्योंकि 'साँस' एवं व्यक्ति की 'सत्ता' में द्योत्यद्योतक भाव संबद्ध है। इस प्रक्रिया से 'विचारों' में बच्चों की 'साँस'—इस वाक्य का लक्ष्यार्थ हुआ 'विचारों में निष्कपटता की सत्ता' है।

इस प्रकार प्रतीकों के माध्यम से लक्षणामूला व्यंजना का प्रसार उत्तरोत्तर हो रहा है। प्रतीकों में प्रयोजनवती लक्षणा की शुद्धा तथा गौणी साध्यवसाना लक्षणाएँ काम करती हैं। प्रयोजनवती लक्षणा के इतर रूपों का भी प्रचुर प्रयोग आज नये ढंग से हो रहा है। द्विवेदीकाल तक की हिंदी कविता में लाक्षणिकता का एक प्रकार से अभाव ही रहा, केवल कुछ रूढ़ लक्षणाएँ मुहाविरों के रूप में कहीं कहीं मिल जाती थीं। ब्रजभाषा में यदि किसी ने लाक्षणिक प्रयोगों का साहस दिखाया तो केवल घनानंद ने। नवीन उत्थान में सबसे अधिक लाक्षणिक साहस पंत जी ने दिखाया है और उसका कारण कुछ तो व्यक्तिगत प्रतिभा और कुछ लाक्षणिक प्रवृत्ति वाली आँग्ल-भाषा का अनुगमन है। 'पंत' जी की यह प्रवृत्ति खुलकर 'पल्लव' में जितनी आई है, उतनी अन्यत्र नहीं। इस लक्षणा के ही परिवेश में अंग्रेजी के रूढ़ प्रयोग (अलंकार) प्रायः आ जाते हैं, जो आज हिंदी में अंधाधुंध उतारे जा रहे हैं, अतः इस रास्ते भी व्यंजना का मुँह अधिक खुला है। 'छायावाद' कालीन भाषा को आलोचकों ने (इमैजिनेटिव लैंग्वेज) कल्पनागर्भ भाषा कहा है और इस भाषा की संपत्ति लाक्षणिक प्रयोग हैं।

उपादान लक्षणा के उदाहरण—

प्रणय का चुम्बन छोड़ अधीर
अधर जाते अधरों को भूल।
अरे वे अपलक चार नयन
आठ आँसू रोते निरुपाय,
उठे रोओं के आलिंगन
कसक उठते काँटों से हाथ !

—'पंत' का 'अनित्य जग'

भिन्न टाइप वाले पंक्तियों में उपादान लक्षणा काम कर रही है। अधर को अधरों का भूलना 'वाच्यार्थ की दृष्टि से असंगत प्रयोग है, अतः 'अधर' शब्द

'अधर' वालों के अर्थ में लाक्षणिक है। पहले बताया जा चुका है कि उपादान लक्षणा के बल से वाच्यार्थ कुछ और अर्थ का (उपादान) ग्रहण करके लक्ष्यार्थ की कोटि में प्रवेश करता है। इस प्रकार लक्षणा की सहायता से संपूर्ण वाच्य का अर्थ हुआ 'इस अनित्य जग में जो दो प्रणयी एक दिन यौवन के मधुमय वातावरण में चुंबन आदि रसमय व्यापारों से 'संयोग सुख' ले रहे थे, निठुर देव अकस्मात् उनमें से किसी को छीन लेता है और फिर जीवित अधर वाला प्रणयी वियोग की प्रतप्त वाष्प राशि में फूल से कपोलों को झुलस डालता है, इतना ही नहीं उत्तरोत्तर पड़ती हुई समय की धूलि एक दिन मृत अधरवाले की स्मृति पर अपनी इतनी मोटी तह जमा देती है, कि वह उसी में दब जाता है।' इसी प्रकार 'अरे वे अपलक चार नयन भी' तब तक 'निरुपाय' होकर आठ आँसू नहीं रो सकते 'जब तक कि ग्राहक 'लक्षणा' वृत्ति की उपासना नहीं करेगा। लक्षणा से अपलक चार नयन का अर्थ है 'निर्निमेष नेत्रों से विलोकनप्रवण दो प्रणयी।' 'अनित्य जग' जब इनमें से किसी को विनष्ट कर डालता है, तब नियति से लड़ने में दुर्बल मानव 'निरुपाय' होकर आठ आठ आँसू रोता रहता है। इसी प्रकार 'रोएँ' क्या आलिंगन करेंगे ? हाँ, पुलकित व्यक्ति आलिंगन कर सकते हैं। इन तीनों स्थलों में लक्षणा का प्रयोजन क्रमशः 'चुंबन व्यापार' 'आलिंगन व्यापार' 'एवं' 'विलोकन व्यापार' के अतिरेक को सूचित करता है। यही कारण है कि अन्य अंगों के वर्तमान रहते हुए भी कुछ इने गिने सरस व्यापार शील अंगों के द्वारा ही कवि संसार के विभिन्न रंगमय चित्रों को उपस्थित करता है और उनके विनाश द्वारा संसार की अनित्यता प्रतिपादित करता है।

इसी प्रकार एक उदाहरण 'पंत' जी की 'ग्रंथि' से लीजिए—

'अल्पता की संकुचित आँखें सदा, उमड़ती हैं अल्प भी अपनाव से' यहाँ सभी पदार्थों का विभक्तियों द्वारा द्योतित संबंध बाधित है। न तो 'अल्पता' को 'आखें ही होती हैं और न इन जड़ आँखों में 'संकोच' ही। अतः इन सभी स्थलों में लक्षणा होगी और प्रयोजनांश सर्वत्र व्यंजना से गृहीत होगा। यहाँ 'अल्पता' की लक्षणा 'अल्पतावाले' अर्थात् हर तरह से 'घोर दरिद्र' में होगी और 'संकुचित' का लक्ष्यार्थ होगा 'कृतज्ञता के भार से झुकी हुई'। आँखों के उमड़ने से तात्पर्य है हर्षोद्रेकवश प्रसूत अश्रुबिंदुओं से उत्कूल हो जाना। इन लक्षणाओं का प्रयोजन कहीं 'दारिद्र्य का अतिरेक' कहीं 'कृतज्ञता का आतिशय्य' आदि होंगे और ये ही व्यंजना के कार्य हैं। इस प्रकार सभी

लक्ष्यार्थों को एकत्र करें, तो उक्त पद्य का अर्थ होगा घोर दरिद्र व्यक्तियों को यदि महानों का अल्प अपनाव भी प्राप्त हो जाय, तो वे कृतज्ञता के भार से इतना झुक जाते हैं कि आँखों में विनति उद्वेल हो उठती है, आनंदाश्रु उमड़ पड़ते हैं।'

अंग्रेजी साहित्य का और प्रयोग है — अमूर्त का मूर्त विधान। लाक्षणिक मूर्तिमत्ता या भावों का गोचर रूपविधान इसी के भीतर आ जायगा। विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि भावों की कल्पना (भावित अनुभूति) जब कारयत्री प्रतिभा को बहुत तीव्र एवं स्पष्ट होती है और उन्हें कवि व्यक्त करना चाहता है, तो सूक्ष्म भावों को मिलता जुलता गोचर रूप देकर उन्हें आकारवान बना देता है और इस क्रिया से भाषा में प्रभविष्णुता आ जाती है। उदाहरणार्थ नीचे की पंक्तियाँ देखिए—

'इस करुणा कलित हृदय में, क्यों विकल रागिनी बजती।
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती।'
—आँसू

प्रस्तुत स्थल में 'वेदना' को 'गरजाया' गया है। यद्यपि 'गरजना' क्रिया की कर्तृता मुख्यतः लोक में अंतः वाष्पमय बादलों में ही प्रसिद्ध है, परंतु 'असीम' विशेषण के संपर्क से यहाँ समुद्र का 'गरजना' ही भीतरी आँखों के सामने आता है। ऐसा लगता है कि वेदना असीम समुद्र की भाँति अपने आपे में अपने वेग को सम्हाल नहीं पाती है और गरज गरज कर उत्कूल हो जाने का यत्न करती है। किसी सूक्ष्म भाव में मूर्त पदार्थों की क्रियाओं का संबंध जोड़ देने से वे भाव गोचर हो उठते हैं। यहाँ वही किया गया है। यहाँ 'गरजना' क्रिया की 'कर्तृता' वेदना में बाधित है, अतः इसकी लक्षणा 'आवेग' में होगी, तभी 'वेदना' की उक्त क्रिया से संगति बन सकेगी। इस आवेग का आतिशय्य व्यंग्य है, जो लक्षणलक्षणा का प्रयोजन है। यहाँ लक्षणलक्षणा का प्रयोग इसलिये है कि 'पद' अपने वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग (लक्षण) करता है, और एक अन्य ही संबद्ध अर्थ लाता है। छायावादी कविता ऐसे प्रयोगों से भरी हुई है।

एक दूसरा नवीन प्रयोग है — धर्मी के लिये धर्म का प्रयोग। यहाँ उक्त प्रयोग का वैपरीत्य है अर्थात् यहाँ मूर्त का सूक्ष्म विधान किया जाता है।

'बंद हुए हैं आज जेल में पुण्य हमारे पर्व'
सत्य, अहिंसा, देशभक्ति औ भारत गौरव गर्व ॥

तथा

जो चाहो सो दंड दो मैं तो हूँ अपराध ।

इन स्थलों में होता यह है कि जो व्यक्ति अपनी जिस विशेषता के लिये प्रसिद्ध है, भावातिरेक में उसे वही (गुण) कह दिया जाता है और उसी के द्वारा धर्मी का बोध हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि इन स्थलों में उपादान लक्षणा ही काम करती है। गुण या धर्मवाचक शब्द अपने वाच्यार्थ को अर्थांतर से युक्त करके लक्ष्यार्थ के परिवेश में स्थापित कर देता है। स्पष्ट है कि इस तरह के प्रयोगों का एकमात्र लक्ष्य होता है उन उन गुणों का उन उन गुणियों में आतिशय्य लक्षित कराना।

उक्त स्थल में अहिंसा, सत्य, देशभक्ति आदि को बंदी कहा गया है, जो वाच्यार्थ की दृष्टि से असंगत है। वंदी मूर्त (व्यक्त) हो सकते हैं, 'अमूर्त भाव नहीं। अतः उनमें वंदी-भाव दिखाने के लिये उपादान लक्षणा का सहारा लेना चाहिए। यहाँ सूक्ष्म की लक्षणा मूर्त पदार्थों के लिए की गई है, सत्य एवं अहिंसा की प्रसिद्धि गांधी में है, अतः ये पद 'गांधी' को ही लक्षित करते हैं। इसी प्रकार अन्य गुण भी हमारे मान्य नेताओं को लक्षित करते हैं।

एक और नवीन प्रयोग है विशेषण विपर्यय (Transferred Epithet–In this figure an epithet is transferred from a word to, which is properly belongs to some other word closely connected with it.) एक विद्वान का विचार है कि किसी कथन को विशेषण अर्थ से गर्भित तथा गंभीर करने के विचार से विशेषण का विपर्यय कर दिया जाता है। वस्तुतः अभिधावृत्ति से विशेषण की जो जगह हो सकती है, उसे वहाँ से हटाकर लक्षणा के सहारे दूसरे जगह बिठा दिया जाता है और इससे काव्य सौष्ठव समृद्ध हो जाता है। भावाधिक्य की व्यंजना के लिये इसका प्रयोग अत्यंत सुंदर है। उदाहरण लीजिए—

'कल्पने ! आओ सजनि ! उस प्रेम की, सजल सुधि में मग्न हो जावें
पुनः, खोजने खोये हुए निज रत्न को'

—पंत की 'ग्रंथि'

यहाँ 'सजल' को 'सुधि' का विशेषण बनाया गया है। वस्तुतः सजल से अभिप्राय है—वाष्पमयता का, जो आँखों की विशेषता है। वस्तुतः 'सुधि' स्वयं 'सजल' नहीं है, बल्कि (आँखों में) 'सजलता' का कारण है। स्पष्ट है यहाँ विशेषण स्थानांतरित कर दिया गया है। अब देखना यह है कि 'सजल' एवं 'सुधि' में जो विशेषण—विशेष्यभाव संबंध कवि को विवक्षित है, वह किस प्रकार बन सकता है? उक्त दोनों पदों के वाच्यार्थ तो परस्पर विशेषण विशेष्य भाव संपन्न नहीं हो सकते, फिर लक्षणा का सहारा आवश्यक है। वस्तुतः यहाँ 'सजल' शब्द 'सजल हेतु' अर्थ को लक्षित करता है और तब दोनों का विशेषण—विशेष्य भाव संसर्ग संपन्न हो जाता है। 'स्मृति' में अंतः वाष्प को उभाड़ने का कारणांतर से जो आधिक्य है, उसी की प्रतीति व्यंजना का लक्ष्य है। दूसरा उदाहरण लीजिए—

'भीख की भूखी झोली छीन, मान सच कुछ भी पायेगा न।
छान सूने मसान की खाक, हाथ कोई विधि आयेगा न।'

यहाँ झोली का विशेषण 'भूखी' है जब कि 'भूख' का संबंध प्राणी के पेट से है, अतः झोली भूखी कभी नहीं हो सकती। फिर 'भूखी' की लक्षणा (आवश्यकता होने पर भी) 'सूनी' में है। अब सूनी झोली हो सकती है। यहाँ रिक्तता का अतिरेक ही व्यंग्य है।

आजकल के नवीन व्यंजक प्रयोगों में मूर्त के लिए अमूर्त का विधान एक है। इसमें मूर्त सामान्य की जगह अमूर्त का कथन होता है। धर्मी के लिए धर्म का जो विधान होता है, उसका संबंध व्यक्ति से होता है, और यहाँ का अमूर्त जाति से संबंध रखता है। उदाहरण लीजिए—'दीनता के ही विकम्पित पात्र में ज्ञान बढ़कर छलकता है प्रीति से 'यहाँ 'दीनता' एक भाववाचक संज्ञा है, जिसको हाथ ही नहीं फिर पात्र कैसे ले सकता है? अतः 'दीनता' पद 'दीन व्यक्ति' के अर्थ में लाक्षणिक है। यहाँ भी उपादन लक्षणा ही है।

इसी प्रकार एक प्रसिद्ध प्रयोग 'मानवीकरण (परसानिफिकेशन) भी है। इसका प्रयोग भारतीय साहित्य में भी मिलता है और लक्षण ग्रंथकारों[1]

१—भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया।
—ध्व० आ० तृ० उ० पृ० ४६८ सन् १६२०।

ने भी इस प्रकार के प्रयोग की अनुमति दी है। हाँ यह अवश्य है कि इस अनुशासन के प्रायोगिक रूप में यत्र-तत्र मिलना एक बात है और एक प्रवृत्ति-विशेष के रूप में बराबर मिलना दूसरी बात। प्रायः जितने प्रकार के प्रयोग ऊपर दिखाये गए हैं, उन सबके संबंध में यह बात लागू होती है।

मानवीकरण का अर्थ है[१]—अमानव को मानव के रूप में अथवा और व्यापक करके कहें तो—'अचेतन को चेतन के रूप में वर्णन करना। ध्वन्यालोक-कार ने यही तो कहा है कि अचेतन भावों को चेतन की तरह कवि स्वेच्छा पूर्वक वर्णन कर सकता है। उन्होंने तो आगे बढ़कर यह भी कह दिया कि वह चाहे तो चेतन को अचेतन की भाँति भी वर्णन कर सकता है। अचेतन को चेतन की तरह वर्णित करने का यह अर्थ है कि उन्हें (अचेतनों को) जीवन और अंतःकरण दिया जाय और उसके गुण—धर्मों का उनमें इस प्रकार वर्णन किया जाय, कि लगे, वे उनके अपने व्यापार और विशेषतायें ही हों।

'प्रसाद' ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक कामायनी में 'लज्जा' वृत्ति को चेतनरूप ही दिया है। 'लज्जा' एक चितवृत्ति होने के कारण वह अचेतन हुई, पर उसे एक स्त्री के रूप में प्रतिष्ठित किया गया, जो 'गुनगुना उठती है।' उसके सारे व्यापार इस तरह वर्णित हैं, जो उसके अपने जान पड़ते हैं। शुक्ल[२] जी ने इस विशेषता की चर्चा करते हुए कहा है कि छायावादी 'भाषा' में कलावाद एवं अभिव्यंजनावाद का पहला प्रभाव यह दिखाई पड़ा कि काव्य में भावा-नुभूति के स्थान पर कल्पना का विधान ही प्रधान समझा जाने लगा और कल्पना अधिकतर अप्रस्तुतों की योजना करने तथा लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और विचित्रता लाने ही में प्रवृत्त हुई। दूसरा प्रभाव प्रकृति वर्णन के क्षेत्र में वैचित्र्यपूर्ण 'काल्पनिक' प्रयोग का लक्षित होता है। यूरोपीय साहित्य में तो यह मत ही प्रचार पाने लगा कि प्राकृतिक दृश्यों का प्रत्यक्षीकरण मात्र तो स्थूल व्यवसाय है, उनको लेकर कल्पना की एक सृष्टि खड़ा करना ही कवि कर्म है। 'इस प्रवृत्ति के अनुसार कुछ लोगों ने तो प्रकृति के नाना रूपों के बीच व्यंजित होने वाली भावधारा का बहुत सुंदर उद्घाटन किया पर

१—"Personification is a figure by which we attribute life and mind to inanimated things and ideas with qualities and passion life his own."

२—हिंदी साहित्य का इतिहास।

बहुतेरे अपनी बेमेल भावनाओं का आरोप करके उन रूपों को अपनी अंतर्वृ-त्तियों से छोपने लगे। उदाहरणार्थ—

> जग के दुःख दैन्य शयन पर यह रुग्णा जीवन बाला।
> पीली पर निर्बल कोमल कृश देह लता कुम्हिलाई।
> विवसना, लाज में लिपटी, साँसों में शून्य समाई।

चाँदनी के सहज स्वरूप को कवि ने अपनी अंतर्वृत्ति को प्रतिबिंबित करने में पूरा पूरा ढँक दिया है। चाँदनी सामान्यतः उक्त प्रकार की भावना नहीं जगाती। उसके संबंध में यह उद्‌भावना भी केवल स्त्री की मुद्रा सामने खड़ी करती दिखाई पड़ती है। इस प्रकार की विचित्र चित्र-विधायिनी कल्पना का प्रयोग काव्य को कला मान लेने से है। काव्य भी जब कला हो गया, तो उसका लक्ष्य भी धीरे धीरे सौंदर्य-विधान हो गया और इस सौंदर्य की भावना को रूप देने में मनोविज्ञान के क्षेत्र से आए हुए उस सिद्धांत का भी असर पड़ा है, जिसके अनुसार अंतस्संज्ञा में निहित अतृप्त कामवासना ही कलानिर्माण की प्रेरणा करने वाली वृत्ति है इस प्रकार जब सौंदर्यभावना कामवासना से प्रेरित ठहराई गई तब पुरुष कवि के लिये यह स्वाभाविक ही ठहरा कि उसकी सारी सौंदर्य भावना स्त्रीमयी हो अर्थात् प्रकृति के अपार क्षेत्र में जो कुछ दिखाई पड़े, उसे सुंदर रूप में दिखाने के लिए उसकी सारी सौंदर्यभावना स्त्री के रूप सौंदर्य के भिन्न भिन्न अंग लाकर ही की जाय। अरुणोदय की छटा का अनुभव कामिनी के कपोलों पर दौड़ी हुई ललाई लाकर की जाय, राका रजनी की सुषमा का अनुभव सुंदरी के उज्ज्वल वस्त्र या शुभ्र हास द्वारा किया जाय, आकाश में फैलती हुई कादंबिनी तबतक सुंदर न लगे, जब तक उस पर स्त्री के मुक्त कुंतल का आरोप न हो। आजकल तो स्त्री कवियों की भी कमी नहीं है उन्हें अब पुरुष कवियों का दीन अनु-करण न कर अपनी रचनाओं में क्षितिज पर उठती हुई मेघमाला को दाढ़ी मूछ के रूप में देखना चाहिए।' यहाँ तक तो छायावादी कविता में अमानव प्रकृति पर मानवीय भावों के आरोप की चर्चा हुई।

इस मानवीकरण से 'समासोक्ति' नामक अलंकार का बहुत दूर तक मेल है।

> 'नीले नभ के शतदल पर बैठी वह शारद हासिनि'।
> मृदु करतल पर शशि मुख धर नीरव, अनिमिष, एकाकिनि।'
>
> —पंत

इसमें प्रस्तुत है टहकती हुई ज्योत्स्ना, जिसके मानवेतर होने में किसी को संदेह नहीं हो सकता। समासोक्ति में प्रस्तुत या वर्ण्य वृत्तांत से अप्रस्तुत वृत्तांत का स्फुरण होता है। यह अप्रस्तुत वृत्तांत व्यंजना के सहारे मिलता है। यहाँ दूसरा अथवा अप्राकरणिक अर्थ जो व्यंग्य हो रहा है वह है एक नायिका का। यह नायिका नीरव एवं निर्निमेष मुद्रा में अपने करतल पर मुखेन्दु को रखी चिंताकातर मुद्रा में बैठी हुई जान पड़ती है।

आधुनिक कविता की ओर प्रवृत्ति है अंग में भावपूर्ण विशेषण, पर इसके लक्ष्य विशेषण-विपर्यय के लक्ष्यों के से प्रतीत होते हैं--

तेरे क्रंदन तक में सुगान, सुनते हैं जग के कुटिल कान।
लेने में ऐसा रस महान्, हम चतुर करें किस भाँति चूक।
ओ कोइल, कह यह कौन कूक ?

यहाँ 'कान' में 'कुटिल' विशेषण किया गया है। यह एक भावपूर्ण विशेषण है। कौटिल्य अंतःकरण की एक वृत्ति है, अतः कुटिलता अंतःकरण में ही संभव है, कान में नहीं। विशेषण विपर्यय में भी तो यही होता है। यहाँ 'कुटिल पद की लक्षणा 'कौटिल्य संपन्न अंतःकरण वाले व्यक्ति' के लिये है। इस प्रकार कुटिलकान का अर्थ है 'कुटिलव्यक्ति के कान'। यहाँ 'कौटिल्य' का आतिशय्य ही व्यंग्य है। यद्यपि लक्ष्यों की एकता होने से लक्षण एक नहीं मान लिए जाते, तथापि 'विशेषण विपर्यय' से उक्त प्रयोग का अनैक्य तभी माना जा सकता है, जब दोनों के लक्ष्य विविक्त या असंकीर्ण रूप से मिलें। यहाँ उपादान लक्षणा स्पष्ट ही है।

इसी प्रकार एक प्रवृत्ति और भी है--अंग से अंगी का बोध। कभी कभी मूर्त्त-विधान की प्रवृत्ति से काव्य में अंग को अंगी बना दिया जाता है। मानव शरीर का जो एक अंगमात्र है, उसके साथ भी किसी दूसरे अंग का संबंध जोड़ दिया जाता है। यह कार्य बहुधा उसकी प्रवृत्ति तथा वाग्धारा पर विचार रखकर किया जाता है--

'लालची लोचनों के तो मुँह में पानी भर आता।' 'लोचनों' में 'मुँह, जोड़ देने से भावाभिव्यक्ति सशक्त हो गई है। 'मुँह में पानी भर आना' एक मुहाविरा है जहाँ निरूढ़ा लक्षणा कार्य करती है इसका अर्थ है ललचाना। यहाँ रूप के लालची नेत्रों की विशेषता बताई गई है। बाध 'लालची' विशेषण में है।

कहीं कहीं लक्षणा के बड़े ही घुमावदार प्रयोग मिलते हैं। शुक्ल जी ने 'मर्म पीड़ा के हास' में लक्षणा के कसरत की चर्चा अपने इतिहास में की है। रामदहिन जी ने अपने ग्रंथों में 'दुहरी लक्षणा, अस्वाभाविक लक्षणा, प्रयोजन-शून्य लक्षणा आदि के उदाहरण दिए हैं।

छायावाद की प्रमुख प्रवृत्ति अन्योक्ति पद्धति की भी है। छायावाद की रचनाएँ गीतों के ही रूप में अधिक होती हैं। इससे उनमें अन्विति बहुत कम दिखाई पड़ती है। जहाँ यह अन्विति होती है, वहाँ समूची कविता अन्योक्ति पद्धति पर की जाती है। प्रकृति अनंत रूपों एवं व्यापारों के द्वारा अनेक बातों की गूढ़ या अगूढ़ व्यंजना करती है, इसे परख कर ही साम्य विधान करना उचित है अन्योक्ति में अप्रस्तुत द्वारा तुल्य प्रस्तुत की व्यंजना की जाती है। नवीन नवीन अन्योक्तियों से व्यंजना का प्रसार ही तो होगा। निराला जी की 'झरना' शीर्षक रचना सब जीवात्मा पर घट जाती है, अतः वह एक सुंदर अन्योक्ति है। इसी प्रकार महादेवी जी की 'पूछता क्यों शेष कितनी रात' भी अन्योक्ति का ही उदाहरण है। यहाँ दीपक अप्रस्तुत एवं साधक प्रस्तुत है। साधक परक अर्थ व्यंजना व्यापार से मिलता है।

छायावादी कवियों में पर्यायों के प्रयोग पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है। सुमित्रानंदन पंत ने लिखा है कि वीचि, उर्मि, लहर, तरंग आदि पर्यायों में से प्रत्येक अपना एक पृथक् पृथक् अर्थ उपस्थित करते हैं। इसी बातको शुक्ल जी ने 'काव्य' में प्राकृतिक दृश्य' शीर्षक लेख में कहा है कि पदों की अभिधा से जहाँ वैयाकरणों ने जाति, गुण क्रिया एवं यदृच्छा रूप सांकेतिक अर्थों की चर्चा की, वहाँ 'बिंबार्थ' की चर्चा छोड़ दी। उदाहरण के लिए एक 'कमल शब्द लें' तो स्पष्ट ही 'कमल' शब्द के कथन से दो प्रकार के अर्थ प्रतीत होते हैं सामान्य एवं विशेष। अविदग्ध जनों के मानस चक्षु के समक्ष एक सामान्य चित्र ही उपस्थित होता है, पर विदग्धों के हृदय पटलपर एक लाल लाल पंखुड़ियों से लदा हुआ धीरे धीरे कमल या पुष्प विशेष प्रत्यक्षायमाण होता है। यद्यपि शब्द के द्वारा जो पदार्थ मस्तिष्क में स्फुरित होते हैं, वे परोक्ष ही होते हैं, पर विदग्ध ग्राहक का यदि उस पदार्थ का संबंधी संस्कार जागरूक है, तो वह उसका ग्रहण प्रत्यक्षायमाण कमल के रूप में ग्रहण करेगा। परोक्ष ज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान से अंतर स्पष्ट ही है कि परोक्ष ज्ञान के विषयों की वे अशेष विशिष्टताएँ जो प्रत्यक्ष से गृहीत होती हैं, नहीं हो पातीं, अतः परोक्ष ज्ञान सामान्य रूप से ही होता है। इस प्रकार जहाँ

तक अन्वय व्यतिरेक से (ग्राहक निरपेक्ष) शब्द की अभिधा की जितनी शक्ति है, उस से सामान्य अर्थ की ही प्रतीति होती है, विशेष अर्थ के ग्रहण कराने में शब्द की अभिधा शक्ति नहीं काम करती, किंतु ग्राहक के जागरूक संस्कार कार्य करते हैं। अतः इस बिंबार्थ के विधान में शब्द की अभिधा अक्षम है। हाँ, क्रम यह है, कि पहले ग्राहक सामान्य कमल शब्द सुनता है और इस शब्द के सुनने पर उसे सामान्य अर्थ की प्रतीति होती है, फिर वह सामान्य अर्थ ग्राहक के तत्संबंधी गाढ़ संस्कार को उद्बुद्ध कर देता है और तब अंतःकरण की विभिन्न वृत्तियाँ उन संस्कारों को जोड़ जाड़कर एक अशेष विशेषताओं से समन्वित कमल को उपस्थित करती हैं। इस क्रम का ज्ञान न होने से ही इस विशेष या बिंबार्थ को अभिधा का ही कार्य कह दिया जाता है। वस्तुतः इसमें ग्राहक का संस्कार या कल्पना कार्य करती है। डा० नगेंद्र ने इसी पद्धति को ध्यान में रखकर कहा है कि ऐसे शब्दों में दो प्रकार के सामर्थ्य है। 'एक तो सामान्य या सांकेतिक अर्थ के उपस्थापन को और दूसरे विशेष या बिंबार्थ के योजक कल्पना के उद्बोधन की। कल्पना के उद्बोधन की यही शब्द-शक्ति या सामर्थ्य व्यंजना है। उन्होंने अपने संपादित ध्वन्यालोक की भूमिका में कहा है—'व्यंजना कल्पना को उकसानेवाली एक शब्द शक्ति है।' संभवतः वह इसी स्थल को ध्यान में रखकर कहा गया है। पर विचार करने पर यह स्पष्ट लक्षित होता है कि नगेंद्र जी का यह कथन या व्यंजना की यह व्याख्या ठीक नहीं है। क्योंकि जहाँ कल्पना से उपस्थापित या खचित विभावादिकों से हम रस प्राप्त करेंगे, वहाँ विभावादिकों का रस के प्रति कौन व्यापार होगा ? विभावादि के उपस्थापन से पूर्व ही यहाँ कल्पना का व्यापार हो चुका है, अतः आगे कल्पना की गुंजाइश है नहीं, तो यहाँ आपके मत से व्यंजना नहीं होनी चाहिए। पर सिद्धांत में यहाँ व्यंजना स्वीकृत है। व्यंजना तो एक प्रकार का प्रकाशन है, जो सिद्ध वस्तुओं से संबंध रखती है। रस की इस सिद्धरूपता को ध्यान में रखकर दर्पणाकार ने इसे व्यंजना का कार्य न कहकर एक पृथक व्यापार का ही कार्य माना और उसका नाम 'रसना' व्यापार दिया।

प्रश्न यह है कि आखिर कमल शब्द श्रवण के अनंतर जो प्रत्यक्षायमाण कमल रूप पदार्थ का बिंब ग्रहण होता है, उसमें शब्द का वैशिष्ट्य है या ग्राहक का ? और शब्द का वैशिष्ट्य है तो किस प्रकार का है ? इस प्रश्न के समाधान में एक मत का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस मत के

आविष्कारक नगेंद्र जी हैं। द्वितीय मत है पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र एवं पं० रामअवध द्विवेदी जी का। ये लोग विशेष या बिंबार्थ के उपस्थापन में शुद्ध कल्पना का ही महत्व अर्थात् ग्राहक का ही वैशिष्ट्य स्वीकार करते है। पं० महादेव शास्त्री जी का विचार है, जो तृतीय मत कहा जा सकता है— यहाँ शब्द का वैशिष्ट्य है। गुरुचरण शास्त्रों के कट्टर अनुयायी हैं और शास्त्रानुकूल विचार यह है कि कल्पना एवं प्रतिभा एक है और प्रतिभा ऐसे अर्थों के उपस्थापन में सहकारी कारण है। इस अर्थ की उपस्थिति में मुख्य शब्द ही है। प्रतिभा की जागरूकावस्था में भी शब्द की अभिधाशक्ति इन अर्थों का उपस्थापन नहीं कर सकती। क्योंकि ऐसे पुरुषों में जिन्हें कमल की अभिधा गृहीत है, सब समय (अर्थात् प्रतिभा की जागरूक या अजागरूक किसी भी अवस्था में) इस विशेष अर्थ को प्रतीति नहीं होती और उचित यह है कि सब समय जितना अर्थ प्रतीत हो उतने ही से अभिधा माने। सब समय उपस्थित होनेवाला अर्थ सामान्यात्मा ही है। अतः वही अभिधेय है।

हाँ, यदि कवि को वही विशेष अर्थ या बिंबार्थ ही विवक्षित है, तो वहाँ उस विवक्षित बिंबार्थ की प्रतीति लक्षणा से होगी, क्योंकि कवि का तात्पर्य अभिधेयार्थ में नहीं है, अतः ऐसे स्थलों में कवि की तात्पर्यानुपत्ति रूप लक्षणा का बीज वर्तमान है। परंतु जहाँ कहीं वह बिंबार्थ कबि का विवक्षित न हो, पर ग्राहक की भावुकता वश प्रतिभा में स्फुरित हो जाय तो वहाँ अभिधा एवं लक्षणा से अतिरिक्त तृतीय शक्ति ही काम करेगी, यह तृतीय शक्ति व्यंजना ही तो है। ऐसे स्थल व्यंजना की प्रसार भूमि है। एक तरह से तो कल्पना भी व्यंजना है क्योंकि कल्पना-भावना है और भावना-व्यंजना।

इस प्रकार अनेकानेक नए-नए प्रयोगों के माध्यम से व्यंजन का प्रसार किया जा रहा है।

सन् ३६ ई० के बाद से हिंदी काव्य में प्रगतिवाद का प्रवेश हुआ। जिस प्रकार रहस्यवाद के संबंध में शुक्ल जी ने कहा है कि जब दर्शन के क्षेत्र का अद्वैत भावना के क्षेत्र में उतरता है, तो रहस्यवाद का जन्म होता है कुछ उसी तरह की बात प्रगतिवाद के विषय में भी कही जाती है अर्थात् जब मार्क्सवादी राजनीति के दल-गत विचार साहित्य के क्षेत्र में उतरते हैं, तो प्रगतिवाद का जन्म होता हैं। छायावादियों की दृष्टि कला या अभिव्यक्ति शैली पर टिकी है। अतः हृदय अपने को बाहर ठीक ला सके इसके लिए नये नये प्रयोगों की

आवश्यकता हैं भी और हुई भी । यहाँ कवि का 'अहं' जागरूक है । प्रगतिवाद में परिस्थितियों वश सामाजिक चेतना का सशक्त स्वर विद्यमान है । उन व्यक्तिवादियों के लिए प्रगतिवाद में कोई स्थान नहीं है, जिनके लिए कलाकार का 'अहं' समाज की समस्याओं से अधिक महत्व रखता है अथवा जो व्यक्तिगत सुखोपभोग एवं आत्म वृत्ति को ही काव्य की मुख्य भावना के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, जिन्हें समाज के ज्वलंत प्रश्नों से कोई सरोकार नहीं । अतः इस वाद में नये प्रयोगों की सृष्टि हो गई हो तो हो गई हो पर यह लक्ष्य नहीं था ।

इसके अनंतर 'अज्ञेय' प्रवर्तित प्रयोगवाद का युग आता है । यद्यपि प्रयोग का शील युग युग से रहा है परंतु प्रयोगवाद आधुनिककाल की वस्तु है। आज के इन प्रयोगों में परिस्थिति, प्रयोजन, दिशा एवं आग्रह का भी अंतर है । प्रयोगवाद के इन कवियों के विषय की ओर से दृष्टि हटाकर रूप-विधान भाव प्रेषण या आत्मनिवेदन को आधुनिक काव्य की प्रमुख समस्या माना है ।" (त्रिशंकु में 'वागर्थप्रतियत्तये' शीर्षक निबंध से) इनके अनुसार समाज के अनेक वर्गों में विभाजित हो जाने के कारण और ज्ञान के सामूहिक क्षेत्रों में बँट जाने के फलस्वरूप भाषा भावों के साधारणीकरण में असमर्थ होती जा रही है । (तार सप्तक) । अतः कलाकार का प्रधान लक्ष्य नवीन 'प्रयोगों' के द्वारा भाषा एवं अभिव्यक्ति को इस प्रकार समर्थ बनाना है कि वह आज के जीवन की जटिलता से उत्पन्न समाज के 'विभाजित सत्य को समूचा' प्रदर्शित कर सके । 'द्वितीय सप्तक' में प्रयोगों का लक्ष्य सत्य की खोज है । इस कविता में कवि की व्यक्तिवादी मनोवृत्ति अतृप्ति एवं कुण्ठाजनित अहंवादिता और यौन-भावना का ही प्राधान्य है ।

उदाहरण—

बंद कमरे
या कि दरवाजों भरी दीवार
शर्त नंगे झरोखों की –
या कि गलियों पार झोंको की उदास पुकार
लाओगे, क्या लाओगे ? ओ अपरिचित । [नववर्ष

[केदारसिंह । उद्धृत, 'आजकल' जून १९५५]

आदि से अंत तक वाच्यार्थ बाध है ही, अतः लक्षणा की सहायता अपे-

क्षित है। इस कविता का शीर्षक है 'नए वर्ष के प्रति' और यह काफी लंबी है। कवि की यह जिज्ञासा है कि अपरिचित यह नव-वर्ष जन-जीवन के लिए क्या लायगा 'बंद कमरे' या 'दरवाजों भरी दीवार' ? यहाँ 'बंद कमरे हैं 'घुटे हुए जीवन' के प्रतीक। यहाँ गौणी साध्यवसाना लक्षणा कार्य कर रही है। विवक्षित अर्थ का वाचक शब्द यद्यपि सुलभ है, तथापि लाक्षणिक शब्द का प्रयोग कवि का कुछ अवश्य निहित प्रयोजन सूचित करता है। वह निहित प्रयोजन कौन सा है जो ध्वन्यालोक के शब्दों में 'उक्त्यन्तरेणाशक्य' है ? विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह प्रयोजन उन समानताओं या साधारण धर्मों का आतिशय्य-प्रत्यायन ही है, जो वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ दोनों में वर्तमान है, हाँ यदि तारतमिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाय तो यह होना ही चाहिए कि वर्ण्य से अवर्ण्य में वे धर्म उत्कट कोटि के हों। वे समान धर्म हैं—(१) दोनों का उन्मुक्त वायुमंडल से पार्थक्य अर्थात् कमरा भी ऐसा, जिसमें कहीं से कोई रंध्र नहीं ताकि बाहरी वायु का उसमें प्रवेश हो और भीतरी का रेचन। इसी प्रकार जीवन भी ऐसा कि जो रूढ़ियों से इस कदर बद्ध हो, कि वह बाह्य एवं नव विचारों को प्रवेश न पाने दे और भीतर के प्रयोजन-शून्य एवं ऊब पैदा करने वाली प्रवृत्तियों का निर्गमन न होने दे (२) जिस प्रकार बंद कमरा बाह्य वायु से असंपृक्त रहकर विभिन्न प्रकार के कीटाणुओं, दुर्गंध एवं अनुपयोगिता की राशि है उसी प्रकार वह जीवन भी जो बाह्य एवं नव विचारों से असंपृक्त है, प्रयोजन शून्य एवं निरुत्साहमयी रूढ़ियों से भरा रह कर विभिन्न प्रकार की कुत्सित प्रवृत्तियों का अड्डा है। (३) यहाँ बाहरी वायु को स्वस्थ एवं परिवर्तन-प्रिय विचारों का प्रतीक मानना चाहिए। विभिन्न प्रकार की जड़ी-बूटियों एवं सुगंधों से मिश्रित एवं नव किरणों में निखर कर आने वाली वायु की सी स्थिति नव-विचारों की भी है पर जैसे वह बंद कमरा इस सुविधासे बंचित हो जाता है, वही स्थिति बंद जीवन की भी होती है, वह भी उन विचारों से बंचित हो जाता है, जो स्वस्थ मस्तिष्कों से युगोपयोगी उपादेयताओं से भरकर व्यवहार में निरखते हुए सर्वत्र मान्यता प्राप्त करते रहते हैं। इस प्रकार न जाने ऐसे कितने साम्य कवि के उपचेतन अचेतन या चेतन मन में सोये, जगे रहते हैं, जिनसे प्रेरित होकर वह ऐसे प्रयोगों द्वारा अपनी आत्मा को व्यक्त करता है।

इस प्रकार पश्चिम से आई हुई कुछ विशेष प्रवृत्तियों द्वारा तो व्यंजना का प्रयोग हो ही रहा है।

पूर्व चर्चित विभिन्न वाद भी किस तरह व्यंग्यार्थ की ओर उत्तरोत्तर झुकते चले जा रहे हैं, इसकी चर्चा 'पश्चिमी साहित्य और व्यंजना' नाम के अध्याय में पीछे दिखायी जा चुकी है। पर एक बात ध्यान रखने की यह है कि यह व्यंजना उत्तरोत्तर इतनी गूढ़ होती जा रही है, कि सहृदय समाज भी जब तक एड़ी से चोटी तक का श्रम न करेगा, तब तक उसके पल्ले कोई व्यवस्थित विचारधारा पड़ने की आशा नहीं। लक्षणा की भी यही स्थिति है। उसका प्रयोग इतने घुमाव के साथ होता जा रहा है, कि उसमें उसकी तीनों शर्तों का सम्यक् निर्वाह लक्षित नहीं होता। यही कारण है 'नेयार्थत्व' दोष पद-पद पर लक्षित होता है। कविता में 'अतिरिक्त अर्थ' की 'गूढ़ता' चमत्कार की विनाशिनी होने के कारण किसी दिन दोष मानी जाती थी, पर आज पश्चिमी जगत् में यह (Ampiguity) अस्पष्टता इतनी उपास्य हो गई है, वही काव्य का मूर्धन्य गुण बन बैठी है। आज का ख्यातिलब्ध कवि ईलियट अपनी इसी विशेषता के कारण प्रसिद्ध है। ईलियट काव्य में 'अव्यक्ति-वाद का प्रचारक है, अर्थात् वह यह मानता है कि कविगत भाव से काव्यगत भाव सर्वथा पृथक् है और मानता यह भी है कि काव्यगत भाव संवेदनाओं और अनुभूतियों का समन्वित रूप है। कवि या कलाकार व्यक्तित्व न होकर केवल माध्यम है, जिसमें कलासृजन के दबाव के प्रेरणा से काव्यगत भाव निष्पन्न होते हैं।[१] इन्हीं लोगों के अंधानुकरण में हिंदी भी अपनी परंपरागत प्रवृत्तियों, सीमाओं एवं व्यवस्थाओं का अतिक्रमण करती चली जा रही है। हमारी कविता पुराण को अनवद्य मानकर नवीन को उसकी उपादेयता परख कर ग्रहण करे— इसी में उनका स्थय और स्वरूप-रक्षा है। हमारे मान्यवर कवि कालिदास का कथन आज फिर भी इस संक्राति काल के लिए प्रकाश स्तंभ है—

"पुराणमित्येव न साधु सर्व न चापिकाव्यं नवमित्यवद्यम्"

———

१—प्रतीक भाग २—नगेंद्र

सहायक ग्रन्थ

हिंदी खण्ड

काव्यग्रन्थ—

१—कामायनी	जयशंकर 'प्रसाद'
२—लहर	जयशंकर 'प्रसाद'
३—ग्रन्थि	सुमित्रानंदन 'पंत'
४—पंचवटी	मैथिलीशरण गुप्त
५—आधुनिक कवि	सुमित्रानंदन पंत
६—आधुनिक कवि	डा० रामकुमार वर्मा
७—आधुनिक कवि	महादेवी वर्मा
८—साकेत	मैथिली शरण गुप्त
९—यशोधरा	,, ,,
१०—रामचन्द्रिका (प्र० भाग)	केशवदास
११—बिहारी रत्नाकर	कविवर बिहारी [टीकाकार-'रत्नाकर']
१२—फुटकर कविता	केदारनाथ सिंह प्रभृति
१३—पल्लव	सुमित्रानंदन पंत

साहित्य शास्त्र—

१४—हिंदी ध्वन्यालोक	आचार्य विश्वेश्वर
१५—हिंदी वक्रोक्ति जीवित	,, ,,
१६—भारतीय साहित्य शास्त्र	बलदेव प्रसाद उपाध्याय
१७—काव्य दर्पण (प्र० सं०)	रामदहिन मिश्र
१८—काव्यालोक	,, ,,
१९—हिंदी में अप्रस्तुत योजना	,, ,,
२०—पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत	लीलाधर गुप्त
२१—रसमीमांसा	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

२२—साहित्य लोचन	श्यामसुंदर दास
२३—हिंदी साहित्य का साथी	पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी
२४—चिंतामणि (द्वि० भाग)	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
२५—आधुनिक कविता की भाषा	श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी
२६—बीसवीं शताब्दी (हिंदी साहित्य)	श्री नंददुलारे वाजपेयी
२७—नए साहित्य और नए प्रश्न	,, ,,
२८—काव्य कला तथा अन्य निबंध	जटाशंकर प्रसाद
२९—काव्य में अभिव्यंजनावाद	लक्ष्मी नारायण सिंह सुधांशु
३०—काव्यांगकौमुदी	पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
३१—काव्य कल्पद्रुम	सेठ कन्हैयालाल पोद्दार
३२—हिंदी साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
३३—भारतीय दर्शन	बलदेव प्रसाद उपाध्याय
३४—आधुनिक साहित्य का विकास	डा० श्रीकृष्ण लाल
३५—भाषालोचन	सीताराम चतुर्वेदी
३६—वक्रोक्ति और अभिव्यंजना	रामनरेश वर्मा

पत्रिका—

'आलोचनांक'—आलोचना
प्रतीक भाग २

———

ENGLISH BOOKS

1	Making of Literature	R. A. Scottjames
2	Practical Criticism	I. A. Richrds
3	Maning of Meaning	,, ,,
4	Speculative Instrument	,, ,,
5	Philosophy of Rhetoric	,, ,,
6	Principle of Literary Criticism	,, ,,
7	Emma	James Austen
8	Rhetoric	Aristotle
9	Poetics	,,
10	On the Sublime	Longinous
11	Dictionary of world Literature	J. T. Shipley
12	Wit In Resturation Period	—Fuji Mura
13	History of English Criticism	—George Saintsbury
14	Principle of Literary Criticism	—Lascelles Abercrombie M.A.
15	Essay on Criticism	Pope
16	Seven types of Amb-iguties	Empson
17	Litraria Biographia	S. S. Colerridge
18	The Idea of Great Poetry	L. Abercrombie, M. A.

सहायक पुस्तकों की संक्षिप्त सूची

(क) संस्कृत खण्ड

वैदिक ग्रंथ

१—ऋग्वेद	अपौरुषेय
२—निरुक्त	महर्षि यास्क

मीमांसा

३—श्लोक वार्तिक	कुमारिलभट्ट
४—न्यायप्रकाश	आपदेव
५—शास्त्रदीपिका	पार्थसारथि मिश्र

न्याय एवं वैशेषिक शास्त्र

६—मुक्तावली	विश्वनाथ पंचानन
७—शक्तिवाद	गदाधर भट्ट
८—शब्दशक्तिप्रकाशिका	जगदीश तर्कालंकार
९—व्युत्पत्तिवाद	गदाधर भट्ट
१०—न्यायकुसुमांजली	उदयनाचार्य

व्याकरण शास्त्र

११—परम लघु मंजूषा	नागेश भट्ट
१२—लघु मंजूषा	,,
१३—वैयाकरण भूषण सार	कौण्ड भट्ट
१४—महाभाष्य	पतंजलि
१५—परिभाषेन्दु शेखर	नागेश भट्ट
१६—सिद्धान्त कौमुदी	भट्टो जी दीक्षित
१७—वाक्यपदीय	भर्तृहरि

वेदान्त

१८—वेदांत परिभाषा	धर्मराजाध्वरींद्र

काव्य शास्त्र

१६—रसगंगाधर	पं० राज जगन्नाथ
२०—व्यक्तिविवेक	महिम भट्ट
२१—काव्यप्रकाश (वामनी)	मम्मट भट्ट
२२—ध्वन्यालोक	आनंदवर्द्धन
२३—कुवलयानंद	अप्पयदीक्षित
२४—वृत्तिवार्तिक (द्वि० आ०)	,,
२५—चित्रमीमांसा	,,
२५—दशरूपक	धनिक-धनञ्जय
२७—काव्यमीमांसा	राजशेखर
२८—वक्रोक्तिजीवित	कुन्तक
२६—शृंगारप्रकाश	भोजराज
३०—काव्यप्रदीप	म० म० श्री गोविन्द ठक्कुर
३१—साहित्यदर्पण	महापात्र विश्वनाथ
३२—काव्यालंकार	भामह
३३— ,, ,,	रुद्रट
३४—अलंकार सर्वस्व (द्वि० आ०)	रुय्यक
३५—नाट्यशास्त्र (अभिनवभारती)	आचार्यभरत

सांख्य शास्त्र

३६—सांख्यतत्त्वकौमुदी	ईश्वरकृष्ण

कोष ग्रन्थ

३७—अमरकोष (रामाश्रमी)	अमरसिंह
३८—वाचस्पत्यभिधानकोष	तारानाथ वाचस्पति

तंत्र ग्रंथ

३६—प्रपंचसार	शंकराचार्य

सामान्य ग्रंथ

४०—सनातनधर्मोद्धार	पं० नकछेदराम द्विवेदी

प्रबन्धान्तवर्ती पारिभाषिक पदों के अर्थ।

(अ)

(१) अन्वयव्यतिरेकः—इसका उपयोग कार्यकारणभाव निश्चय में होता है। कारण के रहने पर कार्य का सदैव रहना ही कारण का कार्य से अन्वय तथा कारण के न रहने पर कार्य का सर्वथा न रहना ही व्यतिरेक है। इस प्रकार जिस वस्तु का जिस वस्तु से अन्वय तथा व्यतिरेक हो, उनका परस्पर कार्यकारण भाव संबंध होता है।

(२) अतद्व्यावृत्ति—इसका पर्याय 'अपोह' तथा 'भेद' भी है। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार किसी भी शब्द की अभिधा 'अतद्व्यावृत्ति' में ही गृहीत होती है। इन लोगों का मत है कि जितने भी 'सत्' पदार्थ हैं, वे सब क्षणिक हैं और इसी कारण से इन क्षणिक पदार्थों में शक्तिग्रह नहीं हो सकता। निरन्तर एवं अनुगत प्रतीति का विषय तो 'भेद' (अभाव) ही हो सकता है, अतः प्रतिक्षण परिवर्तनशील 'सत्' की अपेक्षा निरन्तर वर्तमान 'भेद' में ही शक्ति मानना ठीक है। अतद्व्यावृत्ति का शब्दतः अर्थ है—अ + तद् [= संकेतित से अतिरिक्त (का)] व्यावृत्ति (= भेद) = संकेतित से भिन्न पदार्थ मात्र का भेद।

(३) अनुमानः—यह 'प्रमा' का एक साधन है। 'अनुमिति' प्रमा के करण को अनुमान कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने व्याप्तिज्ञान को ही अनुमान कहा है। 'व्याप्ति' दो पदार्थों का 'नियत साहचर्य' है और इसी नियत साहचर्य (व्याप्ति) का ज्ञान हमें अनुमिति में सहायक होता है।

(४) अन्विताभिधानवादः—यह वाद शब्दशक्तियों के विचार से सम्बद्ध है। मीमांसकों में प्रमुख रूप से दो दल हैं—गुरुमत एवं भाट्टमत प्रस्तुत वाद का संबंध गुरुमत से है। ये लोग मानते हैं कि लोक व्यवहार द्वारा किसी पद की शक्ति 'अन्वित पदार्थ' में ही गृहीत होती है, अतः 'अन्वित' का ही अभिधान (अभिधाशक्ति से बोधन) मानना चाहिए। भाट्ट लोगों का यह मानना कि पद की शक्ति केवल निरन्वय पदार्थ में होती है—सर्वथा ठीक नहीं।

(५) अनुपलब्धिः—यह भी मीमांसकों द्वारा आविष्कृत एक प्रमाण ही है। नैयायिक लोग 'अभाव' का प्रत्यक्ष भी चक्षु आदि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही मानते हैं, पर मीमांसक इसका विरोध करते हैं और अभाव का ग्राहक 'अनुपलब्धि' नामक प्रमाण को मानते हैं। अनुपलब्धि का अर्थ है—उपलब्धि का अभाव। जिस पदार्थ की उपलब्धि सम्भव (योग्य) है, उसी के अभाव का ज्ञान इस प्रमाण द्वारा होता है।

(६) अनुभावः—वे चेष्टाएँ हैं, जो 'आश्रय' की आंतरिक मनोवृत्तियों को प्रकाशित करती हैं। 'आश्रय' का अर्थ है, वह चेतन प्राणी, जिसे भावानुभूति हो। ये भाव-प्रकाशक चेष्टाएँ, जिन्हें अनुभाव कहते हैं, चार प्रकार की होती हैं—कायिक, वाचिक, सात्त्विक तथा मानस। सात्त्विक भावों को कुछ लोग अनुभाव से पृथक् कोटि में रखते हैं। मानस अनुभाव वे हैं, जो किसी मूल चित्तवृत्ति के परिणाम स्वरूप उदित हुए हों।

(७) **अनाख्येययवादः**—'ध्वनि' तत्त्व का खण्डन करनेवालों ने जिन विभिन्न मार्गों का आश्रय लिया है, उनमें से एक 'अनाख्येयवाद' भी है। अनाख्येय का अर्थ है—अनिर्वचनीय—जो कहने में न आ सके। इन लोगों की यह धारणा है कि ध्वनितत्त्व ऐसा सूक्ष्मतत्त्व है कि इसकी विशेषताएँ आलोचकों की बुद्धि में स्पष्ट रूप से आ नहीं पातीं, इस लिए वह 'अनाख्येय' है।

(८) अन्तःकरणः—ज्ञान के साधन दो प्रकार के हैं—पहला बाह्य एवं दूसरा आन्तरिक। पहले को बाह्यकरण एवं दूसरे को अंतःकरण कहते हैं। वेदान्त या सांख्य दर्शन की दृष्टि से व्यापारभेदवश इसके चार रूप हो जाते हैं—मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार।

(९) अनन्य लभ्योहि शब्दार्थः—यह एक प्रसिद्ध न्याय है, जिसका उपयोग शब्दार्थ-निर्णय में होता है। शब्द-प्रयोग के अनन्तर जितने प्रकार के अर्थों का निश्चय होता है, वे सब 'शब्दार्थ' ही नहीं कहे जाते, बल्कि अन्य प्रमाण-वेद्य भी कहे जाते हैं। शब्द प्रयोग के अनन्तर ज्ञात भये हुए उसी अर्थ को 'शब्दार्थ' कहते हैं, जो शब्द की शक्तियों से ही प्राप्त हुए हों, अन्य प्रमाण से नहीं। ठीक ही है शब्द का अर्थ अनन्य (शब्द से ही) लभ्य होता है।

(१०) अन्यका सान्निध्यः—शब्दों की व्यञ्जना शक्ति के उद्बोध में जिन विभिन्न सहकारी कारणों की अपेक्षा है, उनमें से एक यह भी है। विदग्ध वक्ता के शब्दों का अभिप्राय व्यक्ति-विशेष के सान्निध्य से कुछ और ही मिलने लगता है।

(११) अभिधाः—यह शब्द की प्रमुख शक्ति है। व्यवहार द्वारा शब्द जिस अर्थ को साक्षात् बताते हैं, ऐसे अर्थों में शब्द की जो शक्ति होती है, उसे अभिधा कहते हैं।

(१२) अनुचितार्थत्वः—यह एक शब्द दोष है। यह दोष ऐसे शब्दों में रहता है, जिससे विवक्षित अर्थ के तिरस्कारक अर्थ की प्रतीति होती है। जैसे—"रणाश्वमेध में पशुओं के समान वीर मारे गए"—यहाँ 'वीर' का उपमान 'पशु' वीरों में कातर्य की भी प्रतीति ध्वनित करता है।

(१३) अनुमितिवादः—इस वाद के प्रवर्तक आचार्य महिमभट्ट हैं, जिन्होंने ध्वनिवाद के विरोध में इस वाद का प्रवर्तन किया। इनकी धारणा है कि अर्थ दो प्रकार के होते हैं—वाच्य एवं अनुमेय। काव्य का सारा चमत्कार अनुमेय अर्थ में ही होता है। जो लोग 'वाच्य' से अतिरिक्त 'लक्ष्य' एवं 'व्यंग्य' अर्थ भी मानते हैं, वे ठीक नहीं हैं। शब्द की तो केवल एक ही शक्ति है—अभिधा। इस शक्ति-वेद्य 'वाच्य' अर्थ से अतिरिक्त जितने भी प्रकार के अर्थ शब्द-प्रयोग के अनंतर मिलें, वे सबके सब अनुमेय होते हैं और इसी चमत्कार पूर्ण अनुमेय अर्थ को काव्य का प्राण बताने से यह वाद 'अनुमितिवाद' कहा जाता है।

(१४) अतिशयोक्तिः—उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण ही 'अतिशय' है और उसकी उक्ति—अतिशयोक्ति। 'अद्भुत एक अनूपम बाग' नामक सूर की रचना में इसके उदाहरणों की भरमार है। उक्त अर्थ को लेकर 'अतिशयोक्ति' एक अलंकार कहा जाता है। इस अर्थ के अतिरिक्त लोक एवं वेद से विलक्षण काव्यानुरूप प्रयोगों के मूल में व्यापक तत्त्व के रूप में भी 'अतिशयोक्ति' का दूसरा स्वरूप लक्षित होता है। अर्थात् जिस लोकोत्तर कथन से काव्यीयशब्दों में एक दीप्ति आ जाती है, वह भी अतिशयोक्ति है।

(१५) अतियथार्थ वादः—अंतश्चेतना वाद एवं मार्क्सवाद के योग

से 'अतियथार्थ वाद' का निर्माण हुआ है। इस वाद का मुख्य लक्ष्य था उक्त दोनों विरोधी वादों का अविरोधी एकीकरण कर साहित्य में प्रयोग करना। इस वाद का प्रचलन १९२४ ई० के लगभग हुआ। असल में यह एक अन्ताराष्ट्रिय आंदोलन था जिसका लक्ष्य था स्वाधीनता एवं सामाजिक न्याय का स्थापन। इसमें मानव को आर्थिक एवं वैयक्तिक शोषण को मुक्त करना ही लक्ष्य माना गया है। बंधन दो ही हैं—अर्थ संबंधी एवं काम तृप्ति संबंधी। केवल 'मैटर' को महत्त्व देने वाला मार्क्सवाद तथा केवल 'माइंड' को महत्त्व देने वाला फ्रायड-निर्धारित अंतश्चेतना वाद दोनों के विरोधों को हटाकर यहाँ संतुलन रखने का प्रयास है।

(१६) अनुव्यवसायः—नैयायिक विद्वान् 'ज्ञान' के फल को अनुव्यवसाय कहते हैं। अथवा प्रथम ज्ञान के फलस्वरूप होनेवाले ज्ञान को अनुव्यवसाय कहा जाता है। प्रथम ज्ञान का पर्याय 'व्यवसाय' भी है और इसी के (अनु) पीछे होने के कारण उस फलीभूत ज्ञान का अनुव्यवसाय कहते हैं। उदाहरणार्थ—"यह घड़ा है" प्रथम ज्ञान, तथा "मैं घड़ा को जानता हूँ" यह दूसरा ज्ञान है। पहले में केवल विषय तथा दूसरे में इसके अतिरिक्त आत्मा तथा ज्ञान भी हैं।

(१७) अनौचित्यः—यह 'औचित्य' का विरोधी तत्त्व है, जिसके कारण काव्य का सर्वस्व नष्ट हो जाता है।

(१८) अगूढ़ः—गुणीभूत व्यंग्य के आठ प्रभेदों में से यह भी एक प्रभेद है। व्यंग्यार्थ जब इतना स्पष्ट हो कि उसे असहृदय लोग भी शीघ्र समझ लें, तब उसे 'अगूढ़' व्यंग्य कहना चाहिए।

(१९) अपरांग्य व्यंग्यः—जो व्यंग्यार्थ अपने से भिन्न वाच्यार्थ या व्यंग्यार्थ की शोभा बढ़ावें, वह अपरांग व्यंग्य कहा जाता है।

(२०) अप्रस्तुत प्रशंसाः—जहाँ अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत अर्थ व्यंग्य किया जाय, वहाँ यह अलंकार होता है। अप्रस्तुत व्यंजक होता है और प्रस्तुत व्यंग्य। इस व्यंग्य एवं व्यंजक में पांच संबंध माने गए हैं—कार्य कारण भाव, कारण कार्यभाव, सामान्य विशेषभाव, विशेष सामान्य भाव तथा सादृश्य। सादृश्य मूलक के भी तीन भेद होते हैं—श्लेस मूलक, समासोक्ति मूलक एवं शुद्ध साम्य। शुद्ध साम्य में भी तीन भेद होते हैं—अनारोप पूर्वक कथन, अंशतः आरोपपूर्वक कथन एवं पूर्णतः आरोपपूर्वक कथन।

(२१) अपौरुषेय वाक्यः—मीमांसक एवं वेदांती लोग 'वेद' को अपौरुषेय कहते हैं। पर दोनों में इतना अंतर अवश्य है कि मीमांसक वेद वाक्यों को अपौरुषेय इसलिए कहते हैं कि वह वेद किसी पुरुष विशेष (ईश्वर) द्वारा प्रणीत नहीं जब कि वेदांती लोग उसकी अपौरुषयेता वेद निर्माण में पुरुष के पौरुष का अभाव बताकर मानते हैं।

(२२) अभिव्यंजनावादः—इटली के वेनेडेट्टो क्रोचे द्वारा आविष्कृत दार्शनिक पीठिका पर आधृत एक साहित्यिक वाद है। सौंदर्य सदैव सापेक्ष होता है अर्थात् ग्रहीता के संस्कार ही वस्तु में सौंदर्य का आधान करते हैं। यही आहित-सौंदर्य-वस्तु जब ग्रहीता के प्रातिभज्ञान को उकसाता है और इस उकसाये हुए प्रातिभ ज्ञान में उस सुन्दर वस्तु का स्पष्ट चित्र जग जाता है, तब उसी चित्र-जागरण को आंतरिक एवं वास्तविक अभिव्यंजना कहते हैं।

(२३) अभिधेयार्थः—शब्द की अभिधा शक्ति से मिलने वाला अर्थ का प्रकार है।

(२४) अभिधामूलध्वनिः—इसका पर्याय है—विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि। यह ध्वनि का एक भेद है। यहां का व्यञ्जक अर्थ अभिधा शक्ति से ही प्राप्त होता है। यदि अभिधा से लब्ध व्यञ्जक अर्थ जब प्रधान रूप से किसी अर्थ की ध्वनित करता है, तब उसी ध्वनित अर्थ को लेकर आभिधामूल ध्वनि का व्यवहार होता है।

(२५) अभिहितान्वयवादः—भाट्टमीमांसक प्राभाकरों से विपरीत केवल पदार्थ-मात्र में शब्द की अभिधा शक्ति मानते हैं। जहां प्राभाकर 'अन्वय सहित पदार्थ' में शब्द की अभिधा मानते हैं वहां भाट्ट 'निरन्वय पदार्थ' में। प्राभाकर 'अन्वय' एवं 'पदार्थ' दोनों को ही अभिधाशक्ति-वेद्य बताते हैं जब कि भाट्ट 'पदार्थ' को ही अभिधालभ्य कहते हैं। इस प्रकार इनके मत में अभिहित (अभिधा से प्राप्त पदार्थमात्र) का (लक्षणा या तात्पर्य वृत्ति से) अन्वय होता है। 'अभिहित' का अन्वय होने के ही कारण इस मत की उक्त संज्ञा पड़ी है।

(२६) अभ्यास—काव्य के कारणों का विचार करते हुए आचार्यों ने 'अभ्यास' का भी नाम लिया है। प्रकाशकार ने लिखा है—"काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यासः"—काव्य निर्माण एवं काव्यालोचन में पटु मनीषी से शिक्षा ग्रहण पूर्वक काव्यनिर्माण का अभ्यास ही 'अभ्यास' है।

(२७) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिः—लक्षणा मूल ध्वनि का एक भेद है। इस प्रभेद में उपादान लक्षणा काम करती है, जिसका फल यह होता है कि वाच्यार्थ अर्थान्तर में संक्रमण कर जाता है और लक्षणा का प्रयोजनांश चमत्कारावह होता है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर इसे उक्त संज्ञा प्रदान की गई है।

(२८) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिः—यह भी लक्षणामूल ध्वनि का ही एक भेद है। यहां लक्षणलक्षणा काम करती है जिसका फल यह होता है कि लक्ष्यार्थ कोटि में वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार रहता है। प्रयोजनांश के चमत्कारकारी होने के कारण इसे ध्वनि संज्ञा भी दी जाती है। सब मिला कर इसे उक्त संज्ञा प्रदान की गई है।

(२९) अर्थशक्तिमूलध्वनिः—यह अभिधा मूलध्वनि का एक प्रभेद है। यहां का व्यञ्जक अर्थ जिन शब्दों से मिलता है उनके पर्यायों का प्रयोग कर देने पर भी ध्वनित अर्थ में कोई क्षति नहीं आती। इस प्रकार ध्वनित अर्थ का शब्द से नहीं, प्रत्युत अर्थ से अन्वयव्यक्तिरेक है और यही कारण है उक्त संज्ञा का।

(३०) अर्थालंकार—अलंकार का एक प्रभेद है। यहाँ जिस प्रकार की चमत्कृति अनुभूत होती है उसकी सत्ता का अन्वय-व्यतिरेक (उन्हीं) अर्थों से होता है, (उन्हीं) शब्दों से नहीं। शब्द चाहे पर्याय के रूप में बदल लिए जायं परंतु जबतक उनका अर्थ सुरक्षित रहेगा तब तक वह चमत्कृति नष्ट नहीं हो सकती।

(३१) अभाववादः—यह वाद ध्वनितत्त्व के विरोधियों से सम्बद्ध है। ये लोग (i) ध्वनि नाम की वस्तु का सर्वथा अभाव कहते हैं और बताते हैं काव्य में चारुता का उत्पादक गुण एवं अलंकार से भिन्न कोई वस्तु नहीं होती। कुछ (ii) लोग तो यह भी कहते हैं कि यदि ध्वनि नाम की कोई वस्तु होती तो पूर्व के सूक्ष्ममति सम्पन्न आचार्यगण अवश्य उसका उल्लेख करते। (iii) कुछ अभाववादी ध्वनि संज्ञा तो मान लेते हैं पर उसका अर्थ किसी चारुता धायक गुण एवं अलंकार को ही बनाते हैं।

(३२) अन्योन्याश्रयः—शास्त्रों में चार प्रकार के दोषों की चर्चा आती है—(i) आत्माश्रय (ii) अन्योन्याश्रय (iii) चक्रक एवं (iv) अनवस्था। इन सभी दोषों का आगमन किसी तत्त्व के निरुपण या सिद्धि में होता है।

(i) किसी भी वस्तु की सिद्धि या स्वरूप-परिचय के लिए प्रयुक्त शब्दों में स्वयं साध्य वस्तु की संज्ञा का भी प्रयोग हो जाय तो वहाँ आत्माश्रय दोष होता है। (ii) अन्योन्याश्रय दोष वहाँ होता है, जहाँ दो वस्तुएं अपने स्वरूप निरूपण में एक दूसरे की अपेक्षा रखती हों अर्थात् जैसे एक ही सिद्धि में दूसरे का ज्ञान अपेक्षित है उसी प्रकार दूसरे की सिद्धि में भी जहाँ पहले का ज्ञान अपेक्षित हो—वहां यह दोष होता है। (iii) चक्रक दोष वहाँ होता है जब दो से अधिक अर्थ अपनी स्वरूप-सिद्धि में परस्पर सापेक्ष हों और (iv) अनवस्था नामक दोष वहां होता है जहां साध्य का अंत ही न मिले। यह दोष कार्य-कारण भाव के प्रसंग में प्रायः होता है। अनवस्था यदि बीज-वृक्ष की भांति प्रामाणिक हो, तो वहां यह दोष नहीं होता।

(३३) अव्युत्पन्न शब्दः— कुछ आचार्य (यास्क आदि) मानते हैं कि सभी शब्द यौगिक अथवा धातुज हैं पर कुछ आचार्य (पाणिनि) यह भी मानते हैं कि सभी शब्द यौगिक या धातुज नहीं हैं। दूसरी कोटि के आचार्यों का विचार है कि शब्द दो प्रकार के हैं—व्युत्पन्न एवं अव्युत्पन्न अर्थात् प्रकृति एवं प्रत्यय के योग से निष्पन्न तथा प्रकृति एवं प्रत्यय के योग से रहित। यही दूसरे प्रकार के शब्द ही अव्युत्पन्न कहे जाते हैं।

(३४) अर्थापत्ति—यह मीमांसकों द्वारा आविष्कृत एक प्रमाण है, जिसको अन्य दार्शनिक 'व्यतिरेक व्याप्ति' के द्वारा गतार्थ कर लेते हैं। उपपाद्य की अवगत अनुपपत्ति से उपपादक की कल्पना ही अर्थापत्ति है। जैसेः—"दिन में भोजन न करने वाला देवदत्त स्थूल है" इस वाक्य से अवगत स्थूलता, भोजनाभाव की परिस्थिति में युक्तियुक्त नहीं लगती अतः उसको सिद्ध करने के लिए रात्रि भोजन की जो कल्पना है वही अर्थापत्ति है। यह शब्द प्रमा एवं प्रमाण दोनों के लिए ही प्रयुक्त होता है। श्रुतार्थापत्ति इसके दो प्रभेद हैं।

अर्थासिद्धांतः—देखिए पृष्ठ १४३

(३५) अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्यः—जो व्यङ्ग्य इतना गूढ़ हो कि सहृदयों को भी विलम्ब से प्रतीत हो, उसे अस्फुट कहते हैं। यह गुणीभूत इसी लिए कहा जाता है कि विलम्ब से होने वाली प्रतीति चमत्कार का गला घोंट डालता है।

(३६) असुंदर—असुंदर व्यङ्ग्य वह है जो सुंदर न हो। भारतीय सौंदर्य आंतर है और आंतर की वस्तु आत्मा है—रस है। अतः सुंदर वही

है जो रसमय हो अथवा रस की प्रतीति कराने में उत्कट हो। कहीं-कहीं व्यङ्ग्यार्थ ऐसा भी मिल जाता है जो वाच्य की अपेक्षा रसप्रत्यायन में कम समर्थ होता है। ऐसे व्यङ्ग्य को असुंदर कहते हैं।

(३७) अखण्डार्थ—यह अद्वैतवेदान्त दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। वेदांत परिभाषा में लिखा है—"संसर्गासङ्गिसम्यग्धी हेतुता या गिराभियम्। उक्ताखण्डार्थता"। अर्थात् अखंडार्थता वाणी का वह धर्म है, जिसके बल पर संसर्ग रहित ज्ञान पैदा हो। क्रिया कारक भावपूर्वक होने वाला ज्ञान सखंड है और इससे निरपेक्ष ज्ञान अखंड है।

(आ)

(३८) आकांक्षाः—इसका उपयोग शाब्दबोध में होता है। कुछ आचार्य आनुपूर्वी एवं आकांक्षा को पर्याय मानते हैं। जिस प्रकार के पद के बिना जिस प्रकार का पद बोध ही न पैदा कर सके, वे दोनों परस्पर साकांक्ष होते हैं और वहीं आकांक्षा का व्यवहार होता है। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि कारक को क्रिया का तथा क्रिया को कारक पदों या पद की आकांक्षा रहती है।

(३९) आनंत्यः—यह एक दोष है, जो किसी भी सिद्धांत का व्याघातक होता है। उदाहरणार्थ, यदि व्यक्ति-व्यक्ति में शब्द की शक्ति मानी जाय तो व्यक्ति के अनंत होने से शक्ति को भी प्रतिव्यक्ति अनंत मानना पड़ेगा और ऐसे अवसर पर 'आनंत्य' नामक दोष होगा और इसी कारण व्यक्ति में शक्ति का स्वीकार अग्राह्य होगा।

(४०) आर्थी व्यंजनाः—अर्थ से अन्वय व्यतिरेक रखने वाली व्यंजना आर्थी-व्यंजना कही जाती है। पंचम परिच्छेद में इसका सविस्तार विचार है।

(४१) आलीक्यूम (Aulicum)—दाँते ने अपनी पुस्तक में काव्य भाषा पर विचार करते हुए लिखा है कि काव्य के लिए कोई Vulgar Tongue होनी चाहिए। इतना अवश्य है कि उसे Illustrious होना चाहिए और ऐसा होने के लिए जिन चार गुणों की आवश्यकता है उनमें से एक Aulicum भी है। इसका अभिप्राय है वकालती भाषा का वैशिष्ट्य।

(४२) आसत्तिः—इसका उपयोग भी शाब्द बोध में ही होता है। आसत्ति का अर्थ है शाब्दबोधोपयोगी पदों का सान्निध्य।

(४३) आनंदांशः—अद्वैत वेदांत की दृष्टि से ब्रह्म के तीन अंश हैं—सदंश, चिदंश एवं आनंदांश।

(४४) आयरनी (Irony)—यह वक्तृत्व का एक प्रकार है। इसके लिये जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है उससे वास्तविक अर्थ तिरोहित रखा जाता है अथवा सुनने में आपाततः विरोध भी लक्षित होता है। प्रायः इसका प्रयोग उपहास अथवा जुगुप्सा के लिये होता है।

(४५) ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव (objective correlative) काव्य जगत् में पश्चिम की यह एक नवीन पद्धति है, जिसकी विशेषता यह है कि मस्तिष्क में आए हुए भावों को सीधे न कहकर उसी के समशील बाह्य-जगत् की कोई वस्तु, घटना या व्यापार के रास्ते व्यक्त करना।

(इ)

(४६) इण्टेंशन (Intention):—'अर्थ के अर्थ' पर विचार करते हुए रिचार्ड्स ने बताया है कि भाषा का संपूर्ण रहस्य sense, fee-liny, Tone एवं Intention के मेल से ज्ञात होता है। Intention का अभिप्राय है लेखक अथवा वक्ता का अभिप्राय। सारांश यह कि वक्ता के मनोवांछित को ठीक से समझने के लिये इतना ही आवश्यक नहीं है कि हम उसके द्वारा प्रयुक्त केवल शब्द राशि को ही देखें, बल्कि यह भी आवश्यक है कि हम उसके हार्दिक अभिप्राय से परिचित हों।

(४७) इल्लस्टर (Illustre):—पूर्वोक्त Illustrious Vulgar tongue के चार गुणों में से एक यह भी है। इसका अर्थ होता है एक प्रा र की दीप्ति।

(४८) उदाहरणः—परार्थानुमान (दूसरों के समझाने के उद्देश्य से किया जाने वाला अनुमान) में उपयोगी पंचावपवात्मक न्याय वाक्य का एक भाग 'उदाहरण' भी है। इसमें 'व्याप्ति' का 'सपक्ष' दिया जाता है—जैसेः—जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ वह्नि होती है, उदाहरणार्थ पाकशाला पकड़ी जा सकती है।

(४९) उद्दीपन विभावः—रस निष्पत्ति में अपेक्षित विभाव के दो भेद होते हैं—आलंबन एवं उद्दीपन। उद्दीपन विभाव जगे हुए भावों को उद्दीप्त करने का यत्न करता है। उदाहरणार्थ, किसी मृत पुत्र को लेकर जगे हुए शोक का उद्दीपन तत्संबद्ध वस्तुएँ अथवा उनकी स्मृति करती है।

(५०) पूर्वोक्त परार्थानुभान में इसका उपयोग होता है। इस प्रसंग में पंचावयवात्मक न्याय वाक्य का एक अंश 'उपनय' है। इसका 'उदाहरण' है—'पर्वत' भी महामानस की तरह है।

(५१) उपाधिः—वैयाकरण जिस अर्थ में शब्द की शक्ति स्वीकार करते हैं, वह व्यक्ति नहीं बल्कि व्यक्ति की उपाधि है। उपाधि से अभिप्राय यहाँ धर्म का है। उपाधि दो प्रकार की होती है—स्वाभाविक एवं याहच्छिक। पहली के दो भेद हैं—प्राणप्रद एवं विशेषाधान हेतु। दूसरी के भी दो भेद होते हैं—गुण एवं क्रिया। इस प्रकार यहाँ उपाधि से अभिप्राय यदृच्छा, जाति, गुण एवं क्रिया का है। उपाधि के और अर्थ भी हैं।

(५२) उपमालंकारः—यह एक अर्थालंकार है। इसके चार अवयव होते हैं—उपमान, उपमेय, वाचक तथा धर्म। ये सब मिलकर उपमा के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। उपमा का स्वरूप 'साहश्य' है, पर प्रकाशकार 'साधर्म्य' को उपमा कहते हैं और विचार करने पर यही युक्तियुक्त पक्ष लगता है।

(५३) उपमानः—यह एक प्रमाण है जिससे उपमिति नामक प्रमा होती है। साहश्य द्वारा जिज्ञास्य वस्तु का बोध कराया जाता है।

(५) ए

(५४) एम्बिग्विटी (Ambiguity):—एम्बिग्विटी से तात्पर्य है काव्य की अस्पष्टताएँ। पुराने दिन ऐसी अस्पष्टताएँ दोष कही जाती थीं, पर आज ये काव्य के गुण-रूप में गृहीत होने लगी हैं। एम्पसन ने तो इसके सात प्रकार बनाए हैं। इनके अनुसार भाषा की कोई भी परिणति, जो गद्य के सामान्य कथन में कुछ सूक्ष्म व्यंजन देता है, एम्बिग्विटी की कोटि में आता है।

(५५) एसोशियेशन ऑव आइडियाज़ (Association of ideas):—इस सिद्धांत में यह माना गया है कि चेतना (ideas) प्रत्ययों की राशि है और ये प्रत्यय परस्पर आवृत्ति (अभ्यास) (Frequency) अचिरता (Recency) तथा सुस्पष्टता (vividness) के नियमों से संबद्ध होते हैं। [विशेष देखें—मनोविज्ञान और व्यंजना शीर्षक विवेचन]। जलोटा साहब इस शब्द का अनुवाद करते हैं—भावानुषंग। एक भाव दूसरे भाव से संबद्ध होते हैं और यह संबंध साहचर्य

(Association) से बनता है। एक भाव के जागते ही साहचर्य संबद्ध संस्कार को खींच लाता है। यह है Association of ideas.

(५६) एसोशियेशन वेल्यू (Association value):—साहचर्य का मूल्य उसके न्यूनाधिक भावों के जागने पर है। जो साहचर्य अधिक भावों को जगाए उसका अधिक महत्त्व है।

ऐ

(५७) ऐतिह्यः—यह पौराणिकों द्वारा आविष्कृत एक प्रमाण है। लोक में कुछ ऐसी परंपरागत बातें या कथा भी प्रमाण मानी जाती हैं, जिनके आद्य प्रवक्ता का कहीं कोई निर्देश या पता नहीं रहता। जैसेः—इस बट में यक्ष निवास करता है—यह परंपरागत श्रुति ऐतिह्य प्रमाण के भीतर है। दूसरे इसे शब्द प्रमाण में ही सिमेट लेते हैं।

क

(५८) कलाः—कला मानवीय अनुभूति का संक्रामक प्रेषण है। कलावाद Art for Art sake का अनुवाद समझिये। १६ वीं शताब्दी में फ्रांस के फ्लावर्ट, अनातोले फ्रांस एवं अन्य फ्रेंच विद्वानों ने इसका स्थापन तथा समर्थन किया है।

(५६) कदंबगोलक न्यायः—नैयायिक मनीषियों का विचार है कि जो ध्वनि वक्ता के मुख से उच्चरित होती है, वह ठीक उसी प्रकार अपने चारो ओर और ध्वनि-लहरियों का प्रसव करती है जिस प्रकार कदंब पुष्प में पराग का प्रस्फुटन चतुर्दिक होता है।

(६०) कल्पनाः—हिंदी में यह शब्द Imaginnion का अनूदित रूप है। इस Imagination शब्द की समय-समय पर बहुत सी व्याख्यायें हुई हैं। जहाँ तक कोष संमत अर्थ की बात है यह वह शक्ति है जो मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार की मूर्तियाँ ढाला करती है—the faculty of forming image in mind. कॉलरिज ने इसे उस मार्मिक एवं असंतुलित गुणों में संतुलन एवं समन्वय के रूप में प्रकट करती है।

[देखिये पृष्ठ १३४]

(६१) काकुः—प्रायः हम बोलने में बहुधा स्वरों का सहज ढंग से उच्चारण करते हैं, पर कभी-कभी उसे विशेष अभिप्राय से विकृत भी कर देते

हैं। यही विकृत स्वर या स्वर की विकृत काकु है, जिसका प्रयोग कुछ विशेष अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये होता है। [पृ० १७४ देखें]

(६२) काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य [देखिए पृ० १७३]:—शब्द का अर्थ जब काकु की सहायता से किसी अन्य अर्थ का आक्षेपक हो जाता है, तो वहाँ का व्यंग्य काकाक्षिप्त कहा जाता है। इस प्रकार के व्यंग्यार्थ की स्थिति यदि उत्तम है तो उसे **काक्वाक्षिप्त ध्वनि**, यदि मध्यम हो तो **गुणीभूत व्यंग्य** और यदि अधम हो तो **काकुवक्रोक्ति** के नाम से पुकारा जाता है।

(६३) कारयित्री:—प्रतिभा के काव्य निर्माण एवं बोध दोनों में अपेक्षित है। निर्माण में उपयोगी प्रतिभा कारयित्री के नाम से पुकारी जाती है। यह भी दो प्रकार की होती है—सहजा एवं व्युत्पाद्या। पहली नैसर्गिक होती है और दूसरी व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के बल पर बनाई जाती है।

(६४) कुब्जशक्तिवाद:—"पदशक्ति पदार्थांशे ज्ञाताऽन्वयांशे वाऽज्ञातोपयुज्यते—इति कुब्ज शक्तिवाद:"—भूषणकार ने इस वाद का यही स्वरूप बताया है। इन लोगों के अनुसार वाक्यार्थ अभिधेय ही है। हाँ, जिस प्रकार कुब्ज व्यक्ति अपने कुछ अवयवों से कार्य करता है और कुछ पंगु अवयवों से कार्य करने में असमर्थ रहता है, ठीक उसी प्रकार वाक्य की अभिधान शक्ति पदार्थांश में ज्ञात होकर क्रियाशील होती है और वाच्यार्थ के अवशिष्ट अन्वयांश में अज्ञात रह कर ही उपयोगिनी बनती है।

(६५) कार्डिनेल (Cardinale)—पूर्वोक्त Illustrious Vulgar Tongue. में वैशिष्ट्य का आधान करनेवाले चार गुणों में से एक यह भी है। इसका अर्थ है—"लोच"।

(६६) क्यूरियल (Curial):—यह भी पूर्वोक्त भाषा के चार गुणों में से एक है। इसका अर्थ होता है—दरबारीपन।

ग

(६७) गुण शब्द का प्रयोग प्रायः तीन अर्थों में होता है—(i) अप्रधान (ii) रस्सी तथा (iii) विशेषाधायक धर्म। प्रस्तुत प्रसंग में 'गुण' शब्द

विशेषाधायक या उत्कर्षाधायक धर्म के ही रूप में लिया गया है। साहित्य शास्त्र में गुण की चर्चा बड़ी पुरानी है और उसके स्वरूप संख्या, आश्रय एवं अस्तित्व तथा अनस्तित्व पर क्रमशः बहुत विचार हुआ है। इसके विषय में परिनिष्ठित मत यह है कि काव्यात्मा रस का धर्म है और संख्या में तीन प्रसाद, माधुर्य तथा ओज है। यद्यपि उत्कर्षाधायक धर्म अलंकार भी है तथापि दोनों का अंतर यह है कि अलंकार काव्य शरीर (शब्दार्थ) का धर्म है और गुण काव्यात्मा का।

(६८) गुणीभूत व्यंग्य:—व्यंजना व्यक्ति से लब्ध अर्थ व्यंग्य है और जब वह अप्रधान या वाच्य समकक्ष होता है, तब उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं। यह अप्रधानता या समकक्षता चमत्कार की दृष्टि से ही मानी गई है।

(६९) गूढ़श्लेष:—यह नाम अप्पय दीक्षित द्वारा आविष्कृत है। और लोग शाब्दी व्यंजना या समासोक्ति आदि स्थलों में जहाँ अप्राकरणिक अर्थ को व्यंग्य मानते हैं, वहाँ अप्पय उसे अभिधेय ही मानते हैं। अप्राकरणिक अर्थ को व्यंग्य मानते हैं, वहाँ अप्पय उसे अभिधेय ही मानते हैं। अप्राकरणिक अर्थ को आकरणिक की अपेक्षा बिलंब से मिलने के कारण इसे ये श्लेष न कहकर गूढ़ श्लेष कहते हैं। कारण यह है कि श्लेष में दोनों अर्थ साथ ही मिल जाते हैं।

(७०) गुरुमत:—मीमांसा दर्शन में कुमारिल के शिष्य प्रभाकर द्वारा प्रचालित मत गुरुमत कहा जाता है।

(७१) चारुता:—लोचनकार अभिनव ने 'चारुता' दो प्रकार की बताई है जहाँ तक शब्द एवं अर्थगत 'चारुता' का संबंध है, वह स्वरूपनिष्ठ एवं संघटनानिष्ठ होने से दो-दो प्रकार की है। शब्दों के स्वरूप से व्यक्त होनेवाली चारुता का कारण शब्दालंकार एवं अर्थ के स्वरूप से व्यक्त होनेवाली चारुता का कारण अर्थालंकार है। इसी प्रकार संघटना से व्यक्त होने वाली चारुता का कारण शब्द गुण एवं अर्थगुण (वामन सम्मत) हैं। इस प्रकार गुण तथा अलंकार से होनेवाली चारुता के अतिरिक्त भी एक विशेष प्रकार की चारुता आनंदवर्द्धन ने भी बताई है। यह 'चारुता' रसमयता या 'रमणीयता' है जो व्यंजक सापेक्ष है और इस चारुत्व को उन्होंने काव्य का मुख्य चारुत्व कहा है—"व्यंजकत्वाश्रय्येव तेषां मुख्यं चारुत्वम्"।

(७२) चित्रकाव्यः—अर्थ की दृष्टि से काव्य के कई स्तर हैं, जिनमें सबसे निकृष्ट स्तर को ही चित्रकाव्य या अधम काव्य कहते हैं। चित्र के समान ही यह भी निष्प्राण (नीरस) होता है। इसके दो भेद हैं—शब्द चित्र एवं अर्थ चित्र।

(७३) च्युत संस्कृतिः—यह एक दुष्ट शब्द या पद है। जो पद व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हो, उसे च्युत संस्कृति कहते हैं।

(७४) छायावादः—'छाया' शब्द के चार अर्थ कोषकार ने बताये हैं—"छाया सूर्यप्रिया कांतिः प्रतिविम्बमनातपः"—सूर्यप्रिया, कांति, प्रतिबिम्ब एवं अनातप। इन चारों में से 'कांति' तथा 'प्रतिबिम्ब' अर्थ को पकड़ कर आचार्य शुक्ल एवं 'प्रसाद' जी ने 'छाया' शब्दार्थ का विचार किया है। ध्वन्यालोक के आधार पर ललनागत लावण्य की भाँति काव्य के आवरण से दीप्त होने वाले अर्थ में प्रसादजी ने 'छाया' देखी है और 'सुंदर' के प्रतिबिंब को शुक्ल जी ने 'छापा' शब्द से बताया है। इस प्रकार आरंभ में इसका संबंध अध्यात्म से रहा, पर बाद में इसका संबंध लोक से भी हो गया। वस्तु के रूप में रहस्यवाद के नाम से अध्यात्म संबद्ध एवं शैली के रूप में छायावाद के नाम से लोकसंबद्ध रहा। लोक में छायावाद का अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाला अप्रस्तुत का कथन।

Judgment जजमेंट—हाब्स बुद्धि की वह शक्ति है, जिसके द्वारा पदार्थों का तुलनात्मक एवं समन्वयात्मक विवेचन किया जाता है तथा इस प्रकार व्यावहारिक निष्कर्ष भी निकाले जाते हैं। इसी अर्थ में लॉक एडीशन प्रभृति मनीषियों ने भी जजमेंट का विचार किया है।

(७५) टोन (Tone):—भाषा के संपूर्ण अर्थ को व्यक्त करने के लिये रिचार्डस ने जिन चार तत्त्वों का निर्देश किया है, उनमें से 'टोन' भी एक है। इसका अर्थ है—श्रोता अथवा पाठक के प्रति लेखक की चेष्टा।

(७६) ड्रामेटिक आयरनी (Dramatic Irony):—आयरनी का यह एक प्रकार है। यह एक विशिष्ट प्रकार का व्यंग्य है, जो परिस्थिति में निहित रहता है। संबद्ध व्यक्ति को वास्तविक परिस्थिति का ज्ञान नहीं रहता, किंतु दूसरे पात्र, पाठक अथवा श्रोता उससे परिचित रहते हैं।

परिस्थिति संबद्ध व्यक्ति अपने मूर्खता अज्ञानवश पूर्ण व्यवहार अथवा वार्तालाप करता है।

ड

(७७) ड्रीम एसोशियेशन (Dream Association)—इसके दो अर्थ हो सकते हैं—(i) स्वप्न-दशा में एक स्वाप्न-अंश साहचर्यवश दूसरे भाव को खींच लाता है। (ii) दूसरा यह कि स्वप्न-याख्याता जाग्रदवस्था में स्वाप्न-अंशों को लेकर Association के सहकार से उसकी व्याख्या करता है।

त

(७८) तमोगुण—सांख्य दर्शन 'प्रकृति' को त्रिगुणात्मक मानता है। तीन गुण ये हैं—सत्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण। तमोगुण गुरुत्व पैदा करता है और यह 'रजोगुण' की 'चल' प्रकृति का निरोधक है। यदि यह गुण न होता तो किसी क्रिया का निरोध ही न हो पाता। आलस्य आदि इसके परिणाम हैं।

(७९) तात्पर्यवृत्ति—साहित्य शास्त्र में 'तात्पर्य' का प्रयोग तीन अर्थों में मिलता है—(१) अनेक पदार्थों के अन्वयांश के उपस्थापक शब्द व्यापार के रूप में (२) मुख्य अर्थ के उपस्थापक शक्ति के रूप में (३) एवं विधेयार्थ—बोध के रूप में 'तात्पर्य' की चर्चा मिलती है। प्रथम अर्थ के आचार्य भाट्टमीमांसक, दूसरे के धनिक-धनञ्जय एवं तीसरे के भी मीमांसक ही बताये जाते हैं।

द

(८०) द्रवत्व—नैयायिकों ने गुणों की संख्या २४ मान रखी है। द्रवत्व भी उन्हीं चौबिसों में एक है। तरल पदार्थ के स्पंदन में यही द्रवत्व कारण है।

ध

(८१) ध्वनि—इस तत्व के उद्भावक आनंदवर्द्धन आचार्य हैं। इन्होंने इस शब्द को 'व्यंजकत्व' के साम्य पर वैयाकरणों से उधार लेकर साहित्य में भी चलाया है। इस शब्द के चार अर्थ हैं—व्यंजक, व्यंग्य, व्यंजन एवं इनकी समष्टि धारण करने वाला काव्य। इन सबों की ध्वनि संज्ञा तभी होती है, जब ये सब प्राधान्य का अनुभव करने लगते हैं।

न

(८२) न्यूएंस—(Nuance) इसका अर्थ है—सूक्ष्म व्यंग्यार्थ ।

(८३) नियत पूर्व वृत्तिता—इसका अर्थ है—नियमतः पूर्व में रहना। कारण के लिये यह एक आवश्यक शर्त है।

(८४) नकेनवाद—यह आधुनिकतम वाद है, जिसका नाम नरेश मेहता, केशरीकुमार एवं नलिनीमोहन के नामों के आद्यक्षर से बना हुआ है।

प

(८५) पद—संस्कृत साहित्य में वैयाकरणों ने 'सुबंत' एवं 'तिङन्त' प्रयोगों को 'पद' कहा है। नैयायिकों ने अर्थदान में 'शक्त' शब्द मात्र को 'पद' कहा है।

(८६) परावाणी—वाणी के चार रूपों—परा, पश्यंती, मध्यमा एवं बैखरी में यह प्रथम रूप है। इसका स्थान मूलाधार है। ब्रह्मस्वरूप यह वाक् स्पंद शून्य एवं बिंदु रूप है। वायु एवं अग्नि-दोनों तत्वों के मेल से सुसंस्कृत होकर इसका व्यक्ती करण होता है। यह इतना सूक्ष्म है कि योगियों के भी सविकल्पकज्ञान का विषय नहीं बन सकती।

(८७) पश्यंती—'परा' के बाद नाभिदेश में वाणी का जो रूप स्थित है, उसे 'पश्यन्ती' कहते हैं। इसे योगी लोग ही विशेष रूप में जान पाते हैं।

(८८) परस्पीक्यूटी—(Perspicuty) अरस्तू ने Style के दो गुणों—पर्स्पीक्यूटी एवं प्रोप्राइटी—की चर्चा की है। परस्पीक्यूटी भारतीय दृष्टि से 'प्रसाद' गुण के समकक्ष वस्तु है।

(८९) परंपरित रूपक—सामान्यतः रूपक के तीन भेद हैं—१ निरंग २—सांग ३—परंपरित। सांग एवं परंपरित में अनेक संबद्ध रूपकों का विधान रहता है, फिर भी अंतर यह है कि सांग रूपक के उपमान एवं उपमेय कवि परंपरा में प्रसिद्ध तथा परंपरित रूपक में कवि कल्पित होते हैं।

(९०)—पर्यायोक्त—यह भी एक अलंकार है। इसमें अभिप्रेत अर्थ बड़ी भंगी के साथ व्यक्त किया जाता है। यद्यपि वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ कहते एक ही अर्थ को हैं, परंतु दोनों की कथन-पद्धति भिन्न-भिन्न होती है। दोनों में से वाच्यार्थ की पद्धति बड़ी घुमावदार होती है।

(६१) पौरुषेयवाक्य—अपौरुषेय वेद-वाक्यों की तुलना में तदितर निखिल वाङ्मय को पौरुषेय वाक्य की समष्टि कहा जाता है।

(६२) प्रकरणः—शब्द की व्यंजना शक्ति से निवेदित होने वाले अर्थों को पकड़ने में 'प्रकरण' भी कारण है।

(६३) प्रकृतिवादः—१६ वीं शताब्दी में फ्रांस के कलाकारों ने रोमांटिसिज्म की कल्पना शीलता के विरोध में यथार्थ और वास्तविकता की पुकार उठाई और कथा साहित्य के अंतर्गत यथार्थवाद यथातथ्यवाद तथा प्रकृतिवाद की स्थापना की। प्रकृतिवाद मानवता वाद का ठीक विरोधी है। मानवतावादी मनुष्य को पाशविक धरातल से ऊपर उठा ले जाता है, जबकि प्रकृति वाद उसे पशु-सुलभ आकर्षण-विकर्षण के कारणीभूत काम क्रोध आदि मनोरागों का गट्ठर मात्र समझता है।

(६४) प्रगतिवादः—जिस प्रकार दर्शन का अद्वैत जब भावना के क्षेत्र में उतरता है तो रहस्यवाद की सृष्टि होती है, उसी प्रकार जब राजनीति का मार्क्सवाद साहित्य के क्षेत्र में उतरता है, तो प्रगतिवाद की सृष्टि होती है। मार्क्सवाद अध्यात्मवाद का विरोधी दर्शन है इसे द्वंद्वात्मक भौतिकवाद भी कहते हैं। इसके सिद्धांतों को मुख्य मानकर चलने वाला साहित्य अपना लक्ष्य खो देता है।

(६५) प्रत्यभिज्ञाः—हिंदी में इसका पर्याय है—पहचान। इस शब्द के दो तरह के अर्थ मिलते हैं—(i) पुनः पुनः अनुसंधान [प्रत्यभिज्ञेयौ= पुनः पुनरभिसंधेयौ लोचन] एवं (ii) दूसरा अर्थ है प्रत्यक्ष एवं स्मरणात्मक ज्ञान के मेल से उत्पन्न ज्ञान। जब एक ही वस्तु का प्रत्यक्ष भी हो और स्मरण भी, तब प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति होती है।

(६६) प्रत्यक्ष प्रमाणः—यही एक ऐसा प्रमाण या प्रमा-साधन है, जिसके विषय में किसी को विरोध नहीं है। नैयायिक लोग सुख, दुःखादि के साक्षात्कार में मन को तथा बाह्य पदार्थों के प्रत्यक्ष में चक्षुरादि को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। सांख्य लोग विषयेन्द्रिय सन्निकर्ष के अनंतर उद्भूत अंतःकरण की वृत्ति विशेष को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

(६७) प्रतिभाः—साहित्य शास्त्र में प्रतिभा को कभी-कभी शक्ति के पर्याय के रूप में और कभी-कभी शक्ति के कार्य रूप में कहा गया है प्रकाशकार, रसगंगाधरकार आदि दूसरे रूप में ही प्रतिभा को मानते हैं। पंडितराज

ने बताया है—"काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः प्रतिभा"। काव्योपयोगी शब्द एवं अर्थ का स्मृति ही प्रतिभा है। लोचनकार ने कहा है—"अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमाप्रज्ञा प्रतिभा" आदि।

(९८) प्रतिमाः—आजकल Image के अनुवाद के रूप में यह शब्द चलता है जलोंटा साहब Image का अनुवाद 'प्रतिरूप' मानते हैं।

(९९) प्रतिज्ञाः—यह भी पंचावयवात्मक न्याय वाक्य का एक अंश है। इसमें साध्य का स्वरूप निर्दिष्ट होता है, जैसे—"पर्वत अग्निमान् है"।

(१००) प्रतीकः—भारतीय साहित्य शास्त्र के दार्शनिक वाङ्मय में 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग प्रतीकोपासना के प्रसंग में यत्र-तत्र अवश्य मिलता है, पर साहित्यिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं होता। कोष की दृष्टि से इसका अर्थ अवयव, विलोम आदि है। अंग्रेजी साहित्य के संपर्क के बाद symbole के अनुवाद रूप में हिंदी साहित्य में इसका प्रयोग-प्राचुर्य दिखाई पड़ने लगा है। शुक्ल जी ने भावोत्तेजक उपमानों का पर्याय 'प्रतीक' को माना है। मेरा विचार है कि इसे भावोत्तेजक अप्रस्तुत का पर्याय मानना चाहिए। 'उषा' आनंद का उपमान नहीं, पर अप्रस्तुत कही जा सकती है।

(१०१) प्रतीकवादः—इस ठोस एवं दृश्यमान जगत् के पर्दे में एक आध्यात्मिक जगत् है, जो अपेक्षाकृत उससे भी महत्त्वपूर्ण है। आध्यात्मिक जगत् की सूक्ष्म, असीम तथा मूल्यवान् अनुभूतियाँ, जो व्यावहारिक भाषा में व्यक्त नहीं की जा सकतीं, प्रतीकों के द्वारा ही व्यक्त की जा सकती है। वाद के रूप में इसका उद्भव, कहा जाता है कि, यथार्थवाद एवं प्रकृतिवाद के विरोध में हुआ है। आरंभ में यह प्रायः अध्यात्म-क्षेत्र की भाषा थी।

(१०२) प्रभाव-साम्यः—छायावाद युग में जो नव-नव उपमानों का विधान हुआ उसके प्रेरक रूप में निहित रहने वाला तत्त्व 'प्रभाव-साम्य' ही है। ऐसे प्रतीक खोजे जाते थे जो प्रस्तुत के सदृश ही भावना को जगा सकें।

(१०३) प्रयोगवाद—यह एक आधुनिकतम वाद है। वाजपेयी जी के अनुसार इसका परिचय यों है—"उलझी हुई संवेदना की अभिव्यक्ति के लिये अथवा अभेद्य क्षेत्रों में जाने की स्वाभाविक प्रेरणा वश, सीधी तिरछी लकीरों, सीधे या उलटे अक्षरों आदि का उपयोग करते हुए कभी किसी विषय पर सहमत न होने वाले अन्वेषियों की रचना ही प्रयोगवादी रचना है"।

(१०४) प्रयोजनवती लक्षणाः—वाचक शब्दों के बावजूद जो अवाचक (लक्षक) शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वह दो कारणों से (i) परंपरा वश बाध्य होने से (ii) अथवा प्रयोजन विशेष की सिद्धि के लिये। दूसरे कारण से प्रयुक्त अवाचक या लक्षक शब्द की लक्षणा शक्ति ही प्रयोजनवती कही जाती है।

(१०५) प्रातीतिक सत्ता—अद्वैत वेदान्तियों ने विश्व के पदार्थों की सत्ता को तीन भागों में बाँट रखा है—पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातीतिक। पहली सत्ता त्रिकालाबाधित है, दूसरी केवल व्यवहार काल में अबाधित है और तीसरी व्यवहार काल ही में परवर्ती ज्ञान से बाधित है। स्वाप्न पदार्थों या भ्रम-जन्य पदार्थों की सत्ता प्रातीतिक ही कही जाती है।

(१०६) **प्राप्यकारीइन्द्रियः**—वे इन्द्रियाँ प्राप्यकारी कही जाती हैं, जो विषय का सान्निध्य प्राप्त कर ज्ञानोत्पादन में उपयोगी होती हैं। उदाहरणार्थं चक्षु ही है।

(१०७) **प्रोप्राइटी** (Propriety):—अरस्तू ने style के जिन दो गुणों की चर्चा की है, प्रोप्राइटी उनमें से एक है। इसका शाब्दिक अर्थ है—औचित्य।

फ

(१०८) **फैंसी**—(Fancy):—दार्शनिक हाब्स के मतानुसार Fancy कल्पना का वह रूप है, जिसमें उसका विस्तार सीमा रहित होता है, फिर भी Fantacy की अपेक्षा कुछ Reasonable होता है। Fancy प्रत्येक पदार्थ को स्पष्ट कर उसमें चमत्कार का आधान करती है। आगे चलकर तो कांट, हीगल, कालरिज प्रभृति विद्वानों ही ने Fancy के गुणों पर सूक्ष्मतर विवेचन उपस्थित किया है।

(१०९) फीलिंग (Feeling):—यह एक मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्द है। सुख, दुःख आदि वृत्तियों का अनुभव ही Feeling या भावना है।

(११०) फ्रीक्वैंसी (Frequency): Repeated Occurrence of anything किसी वस्तु का बार-बार होना। जिस भाव (Idea)

की कई बार आवृत्ति (Frequency) होती है, उसका संस्कार दृढ़ हो जाता है और वे चेतन मस्तिष्क में शीघ्र आ जाते हैं।

(१११) फैंटेसी (Fantacy):—कल्पना का अत्यंत अनियंत्रित रूप है। परी आदि से संबद्ध शुद्ध कपोल-कल्पना Fantacy की उपज है।

व

वर्बल अयारनी (Verbal Irony):—एक प्रकार का व्यंग्य, जो प्रायः वचन में परिलक्षित होता है।

(११२) **ब्रह्मः**—उपनिषद् का प्रतिपाद्य तत्त्व है। अद्वैत वेदांती इसे निर्गुण तथा द्वैत वेदांती सगुण मानते हैं। अद्वैतवादी ब्रह्म से अतिरिक्त सब कुछ असत्य एवं उसी का विवर्त मानते हैं जब कि द्वैतवादी उससे अतिरिक्त वस्तु को भी सत्य मानते हैं।

(११३) बाधः—किसी वस्तु की भ्रम-वशात् यदि अन्यथा ज्ञान हो जाता है तो परवर्ती वास्तविक ज्ञान से उसका मिट जाना ही बाध है।

(११४) बौद्ध अर्थः—कुछ शब्दों के ऐसे भी अर्थ होते हैं, जिनकी बहिर्जगत् में सत्ता होती नहीं, वे केवल बुद्धि में ही आ सकते हैं। उदाहरण के लिए 'बंध्या पुत्र' शब्द है, इसका अर्थ केवल बुद्धि में ही स्फुरित होता है, बहिर्जगत् में नहीं। सो ऐसे ही अर्थ बौद्ध कहे जाते हैं।

भ

(११५) भक्तिवादः—ध्वनि तत्त्व के पार्थक्य में विश्वास न रखने वाले मनीषी उसकी सत्ता मानने पर भी भक्ति से पृथक् उसका अस्तित्व मानने में हिचकते हैं। 'भक्ति' शब्द का अर्थ है—लक्षणा। इन लोगों का अभिप्राय यह है कि अर्थ दो ही प्रकार के हो सकते हैं—मुख्य एवं अमुख्य। यदि ध्वनि स्वरूप अर्थ मुख्य नहीं तो फिर अमुख्य अवश्य होगा। अमुख्य लक्ष्यार्थ ही तो है। इस प्रकार ध्वनि एवं लक्ष्यार्थ के एक होने से भक्ति एवं ध्वनि (ध्वनन व्यापार) भी एक ही हैं। यही मत भक्तिवाद है।

(११६) **भग्नावरण चिद्**—वेदांतियों की धारणा है कि ब्रह्म प्रकाशक है और जगत् प्रकाश्य। यदि व्यापक प्रकाशक एवं प्रकाश्य को सदा संबद्ध

माना जाय तो निरंतर सभी वस्तुओं का साक्षात्कार होना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं। अतः कल्पना करनी पड़ती है कि जितने विषयों की ओर से ब्रह्म-विषयक आवरण हटा रहता है, उतने का ही प्रत्यक्ष होता है। यह आवरण 'वृत्ति' द्वारा नष्ट होता है। वृत्ति द्वारा आवरण का भंग होने पर ब्रह्म अपने चिदंश में भग्नावरण कहा जाता है।

(११७) भाट्टमत—मीमांसकों में कुमारिल भट्ट का मत भाट्टमत के नाम से पुकारा जाता है। यही मत प्रतिष्ठित मत है।

(११८) भावनाः—साहित्य शास्त्र में 'भावना' शब्द दो अर्थों में मिलता है। (i) पंडितराज ने एक जगह लिखा है—"भावना च पुनः पुनरनुसंधानात्मा"। (ii) दूसरे भट्टनायक ने काव्य की तीन शक्तियों में एक भावना भी मान रक्खी है। यह साधारणीकरण व्यापार के रूप में मानी गई है।

(११९) भावयित्री प्रतिभा—काव्य का मर्म समझनेवाली एवं उसका स्पष्ट उल्लेख करनेवाली प्रतिभा भावयित्री प्रतिभा है।

(१२०) भोगः—भट्टनायक ने भरत के रससूत्र की व्याख्या करते हुए इस शब्द का प्रयोग किया है और प्रकाशकार ने उसका स्वरूप यों बताया है—"सत्त्वोद्रेकप्रकाशानंदमयसंविद्विश्रांतिसतत्त्वेन भोगेन"—अर्थात् काव्य व्यापार का परिणाम यह होता है कि श्रोता का रजोगुण एवं तमोगुण दब जाता है तथा सत्त्वगुण का उद्रेक हो जाता है और उद्रेक के फलस्वरूप आनंदमय संवित् की निष्पत्ति होती है। यही भोग का तत्त्व है।

म

(१२१) मध्यमाः—हृद्देशस्थ वाणी का नाम मध्यमा है। इसी से जो नाद होता है वह स्फोट तत्त्व का व्यंजक होता है—'मध्यमया कृतो नादः स्फोटव्यंजक उच्यते' कहा ही है।

(१२२) माध्यमिकः—बौद्ध दार्शनिकों के चार संप्रदाय हैं—वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार एवं माध्यमिक। माध्यमिक बौद्धों की दूसरी संज्ञा शून्यवादी भी है ये लोग बाह्य जगत्, आंतर विज्ञान सबको असत्य मानते हैं। केवल 'शून्य' ही परम तत्त्व है। (शून्य शब्द की व्याख्या 'शून्य' शीर्षक टिप्पणी में देखिए)।

(१२३) मानवीकरणः—यह एक नया अलंकार है, जिसमें अचेतन पदार्थों को चेतन जैसा वर्णित किया जाता है। बहुत पहले ध्वन्यालोककार ने भी कहा था—"भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचे तनवत्। व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतंत्रतया"।

(१२४) मार्क्सिज्मः—कार्लमार्क्स द्वारा अध्यात्मवाद के विरोध में आविष्कृत एक भौतिक वादी सिद्धांत है। इसके दर्शन पक्ष का नाम है—द्वंद्वात्मक भौतिकवाद। इसी आधार पर मार्क्सवादी समाज व्यवस्था को साम्यवाद कहते हैं। इनके अनुसार सृष्टि का मूल तत्त्व (matter) है, (Spirit) चैतन्यतत्त्व नहीं। जगत् उसी भूततत्त्व का विकसित रूप है।

(१२५) मूर्तद्रव्यः—न्यायशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है। वैशेषिकों ने पृथ्वी, जल, तेज, पवन एवं मन को मूर्तद्रव्य माना है। वैशेषिक शास्त्र के विद्वानों ने बताया है कि मूर्त द्रव्य उन्हें कहना चाहिए, जिनमें अपकृष्ट परिमाण हो। इस लक्षण में अव्याप्ति (परमाणुगत) देखकर पुनः कहा है कि मूर्त द्रव्य वे हैं जो विभु में न रहनेवाले परिमाण से युक्त हों।

य

(१२६) यत्परः शब्दः स शब्दार्थः—यह मीमांसकों का एक प्रामाण्य-निर्द्धारक न्याय है। इस न्याय का अभिप्राय यह है कि जिस (वेद) वाक्य का जिस तात्पर्य से प्रयोग है वही उसका मुख्य अर्थ है। तात्पर्य वाक्य का विधेयांश मात्र में होता है। अर्थात् जो अंश विधेय होता है, उसी में तात्पर्य होता है और जिसमें तात्पर्य होता है उतने ही में वेदवाक्यों का प्रामाण्य समझना चाहिए।

(१२७) यदृच्छा शब्दः—संज्ञा शब्दों को ही यदृच्छा शब्द कहते हैं। असल में वैयाकरणों ने जिन उपाधियों में अभिधा स्वीकार की है, यदृच्छा उनमें से एक है।

(१२८) योगः—पतंजलि का सूत्र है—"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः"—चित्त वृत्तियों का निरोध ही योग है। यों तो 'योग' शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है—समाधि। यह शब्द समाधि अर्थवाले 'युज' धातु से बना है।

(१२९) योगरूढ़ि—वाचक शब्दों का एक प्रकार है। ऐसे शब्दों की योगशक्ति रूढ़ि शक्ति से नियंत्रित होती है।

(१३०) योगाद्रूढिर्बलीयसीः—यह एक न्याय है जिसके द्वारा यह सिद्ध माना जाता है कि योग शक्ति से रूढ़ शक्ति बलवती होती है। उसका कारण यह है कि योगशक्ति विभिन्न अवयवों की अपेक्षा रखनी है और रूढ़ि शक्ति पूरे समुदाय की, अतः प्रथमः को द्वितीय की अपेक्षा विलम्ब स्वाभाविक ही है और यही कारण उसके दुर्बल होने का है।

(१३१) योग्यता—शाब्दबोध में 'योग्यता' का उपयोग होता है। योग्यता का अर्थ है—अनेक पदार्थों के संसर्ग में बाध का अभाव। जैसे सींचने में अग्नि की करणता बाधित है, पर जल की नहीं। अतः 'जल' का 'सींचना' क्रिया से जो संबंध है, वह योग्य है, पर अग्नि से जो संबंध है वह योग्य नहीं है। इस प्रकार जहाँ संबंध में योग्यता होगी, वहाँ शाब्दबोध होगा और अन्यत्र नहीं।

(१३२) योगाचार—बौद्ध दार्शनिकों का एक दल है। ये लोग 'विज्ञान' को ही सत्य मानते हैं। और संपूर्ण बहिर्जगत् को इसी विज्ञान का विवर्त मानते हैं। इस विज्ञान के दो भेद हैं—आलय विज्ञान तथा प्रवृत्ति विज्ञान। अपने मत के समर्थन में ये लोग स्वाप्न-दशा का दृष्टांत देते हैं।

(१३३) यौगिक—वाचक शब्द का एक प्रकार है। ऐसे शब्द प्रकृति एवं प्रत्यय के योग से बनते हैं और अवयव शक्ति से ही अर्थ देते हैं।

(१३४) यौगिकरूढ़िः—वाचक शब्दों का एक प्रकार है। ऐसे शब्दों की अवयव शक्ति एवं रूढ़ि शक्ति अलग अलग अर्थ देती हैं।

र

(१३५) रजोगुणः—'प्रकृति' जिन तीन गुणों की समष्टि है, उनमें से एक यह भी है। इसी गुण के कारण पदार्थ मात्र क्रिया-शक्ति होते हैं।

(१३६) रसः—कोषों में तो 'रस' शब्द के जल आदि अनेक अर्थ हैं, पर साहित्यशास्त्र में काव्यानंद के लिए इसका प्रयोग होता है। इसकी निष्पत्ति विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारी के संयोग से होती है।

(१३७) रसनाः—यह एक व्यापार के रूप में साहित्यदर्पणकार द्वारा कल्पित है। व्यंजना सिद्ध पदार्थ का ही प्रकाशन करती है और रस पहले से सिद्ध नहीं होता अतः उसकी निष्पत्ति के लिए व्यञ्जना से अतिरिक्त 'रसना' नाम के व्यापार की कल्पना की गई है।

(१३८) रसाभास—रस की सामग्री में अनौचित्य की गंध मिलने पर रसाभाव की सृष्टि होती है। अनौचित्य का निर्धारण लोक-व्यवहार करता है।

(१३९) रिसेन्सी (Recency)-(Ideas) भावों को साहचर्य (Association) वश जगाने में भावों की ताजी अनुभूति (Recency) भी सहायक है।

(१३०) रूढ़ि—रूढ़वाचक शब्दों की शक्ति को रूढ़िशक्ति कहते हैं। रूढ़िशक्ति प्रकृति प्रत्यय की अपेक्षा न रखकर पूरे समुदाय का ही अर्थ देती है।

ल

(१४१) लक्षणाः—यह एक शब्द शक्ति है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में विचारकों में परस्पर बड़ा मतभेद है। प्रकाशकार इसको ज्ञानरूप मानते हैं और ऐसा इन्होंने मीमांसकों के 'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणामता' मानकर किया है। रसगंगाधरकार ने उसे 'शक्यसम्बन्ध' रूप माना है और ऐसा नैयायिकों के पदचिह्नों के अनुसरण का फल है। वैयाकरण 'शक्यतावच्छेदकारोप' रूप लक्षणा मानते हैं। इसी प्रकार लक्षणा के उत्थान में जहां प्राचीन लोग मुख्यार्थ सम्बन्ध तथा रूढ़ि या प्रयोजन को कारण मानते हैं वहाँ नव्य केवल बाध तथा रूढ़ि या प्रयोजन को ही।

इसके निरूढ़ा एवं प्रयोजनवती-ये दो आरम्भिक भेद हैं। प्रयोजनवती के सादृश्य सम्बन्ध एवं तदितर संबंध के आधार पर क्रमशः दो उपभेद हो जाते हैं—गौणी तथा शुद्धा। गौणी के भी दो –सारोपा तथा साध्यवसाना– एवं शुद्धा के चार—पूर्वोक्त दो तथा उपादान लक्षणा एवं लक्षण-लक्षणा–भेद हो जाते हैं। [विशेष देखिए लक्षणा विवेचन द्वितीय परिच्छेद]।

(१४२) लाघव—अदृष्ट पदार्थों के विचार में लाघव एवं गौरव का महत्त्व है। लाघव के तीन रूप हैं—(१) शरीर कृत (२) उपस्थिति कृत (३) एवं संबंधकृत। लाघव के ही कारण प्रत्यक्ष में 'अणुद्रव्यभिन्नत्वम्' की जगह 'महत्त्व', उपस्थिति कृत लाघव के कारण रूपोत्पत्ति के प्रति रस प्रागभाव की अपेक्षा रूपप्रागभाव को तथा संबंध कृत लाघव के कारण दण्डत्व की जगह दण्ड को घट के प्रति कारण माना जाता है।

(१४३) लिंगः—श्रौत मन्त्रों का अङ्गाङ्गिभाव-निर्णय करने के लिए इस तत्त्व की कल्पना महर्षि जैमिनी ने की है। शब्दों का अर्थ प्रकाशन सामर्थ्य ही लिङ्ग है।

व

(१४४) व्याप्तिः—यह न्याय शास्त्र का शब्द है और अनुमिति में इसका उपयोग है। दो भावों के नियत साहचर्य को व्याप्ति कहते हैं।

(१४५) वक्रोक्तिः—इस शब्द का साहित्य शास्त्र में तीन अर्थों में प्रयोग मिलता है—(i) पहला प्रयोग अलंकार सामान्य के स्वरूप-निर्माण में अपेक्षित तत्त्व के रूप में—"कोऽलंकारोऽनया विना' कहा ही है। दूसरा प्रयोग एक विशेष अलंकार के रूप में, जहां वक्ता द्वारा भिन्न अभिप्राय से उच्चरित शब्दों की अर्थ योजना श्रोता काकु एवं श्लेष की सहायता से और ही तरह का करता है। तीसरा प्रयोग आत्मवाद के रूप में मिलता है।

(१४६) वस्तुः—ध्वनि के मोटे तौर पर तीन भेद हैं—वस्तुध्वनि, रसध्वनि, तथा अलंकार ध्वनि। रस एवं अलंकार से अतिरिक्त जो कुछ भी ध्वनित हो, वह सब वस्तु ही है।

(१४७)—वाक्यः—विधेय गर्भ सार्थक, साकाङ्क्ष, योग्य एवं सन्निहित पदों की समष्टि ही वाक्य है।

(१४८) व्यक्तिवैचित्र्यवादः—जहां भारतीय आचार्यों ने काव्य में रस को प्रामुख्य देने के कारण तादात्म्य तथा साधारणीकरण पर ध्यान दिया है वहाँ योरुपीय आचार्यों ने काव्य में शील वैचित्र्य या अन्तः प्रकृति वैचित्र्य को प्रधान मानकर व्यक्तिवैचित्र्य-प्रदर्शन पर अधिक बल दिया है।

(१४९) व्याज स्तुतिः—यह एक अलंकार है। यहां कभी वाच्यार्थ निन्दापरक एवं व्यङ्ग्यार्थ स्तवनपरक तथा कभी वाच्यार्थ-स्तवन-परक तथा व्यङ्ग्यार्थ-निन्दा-परक होता है।

(१५०) व्यावहारिक सत्ता—[देखिए—'प्रातीतिक सत्ता']।

(१५१) व्यापार—क्रिया तो अर्थ है ही व्यापार का, एक और भी पारिभाषिक अर्थ हैं और वह यों है—करण से जनित तथा करण के फल का जनक तत्त्व व्यापार है।

(१५२) व्युत्पन्न—प्रकृति एवं प्रत्यय के योग से बने शब्द को व्युत्पन्न कहते हैं।

(१५३) व्युत्पत्ति—काव्यनिर्माण का एक कारण है। लोक, शास्त्र एवं काव्य आदि के समीक्षण से जो ज्ञान होता है, वही व्युत्पत्ति या निपुणता है।

(१५४) व्यंजना—शब्द की एक शक्ति है, जो अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य से विभिन्न है।

(१५५) विकल्पवृत्ति—योग शास्त्र में चित्त की पाँच वृत्तियाँ कही गई हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति। विकल्प इन्हीं में से एक है। शब्द ज्ञान से उत्पन्न होने सत्य वस्तु से शून्य ज्ञान 'विकल्प' है—"शब्द ज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः"।

(१५६) विट् Wit—इसका शाब्दिक अर्थ है—वाग्वैदग्ध्य। विशेष देखिए पृष्ठ संख्या १२८, १२९।

(१५७) विचित्रमार्ग—'रीति' के संबंध में विचार करते हुए कुन्तक ने कवि स्वभाव को महत्व देते हुए तीन मार्गों का निर्देश किया है—सुकुमार मार्ग, विचित्रमार्ग तथा मध्यममार्ग। प्रयत्नपूर्वक रचित अलंकारों से लदा काव्यमार्ग ही विचित्र मार्ग है।

(१५८) विभाव—रसोपयोगी स्थायी भावों को जगाने एवं उद्दीप्त करने वाले कारणों को काव्य में विभाव कहा जाता है।

(१५९) विभावना—एक विरोधमूलक अलंकार है, जिसमें बिना कारण के ही कार्य का होना वर्णित होता है।

(१६०) विरोधाभास—यह भी एक अलंकार है, जिसमें दो विरोधी वस्तुओं को एक ही अधिकरण में वर्णित किया जाता है।

(१६१) विशेषण विपर्यय—एक नवागत अलंकार है, जिसमें अन्य का विशेषण अन्यदीय विशेषण बना दिया जाता है अर्थात् औचित्य की दृष्टि से विशेषण को स्थानान्तरित कर दिया जाता है।

(१६२) विशेषोक्ति—यह भी एक अलंकार है, जिसमें कारण के रहते हुए भी कार्य की अनिष्पत्ति दिखाई जाती है।

(१६३) विवृत्ति—यह एक शक्ति ग्राहक तत्त्व है, जिसका शब्दार्थ है—विवरण ।

(१६४) विषय—जिसके द्वारा ज्ञान का निरूपण हो वह विषय है। दार्शनिक दृष्टि से शब्द, स्पर्श, रस, रूप एवं गंध पाँच विषय हैं ।

(१६५) विज्ञान—योगाचार बौद्ध दार्शनिक जिस तत्त्व को सत्य कहते वही 'विज्ञान' है। विज्ञेय पदार्थ असत्य हैं। विज्ञान प्रतीत्य समुत्पन्न होने के कारण नितान्त सत्य हैं ।

(१६६) वीचीतरंगन्याय—नैयायिकों ने शब्दोपलब्धि के सम्बन्ध में इस न्याय का उपयोग किया है। जिस प्रकार वीची से तरंग उत्तरोत्तर समानस्तर पर उद्भूत होती जाती हैं उसी प्रकार उच्चरित ध्वनि भी ध्वनि लहरियों का प्रसव करती जाती है।

(१६७) वैरवरी—कण्ठ देश में रहने वाली वाणी का नाम वैरवरी है। व्यवहार में स्पष्ट श्रावण प्रत्यक्ष वाणी के इसी रूप का होता है।

श

(१६८) शब्दसाम्य—सादृश्य निष्पादक धर्म के तीन भेदों—गुण, क्रिया, शब्द साम्य—में से यह एक है। उदाहरणार्थः—सकलकल पुर चन्द्रमा की तरह लगता है। यहां पुर एवं चन्द्र का 'सकलकलत्व' शब्दतः ही एक है, अर्थतः भिन्न ही है। ऐसे स्थानों में 'शब्दसाम्य' ही होता है।

(१६९) शब्दप्रमाण—यह भी एक प्रमाण है। आचार्यवान् दार्शनिक सर्वाधिक महत्त्व इसी प्रमाण को देते हैं।

(१७०) 'शक्ति' देखिए प्रथम परिच्छेद का आरम्भ पृष्ठ १

(१७१) शब्दालंकार—शब्द से ही अन्वय-व्यतिरेक रखने वाला अलंकार शब्दालंकार है।

(१७२) श्लेष—यह एक शब्दालंकार है, जहां एक शब्द से अनेक अर्थ मिलते हैं। यहां के नानार्थ वाच्य ही होते हैं। शाब्दी व्यञ्जनास्थल में प्राकरणिक अर्थवाच्य तथा अप्राकरणिक अर्थ व्यङ्ग्य होता है।

(१७३) श्रुति—वेद को श्रुति कहते हैं। यह चार भागों में विभक्त है। चार भाग हैं ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व ।

(१७४) श्रुतिकटुत्व—यह एक दोष है जो शृंगार आदि माधुर्य गुणमय रसों के प्रसंग में कर्णकटु शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न होता है।

(१७५) शून्य—यह माध्यमिक बौद्ध दार्शनिकों का परमतत्त्व है। ब्राह्मण दार्शनिक इसका अर्थ 'कुछ नहीं' करते हैं, पर बौद्ध लोग इसे चतुष्कोटि विनिर्मुक्त एक सत्तावान् पर अनिर्वचनीय तत्त्व बताते हैं।

स

(१७६)—सत्त्वगुण—सांख्य-सम्मत प्रकृति के तीन गुणों में एक है। यह लघु एवं प्रकाशक है और इसका परिणाम सुख है।

(१७७) सब्लिमिटी Sublimity—आचार्य लाञ्जिनस की दृष्टि में काव्य का सर्वस्व "सब्लिमिटी" (औदात्य) ही है। साहित्य में औदात्य पाँच स्रोतों से आता है। [विशेष विवरण देखिए, पृष्ठ १२२-१२३]

(१७८) समाख्या—वे श्रौतमन्त्रों का अंगांगिभाव जिन साधनों से निर्णीत होता है, उनमें से एक यह भी है। इसका अर्थ होता है—योग।

(१७९) संविचि—यह अनुव्यवसाय का पर्याय है, जिसका परिचय पीछे दिया गया है। मीमांसकों के मत से ज्ञान का फल 'प्रकटता' है। 'संविचि' भी ज्ञान का फल ही है, पर वह व्यक्तिनिष्ठ है और 'प्रकटता' वस्तु निष्ठ।

(१८०) संक्रमण सिद्धान्त—यह सिद्धांत कला के सम्बन्ध में टालस्टाय द्वारा आविष्कृत है। इस सिद्धांत में इस तथ्य पर बल दिया गया है कि कला द्वारा कवि अपनी भावनाओं का हृदयान्तर में संक्रमण करता है। [विशेष देखिए—पृष्ठ १४०-१४१]

(१८१) संभव—यह पौराणिकों द्वारा आविष्कृत एक प्रमाण है। इस प्रमाण के द्वारा किसी भी वर्णनीय प्रसंग में संभाव्य सारी बातें सत्य के समान ही लिखी जाती हैं।

(१८२) संस्कार—अनुभूतियाँ अपना स्थूल रूप नष्ट कर देने पर अपना संस्कार अंतःकरण में छोड़ जाती हैं। यह संस्कार कभी कभी अपेक्षात्मक एवं कभी-कभी उपेक्षात्मक अनुभव से जनित होता है।

अपेक्षात्मक अनुभव से जनित संस्कार स्मृति पैदा करने में प्रायः उत्तम होता है।

(१८३) संकेतग्रह—व्यवहार द्वारा किसी शब्द का किसी अर्थ में संकेत गृहीत होता हैं अर्थात् किस शब्द की किस अर्थ में शक्ति है—इसका पता लगता है। प्रायः लोग 'शक्ति' 'संकेत' एवं 'संबंध' को पर्याय मानते हैं, पर यह ठीक नहीं है। असल में वृद्धों का—"यह इस शब्द का वाच्य हैं—यही शब्द प्रयोग ही संकेत है [विशेष, पृष्ठ १६]

(१८४) स्थायी—विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारी से परिपुष्ट होने पर जो भाव रसदशा तक पहुँचते हैं, उन्हें स्थायी भाव कहते हैं। प्रायः ये संख्या में नव माने जाते हैं।

(१८५) समासोक्ति—यह एक अलंकार है। इसमें प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यञ्जना की जाती है।

(१८६) संभोग श्रृंगार—श्रृंगार के दो भेद हैं—संभोग एवं विप्रलम्भ। पहले नायक नायिका परस्पर अनुकूल रह कर अपनी रति वृत्ति को विभिन्न माध्यमों से तुष्ट करते हैं और दूसरे में सकारण रति को अतृप्त रखते हैं।

(१८७) सभंगश्लेष—शब्द श्लेष के दो भेद हैं—सभंग एवं अभंग। सभंग में पदों को तोड़कर अनेक अर्थ निकाले जाते हैं और अभंग में बिना तोड़े ही अनेक अर्थ मिल जाते हैं।

(१८८) संघटना—पदशय्या ही संघटना है। आनंदवर्धन ने इसे तीन प्रकार का कहा है—(i) समासवती (ii) अल्पसमासा (iii) असमासा। संघटना का गुण से संबंध कर अनेकधा विचार किया गया है। कुछ लोग संघटना एवं गुण एक मानते हैं कुछ लोग भिन्न। भिन्न माननेवालों में से भी कुछ एक संघटना को गुण का तथा कुछ लोग गुण को संघटना का आश्रय बताते हैं। वस्तुतः संघटना गुणाश्रित है।

(१८९) साधारणीकरण—यह काव्य या नाट्य की एक प्रक्रिया है, जिस के द्वारा काव्यीयपदार्थ ऐसी अवस्था में ला दिये जाते हैं जो प्रत्येक व्यक्ति के भावों को जगाने में क्षम हो जाते हैं।

(१९०)—साइनेसथीसिया—देखिए पृ० १६०

(१६१)—साइको-एनालिसिस—(Psyco-Analysis) 'मनः समीक्षा' इसका शाब्दिक अर्थ है। इसका क्षेत्र है मानवीय व्यापारों को देखकर उसकी तह में होनेवाले मानस की समीक्षा।

(१६२)—साहश्य एवं साधर्म्य—उपमान एवं उपमेय का समान धर्म साधारण धर्म कहा जाता है और इसी साधारण का उपमान तथा उपमेय से संबंध साधर्म्य है। साधर्म्य एवं साहश्य में प्रयोज्य प्रयोजक भाव संबंध है। नैयायिक लोग तो दोनों को एक ही मानते हैं।

(१६३) सौंदर्य—एक विषयीगत अनुभूति है, जो वस्तु एवं संस्कार के समन्वय से उत्पन्न होता है।

(१६४)—स्फोट वाद—यह वाद वैयाकरणों का एक प्रमुख वाद है। शब्दाद्वैत वादी भर्तहरि का विचार है कि स्फोट रूप शब्द ही एक मात्र सत्य पदार्थ है वह नित्य तथा आकाश के समान व्यावक है। सारा अर्थ जात उसी का विवर्त है। अर्थ की उत्पत्ति का मूल तो यह है ही, उसके ज्ञान का मूल भी यही स्फोट तत्त्व है। अर्थदान की शक्ति इसी स्फोटात्मक शब्द में है—"स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः" नैयायिक श्रूयमाण शब्द को ही अर्थदान में शक्त मानते हैं।

ह

(१६५)—हिप्नोटिज्म (Hypnolism)—इसे सम्मोहन या मोहनिद्रवाद कहते हैं। इस प्रक्रिया में प्रभावित व्यक्ति अनालोचन पूर्वक सब कुछ स्वीकार कर लेता है।

(१६६) हेतु—नैयायिक लोग तीन प्रकार के हेतु या कारण मानते हैं— समवायी, असमवायी तथा निमित्त, परंतु वेदांती लोग केवल दोही कारण हैं—उपादन कारण एवं निमित्त कारण।

ज्ञ

(१६७) ज्ञापक—दूसरी दृष्टि से कारण के दो प्रकार हैं—कारक एवं ज्ञापक कारक कारण वे कहे जाते है, जिनसे किसी वस्तु की उत्पत्ति या(सांख्य दृष्टि से) अभिव्यक्ति होती है। पर ज्ञापक कारण 'सिद्ध' कार्यों या पदार्थों को प्रकाशित मात्र करते हैं। उदाहरणार्थ मिट्टी घड़े का कारक और दीप ज्ञापक कारण है। नैयायिकों का अनुमानोपयोगी हेतु एक प्रकार का ज्ञापक कर रक्खी है।
